CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE-Grant-2

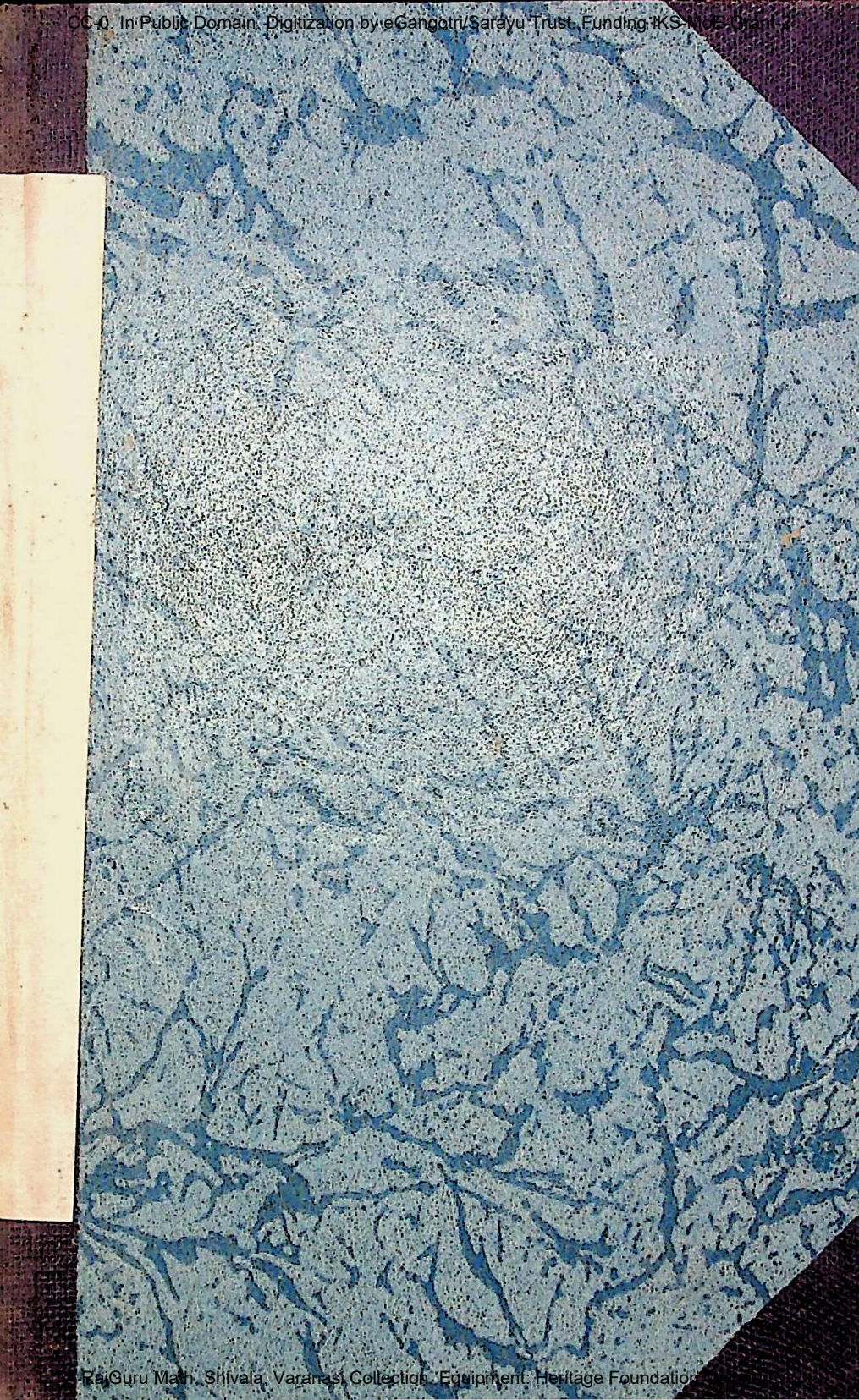

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

S.1

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgac

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श

( हिन्दी )

खण्ड ३ अंक २

मार्च १९८२

संपादक

न्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श ( हिन्दी )

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र पारलिगे ✦ राजेन्द्र प्रसाद ✦ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ☐ रमाकान्त सिनारी ☐ विजय भारद्वाज ☐ शारदा जैन

संगमलाल पांडे ☐ आर्. बालसुब्रमणियन्

अशोक रा. केळकर ✳ के. जे.शहा ✳ नारायणशास्त्री द्राविड ✳ के. सच्चिदानंद मूर्ति ✳ जी. सी. नायक ✳ ग. ना. जोशी ✳ मोहनलाल मेहता ✳ जे. फाईस ✳ सुमन गुप्ता ✳ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ✳ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

| | | |
|---|---|---|
| ( १ ) | संस्थाओं के लिए | रु. १६-०० |
| ( २ ) | व्यक्तियों के लिए | रु. १२-०० |
| ( ३ ) | छात्रों के लिए | रु. ०८-०० |
| | एक प्रति | रु. ०५-०० |

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००

व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# "शुभ" तथा "गुड" : तुलनात्मक अर्थ-विवेचन

सर्वविदित है कि नीतिशास्त्र का मूल प्रतिपाद्य विषय, पाश्चात्य एवं प्राच्य सभी चिंतकों की दृष्टि में, सर्वदा "शुभ" का प्रत्यय एवं उसकी व्याख्या तथा परिभाषा ही रहा है; किन्तु शुभ "शब्द" का प्रयोग विभिन्न भाषाओं में अनेक विभिन्न अर्थों में किया जाता है। आंग्ल भाषा में इसका पर्यायवाची शब्द "गुड" है। मेरा अभिमत है कि जिस तरह "दर्शन" का अर्थ आंग्ल भाषा में प्रचलित एवं प्रायः स्वीकृत उसके पर्यायवाची "फिलॉसोफी" से पूर्णतः प्रगट नहीं होता है, वैसे ही संस्कृत एवं संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में प्रचलित शब्द 'शुभ' के लिए आंग्ल भाषा में प्राप्त 'गुड' शब्द सम्यक् एवं उपयुक्त पर्यायवाची नहीं है। मेरी दृष्टि में, 'गुड' को प्रचलित हिन्दी या हिन्दुस्तानी में प्रयुक्त शब्द 'अच्छा' का अनुवाद तो स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु 'शुभ' का अनुवाद स्वीकार करना अत्यधिक भ्रामक है क्योंकि भारतीय नीति-परंपरा में शुभ को सदैव ही नैतिक संदर्भ में समझाया गया है। प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में क्या हमें आंग्लभाषा में किसी अन्य सम्यक् शब्द की खोज करना चाहिए अथवा आंग्लभाषियों को अन्य किसी पर्यायवाची शब्द के निर्माण के लिए वाध्य करना चाहिए। इस समस्या पर विचार करने पर हमें अन्त में निराशा ही हाथ लगती है क्योंकि कोई समीचीन शब्द उपलब्ध नहीं होता; तथापि प्रबुद्ध पाठकों से मेरा निवेदन है कि इस दिशा में यदि वे कुछ उत्तम सुझाव दे सकें, तो उत्तम होगा। इस शोध-लेख का विवेच्य-विषय 'शुभ' तथा 'गुड' के विभिन्न अर्थों का उद्घाटन है।

सर्वप्रथम ज्ञातव्य है कि 'गुड' न केवल शुभ का अनुपयुक्त पर्यायवाची है, अपितु अनेकार्थक होने के कारण स्वयं आंग्लभाषियों के लिये इसका अर्थ-निर्णय करना सदैव एक समस्या रहा है। हम पाते हैं कि आंग्लभाषा में 'गुड' के कम-से-कम तीन अर्थ हैं –

१) यह 'गुडनैस' अथवा 'शुभत्व' नामक गुण या विशेषता की ओर संकेत करता है। इस अर्थ में यह तब प्रयुक्त होता है जब यह किसी वाक्य में



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



विधेय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जार्ज एडवर्ड मूर अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिया एथिका' में शुभ को इसी अर्थ में नीतिशास्त्रीय अन्वेषण का प्रधान विषय घोषित करते हैं तथा उसे सरलगुण होने के कारण अपरिभाष्येय[१] सिद्ध करते हैं।

२) 'गुड' शब्द का प्रयोग 'वस्तु' अथवा 'माल' के लिये भी होता है अतः यह बहुवचन में भी प्रयुक्त किया जाता है। इस अर्थ में इसका संबंध किसी भी तरह नैतिकता से नहीं है। यहाँ मूर रचित शब्द 'द गुड'[२] की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है; किन्तु तत्क्षण यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मूर के 'द गुड' व सामान्य बोलचाल में प्रयुक्त 'गुड्स्' शब्दों के अर्थों में मूलभूत भेद है। मूर का 'द गुड' से तात्पर्य केवल उन चीजों से है जिनमें शुभत्व नामक नैतिक गुण पाया जाता है व जिन्हें हम शुभ वस्तुयें अथवा नैतिक वस्तुयें संबोधित करते हैं। माल–असबाब से उसका तात्पर्य कदापि नहीं है। हिन्दी में 'शुभ' का बहुवचन में प्रयोग होता ही नहीं है।

३) 'गुड' शब्द का प्रयोग 'वेल्फेयर' के अर्थ में भी किया जाता है। भारतीय नीतिशास्त्र भी शुभ तथा कल्याण अथवा कल्याणकारी में भेद नहीं करता। स्मरणीय है कि भारतीय नीतिशास्त्र शुभ को शुभत्व नामक अपरिभाष्येय विशेषता न मानकर उसे कल्याणकारी से परिभाषित करता है। यही कारण है कि भारतीय नीति-चिंतन वेदों से आज तक आत्म-कल्याण व विश्व-कल्याण पर सर्वदा बल देता रहा है। भारतीय मनीषी इस निष्कर्ष पर किन्हीं पूर्वाग्रहों के कारण नहीं पहुँचे; वरन् शुभ के प्रत्यय को परिभाषित करने की लंबी चिंतन-प्रक्रिया से गुजरने के बाद ही उन्होंने यह सत्य जाना है कि शुभ को केवल कल्याणमय से ही परिभाषित किया जाना चाहिए। शुभ का अर्थ उन्होंने 'नैतिक आदर्श' लिया और इस नैतिक आदर्श को विश्व-कल्याण से समझाने की चेष्टा की। अपरिभाष्येय कहकर उसे सामान्य लोगों तथा समाज के लिये अबूझ पहेली-सा छोड़ देना उन्होंने उचित नहीं समझा। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्तव्यपरायणता के साथ ही उनकी सामाजिक चेतना कितनी जागृत थी। शुभ को अपरिभाष्येय सिद्ध करने की मूर की मौलिक पद्धति व ईमानदार बौद्धिक प्रयास तथाकथित बुद्धिजीवियों के लिये बौद्धिक-विलास तथा महाविद्यालयीन व विश्वविद्यालयीन विद्यार्थियों, शोधार्थियों व शिक्षकों के लिये भले ही कौतुक एवं प्रशंसापूर्ण बौद्धिक व्यायाम का साधन हो सकता है; पर यह सोचना कि इससे हम भारतीय समाज को कोई नैतिक मापदंड प्रदान कर सकते हैं, नितांत भ्रांतिपूर्ण ही नहीं, मूर्खतापूर्ण ही होगा। मूर की पुस्तक के चौथे एवं अंतिम अध्याय– 'नीतिशास्त्र का व्यवहार से संबंध' तथा 'आदर्श'– में स्वयं मूर को विभिन्न नैतिक प्रत्ययों तथा कर्तव्य आदि की व्याख्या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



करते समय जिन कठिनाईयों का सामना करना पड़ा है उससे भी यदि समकालीन भारतीय चिंतक व शिक्षक कोई शिक्षा ग्रहण न कर, यदि नैतिकता के क्षेत्र में पाश्चात्य चिंतन-पद्धतियों के अनुकरणकर्ता मात्र बने रहते हैं तो मौलिक नैतिक चिंतन के श्रम से घबराये इन शिक्षकों से नैतिक मूल्यों के अवमूल्यन को रोकने में समाज को किसी भी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए क्योंकि वह रेत में से तेल प्राप्त करने की कामना के समान होगा।

राइट[3] अपनी पुस्तक 'द वेरायटीज़ ऑफ गुडनैस' में गुड शब्द के विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करते हुए उसके प्रयोगों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जिनमें से एक को वे 'बेनीफिशियल गुड' की संज्ञा देते हैं। यद्यपि उन्होंने इसे उपयोगी या यूज़फुल का ही एक प्रकार स्वीकार किया है, तथापि उसके द्वारा प्रस्तुत कुछ उदाहरणों व उसकी व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि उसका तात्पर्य यहाँ कल्याणकारी से ही है। उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि हम समस्त अच्छी संस्थाओं को देश के लिये व अच्छी आदत को प्रत्येक व्यक्ति के लिये 'अच्छा' मानते हैं। जैसा कि स्वयंसिद्ध है यहाँ 'गुड' से तात्पर्य कल्याणकारी से है। हिंदी में भी 'अच्छा' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में तब होता है जब हम यह कहते हैं कि कल्याणकारी संस्थायें देश के लिये अच्छी होती हैं। 'बेनिफिशियल' का एक हिन्दी पर्यायवाची 'लाभदायी' होता है क्योंकि जैसा कि विदित है उपर्युक्त विशेषण 'बेनीफिट' या 'लाभ' शब्द से बना है। ऐसा प्रतीत होता है कि राइट जब इसे यूजफुल अर्थात् उपयोगी का ही एक उप-प्रकार कहते हैं तब वे कल्याणकारी, उपयोगी तथा लाभदायक को भ्रमित कर देते हैं। जब कि इनमें स्पष्टतः भेद है।

'गुड' के दूसरे प्रयोग को वे 'उपयोगितावादी अच्छाई' (युटीलिटेरियन गुडनैस) कहते हैं। वे अर्थ स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि जब हम किसी योजना अथवा परामर्श को अच्छा कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह किसी उद्देश्य–विशेष के लिये उपयोगी अथवा लाभदायक हैं। हिन्दी में भी 'अच्छा' शब्द इस अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। हम योजना लाभदायी सलाह को अच्छा कहते हैं, पर शुभ नहीं।

राइट के मतानुसार 'केवल उपयोगी' वह है जो 'सामान्यतः' किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अच्छा होता है तथा 'बेनीफिशियल' वह है जो किसी व्यक्ति–विशेष के व्यक्तिगत उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अच्छा होता है। मैं इस वर्णन से असहमत हूँ क्योंकि मेरे मतानुसार स्थिति इससे भिन्न है। हम प्रायः उपयोगी के अर्थ में अच्छा उसे कहते हैं जो सामान्यतः सभी के लिये न होकर, किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्तियोंके लिये कार्य–साधक होता है जैसे 'स्टेथस्कोप' चिकित्सक के लिये उपयोगी होता है, सभी लोगों के लिये नहीं। जबकि लाभदायक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



के अर्थ में 'अच्छा' शब्द का प्रयोग व्यापक क्षेत्र के लिय होता है। उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं कि पौष्टिक आहार लेना अच्छा है अथवा पौष्टिक आहार अच्छा है।

जब कल्याणकारी के अर्थ में अच्छा या गुड शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह सर्वाधिक संख्या के लिये होता है। इसके अन्तर्गत न केवल संपूर्ण राष्ट्र अपितु समस्त विश्व आ जाता है। जब हम किसी योजना को देश के लिये अच्छा कहते हैं तो हमारा बल इस बात पर रहता है कि यह इस या उस व्यक्ति या राज्य के लिये ही अच्छी न होकर, अनेक लोगों की भलाई के लिये, संपूर्ण राष्ट्र की भलाई के लिये अच्छी है। दूसरी ओर जब हम अभियांत्रिकी की किसी पुस्तक को अच्छा कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह इंजीनियर बनने के इच्छुक विद्यार्थी के लिये 'उपयोगी' है, न कि वह उसके लिये 'कल्याणकारी' है। कल्याण व उपयोग में अन्तर है जिसे सदा ध्यान में रखा जाना चाहिए।

राइट का यह मत ठीक है कि 'गुड' शब्द का प्रयोग हम उन चीज़ों के लिये भी करते हैं जो हमें सुख देती हैं। इसे वे 'हेडॉनिक गुड' से संबोधित करते हैं। इसके अन्तर्गत हम सुस्वादु भोजन, मनोनुकूल परिधान व मित्र आदि को सम्मिलित करते हैं जो व्यक्तिगत सुख प्रदान करती हैं। सुखवादी 'शुभ' को इसी अर्थ में परिभाषित करते हैं।

अच्छा या 'गुड' शब्द का प्रयोग हम शारीरिक अंगों की स्थापना तथा मस्तिष्कीय शक्तियों की सामर्थ्य के सन्दर्भ में भी करते हैं। जैसे जब हम यह कहते हैं कि मेरी मित्र की आँखें अथवा दृष्टि अच्छी हैं या 'ब' की स्मरण-शक्ति अच्छी है। राइट इसे 'मेडीकल गुडनैस' की संज्ञा देता है। द्रष्टव्य है कि हम यह कभी नहीं कहते कि आँखें या स्मरण-शक्ति शुभ है।

हम किसी शिक्षक, वैज्ञानिक, बढ़ई, कलाकार आदि को भी अच्छा कहते हैं। जब हम ऐसा कहते हैं तब हमारा संकेत उनके विशिष्ट क्षेत्र में अर्जित उनकी विशेषता या कुशलता की ओर रहता है। इस अर्थ में अच्छा या 'गुड' का प्रयोग हिन्दी व आंग्लभाषा दोनों में अत्यधिक प्रचलित है। राइट इसे 'टैक्नीकल गुडनैस' की संज्ञा देते हैं जिससे प्रायः सभी सहमत होंगें। यहाँ भी हम यह देखते हैं कि 'अच्छा' शब्द की जगह 'शुभ' को स्थानापन्न नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस अर्थ में 'अच्छा' का नैतिकता से कोई संबंध नहीं है। एक अच्छा अथवा अपने व्यवसाय में निपुण डॉक्टर नैतिक दृष्टि से बुरा अथवा हत्यारा हो सकता है।

इतना ही नहीं 'गुड' या 'अच्छा' शब्द का प्रयोग हम मोटर, मकान जैसी वस्तुओं, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि पालतू जानवरों तथा दैनिक प्रयोग में आने-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



वाली वस्तुओं यथा चाकू, हथौड़ा आदि के लिये भी करते हैं। तेज धारवाली चाकू को हम इसलिये अच्छा कहते हैं क्योंकि इससे किसी भी वनस्पति को काटने में सुविधा रहती है। उस कार को हम अच्छा कहते हैं जो बिना बिगड़े अर्थात् हमें परेशानी में डाले बिना अच्छी गति से चलती है। वह कुत्ता हमारी दृष्टि में अच्छा है जो मालिक की व उसके घर की रक्षा पूर्ण सजगता से करता है। इस तरह यहाँ 'गुड' या अच्छा से तात्पर्य साधन के रूप में किसी चीज के अच्छा होने से है। यही कारण है कि राइट इसे 'इन्स्ट्रूमेंटल गुडनैस' अथवा साधन की अच्छाई की श्रेणी में रखते हैं। पर ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि 'साधन के रूप में अच्छा' व 'साधन के रूप में शुभ' में भेद है। शुभ व अशुभ विशेषण नैतिकता व औचित्य अनौचित्य की ओर संकेत करते हैं; जबकि अच्छा व बुरा 'गुड-वैड' शब्दों का प्रयोग अन्य अर्थों में भी संभव है।

जब प्रसिद्ध बुद्धिवादी लाइबनित्ज तीन विभिन्न प्रकार के शुभ को परिभाषित करते हैं तब उन्हें भी इस शब्द की अनेकार्थता के कारण इसकी सम्यक् व्याख्या में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उनके अनुसार 'पूर्णता' तत्त्वमीमाँसीय शुभ है; जबकि 'सुख' भौतिक शुभ है, तथा सद्गुणप्रसूत कर्म नैतिक शुभ है। यहाँ शुभ से उसका अर्थ 'आदर्श' से है। इस तरह नैतिक आदर्श या शुभ को उन्होंने सद्गुणजन्य कर्म से परिभाषित किया है। यहाँ हम 'गुड' के एक और अर्थ–आदर्श से परिचित होते हैं। तथा 'आदर्श' के स्वरूप को जब हम समझने का प्रयास करते हैं, तो 'सर्वोच्चता' के साथ 'अभीष्ट होने' की उसकी विशेषता को जानते हैं। दूसरे शब्दों में, 'आदर्श' हम उसे कहते हैं जो अंतिम अर्थात् सर्वोच्च उद्देश्य हो तथा इसी कारण जिसे 'अभीष्ट' स्वीकार किया गया हो। दूसरे स्थान पर लाइबनित्ज यह कहते हैं कि शुभ या गुड वह है जो सुख उत्पन्न करे और फिर वे सुख को पूर्णता की ओर हुई वृद्धि के प्रत्यक्षीकरण से परिभाषित करते हैं; जबकि दूसरे स्थान पर वे यह भी कहते हैं कि सुख (हैपीनैस) आदर्श है और नैतिक सिद्धांत साधन मात्र हैं। इस तरह अंत में, उनके मतानुसार तत्त्व-मीमांसीय व भौतिक शुभ में कोई भेद ही नहीं रह जाता और नैतिक शुभ मात्र साधन बनकर रह जाता है। मेरे मतानुसार, उनकी व्याख्या में आयी इस असंगति का मूल कारण 'हैपीनैस' (मानसिक सुख) व 'प्लेजर' (भौतिक सुख) को भ्रमित करने के अतिरिक्त 'गुड' शब्द का अनेकार्थक होना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'गुड' शब्द अनेकार्थक है व दैनिक बोलचाल की भाषा में नैतिक अर्थ के अतिरिक्त भी इसका अन्य अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। अतः नीतिशास्त्र के क्षेत्र में इसका प्रयोग हमें अत्यधिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



सतर्कतापूर्वक करना चाहिए। द्वितीय, 'गुड' का पर्यायवाची हिन्दी में सदैव 'शुभ' शब्द नहीं होता। हिन्दी में 'शुभ' का प्रयोग सदैव नैतिक अर्थात् कल्याण-कारी के सन्दर्भ में किया जाता रहा है। 'गुड' के नैतिक अर्थ को छोड़ दिया जाये तो हिन्दी भाषा में इसका सर्वाधिक उपयुक्त पर्यायवाची शब्द 'अच्छा' है।

– छाया राय

वरिष्ठ व्याख्याता,
दर्शनशास्त्र विभाग,
केलाबार विश्वविद्यालय
केलाबार, नाइजीरिया.

## टिप्पणियां

१ ) जी. ई मूर; प्रिंसिपिया एथिका, पृष्ठ संख्या ६.

२ ) तत्रैवः पृष्ठ सं. ८.

३ ) जार्ज हेन्रिक फॉन राइट; द वेरायटीज़ ऑफ गुडनैस.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# औपनिषद् परम्परा में योग

भारतीय साधना के प्रत्येक क्षेत्र में योग का स्थान सर्वोच्च है। योग का सम्बल लिए बिना कोई भी साधना साध्य-प्राप्ति की हेतु नहीं हो सकती। अनादि अविद्या के प्रभाव से मनुष्य का चित्त स्वभावतः ही बहिर्मुख है। चित्त को अंतर्मुख करने के लिए जो सक्रिय प्रयत्न है वही योग का प्राथमिक रूप है। कर्म के मार्ग से हो, चाहे ज्ञान के मार्ग से हो, भक्ति के मार्ग से हो अथवा अन्य किसी उपाय से हो चित्त की एकाग्रता का सम्पादन आवश्यक है। जब तक वह नहीं होता तब तक सफलता की आशा दुराशामात्र हैं।

भारत वर्ष में योग का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। ज्ञान का जीवन से सीधा सम्बन्ध होने के कारण हर क्षेत्र में क्रियात्मक विज्ञान की आवश्यकता रही है। लक्ष्य को क्रियात्मक रूप देना सभी ने आवश्यक समझा है। इन लक्ष्य तक पहुँचने के मार्गों को ही योग कहा जाता है। अतः भारत वर्ष में कोई भी शास्त्र योग के बिना पूर्ण नहीं माना गया है। वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा दर्शनों (आस्तिक तथा नास्तिक) में योग का उल्लेख पाया जाता है।

प्रायः सभी उपनिषदों में किसी न किसी रूप में योग का निरूपण किया गया है तथा उसकी प्रधानता स्वीकार की गई है। योग को ज्ञान और परा-भक्ति के सदृश ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन माना गया है। कठोपनिषद् में इंद्रियों की स्थिर धारणा को योग कहा गया है।[1] इस उपनिषद् में नचिकेता को यमराज ने अमरत्व प्राप्त करने का उपाय योग ही बताया है।[2] बृहदारण्यक उपनिषद् में निदिध्यासन द्वारा आत्मदर्शन करने की बात कही गयी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद् में भी योग का महत्व प्रख्यापित किया गया है। इसके साथ ही कुछ उपनिषद् ऐसे हैं जिन में प्रधानतया केवल योग का ही वर्णन है। ये संख्या में इक्कीस हैं– १) अद्वयतारकोपनिषद् (२) अमृतनादोपनिषद् (३) अमृतबिन्दूपनिषद् (४) मुक्तिकोपनिषद् (५) तेजोबिन्दूपनिषद् (६) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (७) दर्शनोपनिषद् (८) ध्यानबिन्दूपनिषद् (९) नादबिन्दूपनिषद् (१०) पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् (११) ब्रह्मविद्योपनिषद् (१२) मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१३) महावाक्यो-



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



पनिषद् (१४) योगकुण्डल्युपनिषद् (१५) वराहोपनिषद् (१६) योगचुडामण्युपनिषद् (१७) योगतत्त्वोपनिषद् (१८) योगशिखोपनिषद् (१९) शाण्डिल्योपनिषद् (२०) हंसोपनिषद् और (२१) योगराजोपनिषद् ।

इन सभी उपनिषदों में चित्र, चक्र, नाड़ी, कुण्डलिनी इन्द्रियों आदि का एवं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग, ब्रह्मध्यानयोग, प्रणवोपासना और ज्ञानयोग का विस्तृत वर्णन है ।

योग उपनिषदों में योग के प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है । त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में योग के ज्ञानयोग तथा कर्मयोग द्विविध भेद स्वीकार किये गये हैं[३] । वराहोपनिषद् में लय, मन्त्र तथा हठ योग के भेद से योग को त्रिविध कहा गया है[४] । योगशिखोपनिषद् में मन्त्र, लय, हठ तथा राजयोग को योग की चार भूमिकायें बताया गया है और इनके एकत्व को महायोग कहा गया है[५] । नादबिन्दूपनिषद् में हंसयोग का उल्लेख है[६] । हंसविद्या द्वारा जरामरणादि से मुक्ति[७] और ईश्वरत्व की प्राप्ति[८] होने का प्रतिपादन ब्रह्मविद्योपनिषद् में विस्तार से किया गया है । हंसविद्या के निरूपण की दृष्टि से नादबिन्दु, ध्यानबिन्दु, योगचूडामणि एवं हंस आदि उपनिषद् महत्वपूर्ण हैं । योगशिखोपनिषद् में सुषुम्नाध्यानयोग का निरूपण करते हुए उसकी प्रशस्ति की गयी है[९] । वराहोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के मन्त्रभाग में योगाभ्यास[१०] और सांख्य योगसमाधि[११] का उल्लेख तथा पंचम अध्याय में योगाभ्यास विधि[१२] का विस्तृत विवरण मिलता है । वहीं बन्धमय की सिद्धि के सम्पुटयोग[१३] का निरूपण[१४] करते हुए ब्रह्म, एवं रुद्र ग्रन्थियों के भेदक वेधकत्रययोग[१५] का प्रतिपादन किया गया है[१६] । कृष्णयजुर्वेदीय ब्रह्मविद्योपनिषद् में प्रणवहंसानुसन्धानात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान के निरूपण के प्रसंग में नमस्कारयोग[१७] का उल्लेख है और अथर्ववेदीय बृहज्जाबालोपनिषद् के तृतीय ब्राह्मण में मुसुण्ड के पूछने पर कालाग्निरुद्र द्वारा दिये गये विभूतियोग[१८] के उपदेश का विवरण मिलता है ।[१९] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् एवं अद्वयतारक उपनिषद् में तारकयोग का निरूपण मिलता है ।[२०]

योग का अंतिम लक्ष्य पुरुष अर्थात् आत्मा को स्वरूपावस्थिति प्रदान करना है और स्वरूपावस्थिति प्राप्त करने के लिए चित्त की समस्त वृत्तियों का पूर्णरूप से निरोध होना चाहिए । योग में चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध के लिए मार्ग का निर्देश किया जाता है जिसे योगांग कहा जाता है । प्रायः भारतीय दर्शन में पातंजलयोग के आठ अंगों का उल्लेख मिलता है । उपनिषदों में भी इन्ही योगांगों को स्वीकार किया गया है किन्तु तेजोबिन्दूपनिषद् में पंद्रह योगांगों, योगशिखोपनिषद् में बीस योगांगों तथा कुछ उपनिषदों में योग के षडङ्गों का उल्लेख मिलता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है। प्राचीनकाल में षडङ्ग योग का साधन भी बहुत व्यापक रूप से प्रचलित था। भाष्यकार आचार्य भास्कर ने अपने गीताभाष्य में षडङ्गयोग का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित था। यह षडङ्गयोग लोकोत्तर सिद्धि का असाधारण कारण माना जाता था। तान्त्रिक और बौद्धयोगी भी प्रकारान्तर से षडङ्गयोग का ही अनुकरण करते थे और यह मानते थे कि यही सम्यक् अथवा निरावरण प्रकाश का कारण है। समाजोत्तर नामक ग्रन्थ में इन ६ योगांगो का निर्देश इस प्रकार मिलता है –

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथधारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ।।

अमृतनादोपनिषद्, मैत्रायण्युपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद् और योगचूडामण्युपनिषद् में षडङ्ग योग का वर्णन मिलता है। अमृतनादोपनिषद् (१–६) मैत्रायण्युपनिषद् (६–१७) में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि–इन ६ अंगों का उल्लेख मिलता है। किन्तु ध्यानबिन्दूपनिषद् (४१) तथा योगचूडामण्युपनिषद् में आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि इन छः अंगों का वर्णन मिलता है। दर्शनोपनिषद् (१–४) मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१।२–१०) योगतत्त्वोपनिषद् (१/४) वराहोपनिषद् (५/११) और शाण्डिल्योपनिषद् (१) में योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि– इन आठ अंगों का उल्लेख है। योगतत्त्वोपनिषद् में प्राणायाम के स्थान पर प्राणसंयम शब्द मिलता है। तेजोविन्दूपनिषद् (१/१५–१६) में यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान तथा समाधि–ये पन्द्रह योगांग बताये गये हैं।

उपनिषद् साहित्य में इन योगांगों के अवान्तर भेदों का भी उल्लेख है जो पातंजल योग में बताये गये भेदों से किञ्चित साम्य और वैषम्य दोनों रखते हैं। तेजोविन्दूपनिषद् में प्रतिपादित पंचदशांगयोग तथा योगतत्त्व, वराह, दर्शन, शाण्डिल्य, त्रिशिखिब्राह्मण एवं मण्डलब्राह्मण उपनिषदों में निरूपित अष्टांगयोग के प्रथम अंग यम की परिभाषा देते हुए त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि विद्वान् लोग देह और इंद्रियों में वैराग्य को यम कहते हैं[२१]। तेजोबिन्दूपनिषद् के अनुसार सर्व 'ब्रह्म' का ज्ञान हो जाने से होनेवाला इन्द्रियसमूह का संयम ही यम कहलाता है[२२]। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में यम के चार प्रकार का उल्लेख है– (१) शीत, उष्ण, आहार तथा निद्रा पर विजय (२) सर्वदा शान्ति (३) निश्चलत्व तथा (४) विषय और इन्द्रियों का निग्रह। वराहोपनिषद् (५।१२) शाण्डिल्योपनिषद् (४) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (३२), दर्शनोपनिषद् (१/६) में अहिंसा, सत्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच–इन दस प्रकार के यम का उल्लेख है। यम के इन विवरणों में अपरिग्रह को स्थान नहीं दिया गया है और शौच– जिसे पातंजल योग में नियम माना गया है–– का समावेश कर लिया गया है।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ( १ ) में नियम के नौ प्रकार बताये गये हैं–गुरुभक्ति, सत्यमार्ग में अनुरक्ति, सुखागतवस्तु अनुभव और उस वस्तु के अनुभव से तुष्टि, एकान्तवास, मनोनिवृत्ति, फल में अभिलाषा तथा वैराग्य। वराहोपनिषद् ( ५।१३-१४ ), शाण्डिल्योपनिषद् ( ? ), दर्शनोपनिषद् ( २।१ ) तथा त्रिशिखि-ब्राह्मणोपनिषद् ( ३३ ) में नियम दस प्रकार के बताये गये हैं–तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप तथा व्रत। त्रिशिखि-ब्राह्मणोपनिषद् में ईश्वरपूजन के स्थान पर ' हरि का आराधन ' तथा सिद्धान्तश्रवण के स्थान पर ' वेदान्तश्रवण ' शब्द मिलता है जो पाठभेद है। योगतत्त्वोपनिषद् में यमों तथा नियमों का विशेष विवरण नहीं मिलता, यहाँ अहिंसा को नियमों में सर्वप्रमुख कहा गया है।

आसन को पंचदशांग योग में सातवां तथा अष्टांग योग में तीसरा अंग माना गया है। ध्यानबिन्दु एवं योगचूडामणि उपनिषदों में यम और नियम को आध्यात्मिक साधना की आधारशिला होने के कारण पूर्वगृहीत मानकर उनका स्वतंत्र योगांग के रूप में उल्लेख न कर षडंगयोग का प्रतिपादन करते हुए आसन को प्रथम योगांग बताया गया है। अमृतनादोपनिषद् में यमनियम की ही भाँति आसन को योगसाधना के लिए आवश्यक मानने के कारण उसका स्वतंत्र योगांग के रूप में उल्लेख न करते हुए भी पद्म, स्वस्तिक या भद्रासन में बैठकर षडंग योग की साधना करने का प्रतिपादन किया गया है। ध्यानबिन्दूपनिषद् ( ४२ ) तथा योगतत्त्वोपनिषद् ( २६ ) में आसन के चार प्रकार–सिद्ध, भद्र, सिंह तथा पद्म का उल्लेख है। शाण्डिल्योपनिषद् ( तृतीय खण्ड ) में आठ प्रकार के आसन बताये गये हैं। यहाँ पर योगतत्त्वोपनिषद् में प्रतिपादित सिद्ध का उल्लेख नहीं है तथा इन तीन के अतिरिक्त स्वस्तिक, गोमुख, वीर, मुक्त तथा मयूर--इन पाँच प्रकारों का उल्लेख है। दर्शनोपनिषद् ( तृतीय खण्ड ) में नौ प्रकार के आसनों का वर्णन है। उक्त आठ प्रकारों में ही सुखासन को जोड़ दिया गया है। वराहोपनिषद् ( ५।१५–१६ ) में आसन ग्यारह प्रकार के बताये गये हैं। इस उपनिषद् में दर्शनोपनिषद् में उल्लिखित सुखासन का समावेश नहीं किया गया है। शाण्डिल्योपनिषद् वर्णित आठ प्रकारों के अतिरिक्त चक्र, कूर्म तथा कुक्कुटासन का समावेश मिलता है। वराहोपनिषद् ( ५।१५–१७ ) में चक्र, पद्म, कूर्म, मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह, मुक्त तथा गोमुख नाम के ग्यारह आसनों को योगिजनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



द्वारा स्वीकृत बताते हुए चक्रासन का स्वरूप निरूपित किया गया है। त्रिशिखि-ब्राह्मणोपनिषद् ( २।३५-५२ ) में स्वस्तिक, गोमुख, वीर योग, पद्म, बद्धपद्म, कुक्कुट, उत्तानकूर्म, धनु, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर, मत्स्य, सिद्ध, पश्चिमतान और सुख इन सत्रह आसनों की परिभाषा मिलती है। ध्यानबिन्दूपनिषद् ( ४२ ) में आसनों को जितनी जीवजातियाँ हैं उतने ही ( अर्थात् असंख्य ) होने और उनके महेश्वर को ही ज्ञात होने की बात कही गयी है। 'आसनेन सर्जं हन्ति' कहकर योगचडामण्युपनिषद् ( १०९ ) में आसनसिद्धि को रोगों को दूर करने में साधक माना गया है।

प्राणायाम को पंचादशांगयोग के प्रतिपादक तेजोबिन्दूपनिषद् में चतुर्थ और षडंग योग के प्रतिपादक उपनिषदों में दो में द्वितीय तथा तीसरे में तृतीय योगांग माना गया है। शाण्डिल्योपनिषद् ( ६।१ ), मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ( १।५ ) तथा वराहोपनिषद् ( ५।१८ ) में प्राणायाम को पूरक, कुम्भक तथा रेचक के भेद से त्रिविध स्वीकार किया गया है। साधारणतया वाह्य वायु का शरीर में आपूरण पूरक, शरीर में वायु को–भरे घड़े में जल की भाँति–धारण करना कुम्भक एवं अन्तःस्थ वायु का विरेचन रेचक कहा गया है[२३]। किन्तु तेजोबिन्दूपनिषद् में ब्रह्म-ज्ञान की दृष्टि से इनकी व्याख्या करते हुए बताया गया है कि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार की वृत्ति पूरक है, इस वृत्ति की स्थिरता कुम्भक है और प्रपंच का निषेध रेचक हैं[२४]। वराहोपनिषद् में कहा गया है कि बहिःस्थ सारे विषय रेचक हैं, शास्त्रों से उपलब्ध बोध पूरक है और स्वरूपानुसन्धान या स्वानुभव कुम्भक है[२५]। ध्यानबिन्दूपनिषद् में पूरक, कुम्भक एवं रेचक को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र कहा गया है। योगकुण्डल्युपनिषद् ( १।१९ ) में कुम्भक को दो प्रकार का कहा गया है– ( १ ) केवल कुम्भक (२) सहितकुम्भक। सहित कुम्भक को पुनः चार प्रकार का बताया गया है– (१) सूर्य कुम्भक ( २ ) उज्जायी कुम्भक ( ३ ) शीतल कुम्भक ( ४ ) भस्त्री कुम्भक। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। केवल कुम्भक की सिद्धि हो जाने पर साधक के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता[२७]। शाण्डिल्योप-निषद् के अनुसार केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। दर्शनोपनिषद् ( ६।१६–२० ) में प्राणायाम से चित्तशुद्धि एवं पापनाशपूर्वक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि प्राणायाम के अभ्यासी के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्रत्याहार को षडांगयोग के प्रतिपादक अमृतनादोपनिषद् ( ६ ) में प्रथम, ध्यानबिन्दु ( ४१ ) एवं योगचूडामणि ( २ ) उपनिषदों में तृतीय, अष्टांगयोग में चम एवं पंचदशांग योग में बारहवाँ योगांग माना गया है। इसका स्वरूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



त्रिशिखिब्राह्मण एवं मण्डलब्राह्मण उपनिषदों में चित्र या मन का विषयों से आहरणपूर्वक अन्तर्मुखीभाव [२८] या निरोध [२९] बताया गया है। दर्शनोपनिषद् में में मरणपर्यन्त किये जाने वाले सारे शुद्ध अशुद्ध कर्मों को ब्रह्मार्पित कर देने अथवा नित्य एवं काम्य कर्मों को ब्रह्माराधन बुद्धि से करने को भी प्रत्याहार कहा गया है। शाण्डिल्योपनिषद् ( ८।१–२ ), दर्शनोपनिषद् ( ७।२–८ ) में पाँच प्रकार का प्रत्याहार बताया गया है। पहले प्रकार का प्रत्याहार ज्ञानेन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने वाली स्वाभाविक प्रवृत्ति को शक्तिपूर्वक रोकना है। दूसरे प्रकार का प्रत्याहार मन के पूर्ण नियंत्रण के साथ समस्त दृश्य जगत् में ब्रह्म के ही दर्शन करना या उनको आत्मरूप समझना है। तीसरे प्रकार का प्रत्याहार समस्त दैनिक कर्मों के फलों का त्याग या समस्त जीवन कर्मों को ब्रह्मार्पित करना है। चौथे प्रकार का प्रत्याहार समस्त इन्द्रिय-सुखों से मुख मोड़ना है। पाँचवे प्रकार का प्रत्याहार पाद, अंगुष्ठ, गुल्फ, जंघा, जानु ( घुटना ) उपायु, मेढ्र, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालू, नासा, असि, पैर, भ्रू-मध्य, ललाट मूर्धा–इन अठारह मर्मस्थानों पर प्राणवायु का एक निश्चित क्रम से आरोहण, अवरोहण करना है। दर्शनोपनिषद् ( ७।९–१० ) में प्रत्याहार का फल बताते हुए उसे सारे पापों का नाशक एवं भवरोग का निवर्तक कहा गया है।

पंचदशांग योग के तेरहवें, अष्टांगयोग के छठे एवं षडंग योग के चौथे अंग के रूप में स्वीकृत धारणा का निरूपण विभिन्न उपनिषदों में विविध रूप में मिलता है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ( २।३१ ) में इसका स्वरूप चित्त का निश्चलीभाव बताया गया है और शरीरगत पंचभूतों में मनोधारणरूप धारणा को भवसागर के पार करानेवाली नौका कहा गया हैं। अमृतनादोपनिषद् के अनुसार संकल्पपूर्ण मन को आत्मा में लीन करके परमात्म चिन्तन में लगाना धारणा है। [३०] योगतत्त्वोपनिषद् ( ६८–७२ ) के अनुसार पंचज्ञानेन्द्रियों के द्वारा योगी जो कुछ देखता, सुनता, सूंघता, चखता तथा स्पर्श करता है, उन सबमें आत्म-विचार करना धारणा है। दर्शनोपनिषद् ( ८।१।३ ) में पंचविध धारणा का निरूपण करते हुए शरीरगत पंचभूतांश में बाह्य पंचभूतों की धारणा करने का प्रतिपादन किया गया है। पंचविध धारणा का फल बताते हुए योगतत्त्वोपनिषद् ( १०३–१०४ ) में कहा गया है कि इससे योगी दृढ़शरीर एवं मृत्युञ्जयी हो जाता है। शाण्डिल्योपनिषद् ( ७।४३–४४ ) में भी धारणा-विशेष से सब रोगों की निवृत्ति बतायी है।

अष्टांगयोग एवं षडंगयोग के अधिकांश निरूपणों में ध्यान को समाधि से ठीक पहले की स्थिति माना गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् ( १।१६ ) में आत्मध्यान को चौदवहाँ, योगतत्त्वोपनिषद् ( २५ ) में भगवद्ध्यान को सातवाँ एवं मैत्रायणी ( ६।१८ ) तथा अमृतनाद ( ६ ) उपनिषदों में ध्यान को क्रमशः तृतीय एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



द्वितीय योगांग कहा गया है। मैत्रेयी (२।२) एवं स्कन्द (११) उपनिषदों में ध्यान का स्वरूप मन की निर्विषय स्थिति (ध्यानं निर्विषयं मनः) बताया गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् में 'मैं चिन्मात्र ब्रह्मतत्त्व ही हूँ' इस प्रकार के चिन्तन को ध्यान कहा गया है।[३१] शाण्डिल्योपनिषद् में ध्यान दो प्रकार का कहा गया है- सगुण तथा निर्गुण। यहाँ पर सगुण ध्यान से मूर्ति का तथा निर्गुण ध्यान से आत्मा का ग्रहण किया गया है[३२]।

योगतत्त्वोपनिषद् (१०४-१०५) में इष्टदेव के ध्यान को अणिमादिसिद्धि-प्रदायक सगुण ध्यान कहा गया है और निर्गुण ध्यान से समाधिसिद्ध होने का प्रतिपादन किया गया है। दर्शनोपनिषद् (९।१-६) तथा ध्यानबिन्दूपनिषद् (१४-३७) में सविशेष ब्रह्म, निर्विशेष ब्रह्म, प्रणव, त्रिमूर्ति तथा हृदय के ध्यान का वर्णन मिलता है। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१।१।९) के अनुसार ध्यान सभी शरीरों में चैतन्य की एकतानता रूप है। योगकुण्डल्युपनिषद् (३। २५-३२) में ध्यान को संसारनाशक कहते हुए उसका निरूपण किया गया है। योगचूडामण्युपनिषद् (१११-११२) में द्वादश प्राणायामों से प्रत्याहार, द्वादश प्रत्याहारों से धारणा, द्वादश धारणाओं से ध्यान एवं द्वादश ध्यानों से समाधि के सिद्ध होने का उल्लेख है।

अमृतनादोपनिषद् तथा मैत्रायण्युपनिषद् में षडंगों में तर्क का भी समावेश है। वहाँ आगम के अविरोधी अर्थात् श्रुत्यानुसारी तर्क का ही ग्रहण किया गया है।

योगांगों के सभी विवरणों में समाधि को अन्तिम अंग माना गया है। शाण्डिल्योपनिषद् में समाधि को एक प्रकार का कहा गया है[३३]। त्रिशिखि-ब्राह्मण (२।३२) एवं मण्डलब्राह्मण (१।१।१०) उपनिषदों में समाधि को ध्यान-विस्मृतिरूप बताया गया है। यह सर्ववृत्तिविवर्जित अर्थात् सारी मनोवृत्तियों के समाप्त हो जाने की स्थिति है।[३४] वराहोपनिषद् (२।७५) के अनुसार यह आत्मा एवं मन के ऐक्य की संज्ञा है। योगतत्त्वोपनिषद् (१ ७) में इसे जीवात्मा एवं परमात्मा की समतावस्था तथा दर्शनोपनिषद् (१०।१) में परमात्मा एवं जीवात्मा के ऐक्य का बोध कहा गया है। शाण्डिल्योपनिषद् (१।११) के अनुसार समाधि जीवात्मपरमात्मैक्य की त्रिपुटीरहित, परमानन्दस्वरूप शुद्धचैतन्यात्मक अवस्था है[३५]। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२।१६१-१६२) के अनुसार समाधि वह स्थिति है जिसमें 'मैं ही परब्रह्म हूँ' 'ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार का अनुभव करता हुआ योगी ब्रह्म हो जाता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता। दर्शनोपनिषद् (१०।२-५) में कहा गया है कि नित्य, सर्वगत एवं कूटस्थ आत्मतत्त्व स्वरूपतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



एक होते हुए भी माया के कारण अनेक रूपों में दिखायी देता है अतः भ्रान्त लोग अद्वयतत्त्व में ही जीव एवं ईश्वर का भेद कर लेते हैं किन्तु वस्तुतः 'मैं यह शरीर, प्राण, इन्द्रिय एवं मन नहीं केवल साक्षिस्वरूप शिवतत्त्व ही हूँ' इस प्रकार की बुद्धि समाधि कहलाती है। दर्शनोपनिषद् (१०।१) में समाधि को भवनाशक कहा गाया है और योगशिखा (६।७५) एवं योगकुण्डली (३।१४) उपनिषदों में बताया गया है कि योगी समाधि सिद्ध होने के साथ ही अमृतत्व प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाते हैं।

योगतत्त्व (२०) एवं वराह (५।७१–७२) उपनिषदों में योग की चार अवस्थाएँ या भूमिकाएँ बतायी गयी हैं। योगतत्त्व (६३–६४) में प्रणव के जप के अभ्यास की और वराहोपनिषद् (५।७२–७३) में बाह्य-कर्मपरित्यागपूर्वक आन्तर कर्मों के करने की स्थिति को आरम्भावस्था कहा गया है जो प्रथम अवस्था है। द्वितीय भूमिका घटावस्था कही जाती है। योगतत्त्व (६५-६८) के अनुसार इस स्थिति में प्राण-अपान, मन-बुद्धि तथा जीवात्मा एवं परमात्मा का अन्योन्य से अविरोधपूर्वक एकत्व-स्थापन होता है। वराहोपनिषद् (५।७३–७४) के अनुसार इस भूमिका में वायु सुस्थिर रहती है। परिचय नामक तृतीय अवस्था को वराहोपनिषद् (५।७४) में प्रचय भूमिका भी कहा गया है। इस भूमिका का निरूपण योगतत्त्वोपनिषद् (८१–८३) में भी प्राप्त होता है। चतुर्थ अवस्था निष्पत्ति-भूमिका कही गयी है। यह सहज योग की स्थिति है [३६]।

वराहोपनिषद् में शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसी, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावना और तुर्यगा इन सात [३७] भूमिकाओं का निरूपण करते हुए इनमें से प्रथम तीन भूमिकाओं में स्थित साधक को मुमुक्षू, चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठ में स्थित-को क्रमशः ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर एवं ब्रह्मविद्वरीयान् तथा अन्तिम भूमिका में विद्यमान साधक को ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा गया है [३८]। इन भूमिकाओं का अक्ष्युपनिषद (५।४२) में विस्तार से वर्णन किया गया है। अन्नपूर्णोपनिषद् (५।८१–८५) में भी सात भूमिकाओं का वर्णन है।

तेजोबिन्दूपनिषद् (१।१५–३७) में पूर्वोक्त योगांगों के साथ ही त्याग, मौन, देश, काल, बन्ध, देहसाम्य और दृक्स्थिति को भी योगांग मानकर इन पारिभाषिक पदों का अर्थ बताया गया है। योगतत्त्वोपनिषद् (२४–२७) आदि में इन अंगों के अतिरिक्त महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, उड्डियान और मूलबन्ध, दीर्घप्रणवसन्धान, सिद्धान्तश्रवण, वज्रोली, अमरोली तथा सहजोली का विवरण भी मिलता है। तारकयोग, हंसयोग, कुण्डलिनीयोग एवं इन सबसे सम्बन्धित व्योमपंचक, लक्ष्यमय, चक्र, नादानुसन्धान तथा कुण्डलिनीजागरण आदि का निरूपण भी विभिन्न उपनिषदों में उपलब्ध होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



भारतीय दर्शनों में योग दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है। योग दर्शन की परम्परा पर्याप्त प्राचीन तथा बहुपल्लवित है। यद्यपि योगदर्शन का व्यवस्थित ग्रन्थ तथा परम्परा पतंजलि के योगसूत्र से ही प्रारम्भ होता है तथापि प्राचीन भारतीय साहित्य में योग के यत्र तत्र दर्शन होते हैं तथा उसका स्वरूप भी पातंजल योग से किन्चित् भिन्न दिखायी देता है। उपनिषद् साहित्य की योग परम्परा इसका प्रमाण है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि योग का प्रतिपादन करनेवाले उपनिषद् पातंजल योगसूत्र से प्राचीन हैं तथापि यह परंपरा भी पर्याप्त प्राचीन है और पातंजल योग से भिन्न होने के कारण प्राचीन भारतीय योग के अपेक्षाकृत अज्ञात तथा अप्रचलित रूप का उद्घाटन करती है और इसलिए उपादेय भी है।

– उर्मिला चतुर्वेदी

दर्शन विभाग,
महिला महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

## टिप्पणियाँ

१. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् (कठोपनिषद् २।३।११)

२. मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु–
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्यमेव॥ (कठोपनिषद् २।३।१८)

३. ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधां मतः। (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २३)

४. लयमन्त्रहठा योगाः (वराहोपनिषद् ५।१०), योगशिखोपनिषद् १।१२६

५. मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिका क्रमात्।
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते। (योगशिखोपनिषद् १।१३०)

६ वक्ष्यमाणद्वादशमात्रात्मक प्रणवार्थमहाविराऽस्मि इत्यनुसन्धानं हंसयोगः।
(नादबिन्दूपनिषद् ५)

७. हंस हंसेति योजयेत्। जरामरणरोगादिं न तस्य भुवि विद्यते (ब्रह्मविद्योपनिषद् २३–२४)

८ ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाभ्यासरतः पुमान्। (ब्रह्मविद्योपनिषद् २५)

९. योगशिखोपनिषद् ६।४१–४६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



१०. अलब्ध्वापि फलं सम्यक् पुनर्भूत्वामहाकुले ।
पूर्ववासनयैवायं योगाभ्यासंपुनश्चरन् । (वराहोपनिषद् ४।२।४०)
११. महावाक्यविचारेण सांख्ययोगसमाधिना ।
१२. विदित्वा स्वात्मनो रूपमसम्प्रज्ञातसमाधितः ॥ (वराहोपनिषद् ४।२।३७-३८)
वराहोपनिषद् ५।१
१३. अयंच सम्पुटो योगो मूलबन्धोऽप्ययं मतः ।
बन्धत्रयमनेनैव सिद्ध्यत्यभ्यासयोगतः । (वराहोपनिषद् ५।४५)
१४ वराहोपनिषद् ५।४२-४५
१५. वेधकत्रययोगेन । ब्रह्मग्रन्थिततोभित्वां विष्णुग्रन्थि भिनच्यसो ।
विष्णुग्रन्थिं ततौ भित्वारुद्रग्रन्थिं भिनच्यसो ॥ (वराहोपनिषद् ६२-६५)
१६. वराहोपनिषद् ५।६१-६८
१७. पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम् ।
नमस्कारेण योगेन मुद्रयारभ्य चोर्चयेत् ॥ (ब्रह्मविद्योपनिषद् ५६-५७)
१८. अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रं विभूतियोगेमनुब्रूहि इति । स होवाच (बृहज्जाबालोपनिषद् ३।१)
१९. बृहज्जाबालोपनिषद् ३।१-३४
२०. तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति । (मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ३।१।६) तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति---। (अद्वयतारकोपनिषद् ५)
२१. देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यतेबुधैः । (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २।२८)
२२. सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमो यमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥ (तेजोबिन्दूपनिषद् १।१७)
२३. अमृतनादोपनिषद् ११-१४, दर्शनोपनिषद् ६।१२-१३
२४. निषेधनं प्रपंचस्य रेचकाख्यः समीरित : ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ।
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकं प्राणसंयम : । ( तेजोबिन्दूपनिषद् १।३२-३३ )
२५. बाह्यस्थितविषयं सर्वं रेचकः समुदाहृत : ।
पूरक शास्त्रविज्ञानं, कुम्भकं स्वगतं स्मृतम् ॥ ( वराहोपनिषद् ५।५८ )
२६. ब्रह्मापूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते ।
रेचो रुद्र इति प्रोक्तः--- । ( ध्यानबिन्दूपनिषद् २१ )
२७. योगतत्त्वोपनिषद् ५०-५१
२८. चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तुसत्तम । ( त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २।३० )
२९. विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः ( मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १।१।७ )

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



३०. मनः संकल्पकंध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान् ।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ।। (अमृतनादोपनिषद्, १५ )

३१ सो हं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते । ( त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद २।३१ )
ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः। ध्यानशब्देन विख्यात : ।।
( तेजोबिन्दूपनिषद् १।३६ )

३२. अथध्यानं तद्द्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति । सगुणं मूर्तिध्यानम् ।
निर्गुणमात्मयाथात्म्यम् ( शाण्डिल्योपनिषद् १।७१ )

३३. समाधिस्त्वेक रूपा ( शाण्डिल्योपनिषद् १।७२ )

३४. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २। १५५ एवं तेजोबिन्दूपनिषद् १।३७

३५. अथ समाधिः । जीवात्मकपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति । ( शाण्डिल्योपनिषद् १।७२ )

३६. यत्रात्मना सृष्टिलयौ जीवन्मुक्तिदशां गतः ।
सहजः कुरुते योगं सेयं निष्पत्तिभूमिका ।। ( वराहोपनिषद् ५।७५ )

३७. ज्ञानभूमि : शुभेच्छास्यात् प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी
सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात् ततो संचलिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी दुर्यगा स्मृता ।। ( वराहोपनिषद् ४।२।१--२ )

३८. वराहोपनिषद् ४।१।१२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# हॉब्स : स्वार्थवादी अथवा उपयोगितावादी ?

हॉब्स के नीति दर्शन का कई विचारकों द्वारा अध्ययन किया गया है तथा अधिकांशतः इसकी आलोचना स्वार्थवादी नीति-दर्शन स्वीकार करने तथा मानव स्वभाव का स्वार्थवादी विश्लेषण करने के कारण की जाती है। प्रस्तुत लेख में हम हॉब्स के विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगें व देखेंगे कि हॉब्स किन अर्थों में मनुष्य के स्वार्थवादी स्वरूप को स्वीकार करते हैं।

सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयास करेंगें कि हॉब्स नैतिक स्थार्थवाद को स्वीकार न कर मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य सदैव शुभ-प्राप्ति या अशुभ की अवहेलना के लिए कार्य करता है। मनुष्य के पास न कोई ऐसी शक्ति है न इच्छा जिससे वह इसके विरुद्ध जा सके। जिस तरह एक पत्थर सदैव नीचे की ओर जाता है इसी तरह मानव स्वभावतः शुभ–प्राप्ति की ओर आकर्षित होता है।अपने शुभ के प्रति आकर्षित होना अथवा उसके लिए कार्य करना हॉब्स मनुष्य का कर्तव्य नहीं समझते। वे कहते हैं कि क्योंकि मनुष्य के सभी ऐच्छिक कार्य स्वसुख व आत्मपरिरक्षण के लिए होते हैं इसलिए किसी और उद्देश्य की प्राप्ति की इच्छा बौद्धिक नहीं हैं।

ए ई. टेलर का विचार है कि हॉब्स मनोवैज्ञानिक स्वार्थवादी न होकर कर्तव्यवादी हैं। वे कहते हैं–

"Hobbes's ethical doctrine, disengaged from an egoistic psychology, with which it has no logically necessary connection, is a very strict deontology though with interesting differences of some of the characteristic thesis of Kant"[1]

यह सत्य है कि हॉब्स व काण्ट में कुछ समानतायें हैं। हॉब्स भी काण्ट के समान नैतिक कानूनों के आदेशात्मक स्वरूप को स्वीकार करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि प्राकृतिक कानूनों का ज्ञान बुद्धि द्वारा होता है तथा समझौते का



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



खण्डन करना एक प्रकार की तार्किक असंगति है। परन्तु प्राकृतिक कानून की प्रतिवद्धता का स्वरूप उनके लिए उसके बौद्धिक स्वरूप से नहीं आता। मनुष्य उनका पालन करने के लिए बाध्य है क्योंकि ये कानून शान्ति सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। इसलिए हॉब्स के बारे में यह कहना कि वे कर्तव्यवादी हैं उचित प्रतीत नहीं होता।

हॉब्स मानते हैं कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य पूर्ण स्वार्थी है क्योंकि यह अवस्था संघर्ष व प्रतिद्वन्द्विता की अवस्था है। यह पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था है तथा इसमें सब मनुष्य बराबर हैं। स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि यदि कुछ मनुष्य एक साथ रहे व उनकी अहम्–प्रधान भावनाओं को संयत करने तथा उनकी क्रियाओं को नियन्त्रित करने के लिये कोई शक्ति न हो तो जीवन की स्थिती अत्यन्त विषादमय व दुःखद हो जायेगी। हॉब्स के शब्दों में 'प्रत्येक मनुष्य का अन्य प्रत्येक मनुष्य के साथ युद्ध होगा।' उस अवस्था में, जो सबसे निकृष्ट बात है, 'निरन्तर भय और हिंसात्मक मृत्यु का खतरा है, और मनुष्य का जीवन, एकाकी, दरिद्र, कष्टप्रद, पाशविक तथा अल्पायु होता है।'[२]

आलोचकों का कहना है कि इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि मनुष्य कभी प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। परन्तु ये आपत्ति अप्रासंगिक है क्योंकि हॉब्स ये नहीं मानते कि राज्य के अभाव में मनुष्य सचमुच ही एक दूसरे से निरन्तर युद्ध में लगे रहते हैं। उनकी प्राकृतिक अवस्था राज्य का एक कल्पनात्मक विकल्प है; यह वह स्थिति है जिसमें कि मनुष्य पहुँच जायेंगे यदि उनके कार्यों को विनियन्त्रित करनेवाली कोई शक्ति न हो।

किन्तु मनुष्य सदैव इस प्राकृतिक अवस्था में रहना नहीं चाहता, मृत्यु का भय तथा जीवन की आवश्यक वस्तुओं की इच्छा के कारण वह शान्ति की आशा करता है। व्यक्तिगत कल्याण की प्राप्ति अथवा आत्म-परिरक्षण, शान्ति, परस्पर सहयोग तथा साहचर्य के वातावरश में, हिंसा और संघर्ष के वातावरण की अपेक्षा अधिक सुगमता से हो सकती है, यह ज्ञान मनुष्य को बुद्धि द्वारा होता है। बुद्धि मनुष्य के लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं करती है। वह आत्मपरिरक्षण ही रहता है। वह केवल इतना बताती है कि अपने हितों की सुरक्षा शान्ति व सहयोग से ही हो सकती है।

यदि मनुष्य सचमुच इतना ही स्वार्थी और समाज विरोधी हैं जितना कि हॉब्स उन्हें मानते हैं तो उनके लिए राज्य की स्थापना करना प्रायः असम्भव होता। ऐसा प्रतीत होता है कि हॉब्स इस कठिनाई से परिचित थे। मनुष्य की रचना में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



भावनाओं तथा वृत्तियों के अतिरिक्त उन्होंने एक अन्य मौलिक तत्त्व को स्थान दिया है। वह है बुद्धि। इसका अर्थ यह है कि हॉब्स के मतानुसार एक व्यक्ति तथा राज्य के घटक के रूप में मनुष्य जीवन की व्याख्या दो तत्त्वों १) इच्छा (जिसमें अनिच्छा भी है) तथा (२) बुद्धि के आधार पर की जानी चाहिए। बुद्धि इच्छा में कोई नई प्रेरक शक्ति नहीं जोड़ती, और न ही यह किसी मौलिक अथवा निःसृत भावना अथवा वृत्ति को नष्ट कर सकती है। इसका कार्य केवल विनियमित करने का है। वह बताती है कि यदि व्यक्ति अपना कल्याण चाहता है तो उसे शान्ति की खोज करनी चाहिए और उसे स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए।

इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था के उपरान्त शान्ति व सुरक्षा की अवस्था की स्थापना होती है। सब मनुष्य मिलकर एक समझौता करते हैं व इस बात पर सहमत होते हैं कि वे न्याय व प्राकृतिक कानून का पालन करेंगे।

हॉब्स प्राकृतिक अवस्था में मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद को स्वीकार करते हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि इस अवस्था में मनुष्य को जीवित रहने के लिए अपनी शक्ति को बढ़ाना होता है। इस प्रकार जीवन अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करने की एक निरंतर और निविश्राम इच्छा बन जाता है।[३] सभी मनुष्यों की समानता के कारण मनुष्य केवल अपने स्थार्थ की पूर्ति करता है वह दूसरे के हितों की ओर ध्यान नहीं देता।

कुछ लोग यह आपत्ति उठा सकते हैं कि क्या राज्य की स्थापना, हॉब्स के मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद तथा आत्मपरिरक्षण के सिद्धान्त से असंगत नहीं है? इसका उत्तर है: नहीं; क्योंकि राज्य की स्थापना का एकमात्र उद्देश्य शान्ति तथा मनुष्यों के स्वार्थों की रक्षा है। राज्य मनुष्य के आन्तरिक सामाजिक स्वभाव की अभिव्यक्ति नहीं है, यह स्वाभाविक विकास का परिणाम भी नहीं है जैसा कि अरस्तु इसे समझते थे, यह तो अपनी एक निश्चित आवश्यकता की पूर्ति के लिये मनुष्य द्वारा बनाया गया एक कृत्रिम साधन है। यह साध्य पर ले जाने के लिये एक साधन मात्र है; स्वयं साध्य नहीं। शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने के लिये कुछ कानूनों की आवश्यकता होती है और ये कानून सर्वप्रभु ( Sovereign ) बनाता है। प्रत्येक व्यक्ति इन कानूनों का पालन करने के लिये बाध्य है। यहां यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यदि सर्वप्रभु कानून की रचना करता है तो वह कुछ ऐसे कानून बना सकता है जो केवल उसके हित में है। उदाहरणतः चोरी करना उसके लिये सदाचार हो सकता है। परन्तु प्रश्न है कि क्या हॉब्स सर्वप्रभु को ऐसा करने की स्वीकृति देते हैं? हॉब्स स्वीकार करते हैं कि कानून सर्वप्रभु बनाता है, परन्तु वे यह नहीं कहते कि कानून मनमाने ढंग से बनाये जाते हैं। ये कानून मानव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रकृति के तथ्य हैं तथा नैतिक सदाचार, जैसे–न्याय, समानता तथा दया पर आधारित हैं। राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के व्यक्तिगत हितों का योगमात्र है। इसके अतिरिक्त उसका कोई सामूहिक लक्ष्य नहीं।

हॉब्स मनोवैज्ञानिक स्वार्थवादी के रूप में यह दावा तो करते हैं कि आत्म-परिरक्षण मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, परन्तु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि राज्य की स्थापना के उपरान्त मनुष्यों को अपने स्वार्थवादी संवेगों व वृत्तियों को नियन्त्रित करना होता है। अब वह इतना स्वतन्त्र नहीं होता जितना प्राकृतिक अवस्था में था। राज्य की स्थापना के बाद मनुष्य को कानून के अनुसार कार्य करना चाहिए और ये कहना ऐसे आदर्श को स्वीकार करना है जो न्याय, दया तथा सामान्य सुख की ओर ले जाता है, जिसमें समाज के सभी सदस्य भाग लेते हैं तथा जिसके परिणाम सभी लोग समान रूप से बाँटते हैं।

इस प्रकार मनुष्य में 'सामान्य सुख' की प्राप्ति की इच्छा इसलिए नहीं होती क्योंकि वह अपने साथी नागरिकों के लिए सहानुभूति रखते हैं बल्कि वे इस ओर अपने स्वार्थ व हितों के कारण अग्रसर होते हैं। वैयक्तिक शुभ प्राप्त करने की इच्छा उन्हें सामूहिक शुभ की ओर प्रेरित करती है। हॉब्स शान्ति व सुरक्षा की अवस्था में उपयोगितावादी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि शान्ति की अवस्था में मनुष्य को इस तरह से कार्य करना चाहिए जिससे सामान्य सुख में वृद्धि हो।

अब हम यहां यह देखेंगे कि हॉब्स किस प्रकार का उपयोगितावाद स्वीकार करते हैं। कार्य–उपयोगितावाद (act–utilitarianism) अथवा नियम– उपयोगितावाद (rule–utilitarianism)। हॉब्स यह नहीं कहते कि राज्य की स्थापना के बाद कार्य का औचित्य उसके शुभ या अशुभ परिणामों पर निर्भर करता है, बल्कि वे यह विश्वास करते हैं कि राज्य की स्थापना के बाद कार्यों का निर्णय कानूनों के अनुसार होता हैं। प्राकृतिक अवस्था में उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, नैतिक तथा अनैतिक का कोई भेद नहीं होता न ही वहाँ सम्पत्ति के कोई अधिकार हो सकते हैं। ये विभेद सर्वप्रथम राज्य की स्थापना होने पर ही प्रगट होते हैं। जो कुछ भी राज्य द्वारा उचित बनाये गये कानूनों के अनुसार है उचित व न्यायपूर्ण है और जो कुछ भी उसके विरुद्ध है अनुचित, अन्यायपूर्ण तथा अनैतिक है।

हॉब्स इस बात को जानते थे कि सैद्धान्तिक रूप से कानून बनाने की शक्तियाँ कितनी असीम व अबाधित क्यों न हो व्यवहार में वे एक निश्चित सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकती। शासक के आदेश व प्राकृतिक कानून में कोई संघर्ष नहीं होना चाहिए। हॉब्स ये घोषित करते हैं कि शासक के ऊपर 'प्राकृतिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



कानून' के अतिरिक्त और कोई सीमा नहीं है और निरपराध व्यक्ति को दण्ड करना प्राकृतिक कानून के विरुद्ध है। इस प्रकार हॉब्स दण्ड के उपयोगितावादी सिद्धांत का समर्थन करते हैं। वे मानते हैं कि दण्ड में हम भूतकालीन अशुभ की ओर न देखकर आनेवाले शुभ की ओर देखते हैं। दण्ड देने का कारण केवल यह है कि वह अधिकांशतः शुभ परिणामों की ओर ले जाता है। दण्ड केवल सार्वजनिक शक्ति द्वारा दिया जा सकता है। अन्य व्यक्तियों द्वारा कष्ट देना दण्ड नहीं बल्कि घृणा या शत्रुता का द्योतक है। हॉब्स का दण्ड सम्बन्धी सिद्धांत बाद में बेन्थम व अन्य उपयोगितावादियों द्वारा स्वीकार किया गया। बेन्थम के अनुसार– 'सभी दण्ड एक प्रकार का अपकार व दुष्टता है। यदि इसे हम स्वीकार भी करें तो केवल उस सीमा तक करना चाहिए जहाँ तक ये किसी अन्य अशुभ को करने से रोकता है।' ४

हॉब्स दण्ड के उपयोगितावादी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी उसकी एक कमी के प्रति सतर्क थे। वे कहते हैं कि निर्दोष व्यक्ति को हम उस कार्य के लिए दण्डित नहीं कर सकते जो उसने नहीं किया है। उपयोगितावादी इसके विपरीत यह मानते हैं कि निरपराध व्यक्ति को दण्ड देना उस सीमा तक उचित है जहाँ तक वह किसी अन्य अशुभ की ओर ले जाता है। परन्तु हॉब्स के अनुसार निरपराध को दण्ड करना प्राकृतिक कानून के विरुद्ध है और इस तरह की शक्ति सर्व प्रभु के पास नहीं है। सर्वप्रभु की स्थापना मनुष्यों के हितों को सुरक्षित रखने के लिए हुई है और निरपराध को दण्डित करने से उसका यह लक्ष्य पूरा नहीं होता।

आलोचक यह मानते हैं कि मानव स्वभाव में जो कृत्रिम विभाजन हॉब्स ने किया है वह घोर आलोचना का पात्र है। उनका एक ओर तो मनुष्य को अहंवादी, भावुक, प्रतिस्पर्धाशील कहना और दूसरी ओर उसके बौद्धिक पक्ष पर बल देकर सामुहिक समझौते द्वारा राज्य की स्थापना करना, दो ऐसी बाते हैं जिनमें संगति होना कठिन है। यदि हम यह मान लें कि हॉब्स प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता में विश्वास करते थे तो आलोचकों का तर्क उनके लिए घातक सिद्ध होगा। परन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं, ऐसा मानना आवश्यक नहीं। हॉब्स का उद्देश्य राज्य के कालगत जन्म का वर्णन करना नहीं है उनका ध्येय राज्य के स्वरूप का विश्लेषण करना तथा उसका औचित्य सिद्ध करना है।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतिक अवस्था में हॉब्स मनोवैज्ञानिक स्वार्थवाद को स्वीकार करते हुए भी शान्ति व सुरक्षा की अवस्था में, बिना किसी असंगति के नियम-उपयोगितावाद को स्वीकार करते हैं। वह मानते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हैं कि इस अवस्था में मनुष्य अपने स्वार्थों पर नियन्त्रण रखते हैं और सर्वप्रभु द्वारा बनाये गये कानून के अनुसार कार्य करते हैं, न कि अपनी इच्छा या अनिच्छानुसार।

– रेनू खन्ना

मानविकि एवं सामाजिक विज्ञान विभाग
भारतीय तकनीकी संस्थान
कानपुर (उ. प्र.)

## टिप्पणियाँ

1. Taylor, A. E.; 'The Ethical doctrine of Hobbes;' Philosophy Vol. XIII (1938) pp. 406–24.
2. Hobbes; Leviathan, English works, vol. 3. Sir William Molesworth, London : Bohn 1841, p. 113.
3. Ibid . pp 85–86
4. Bentham; The Principles of Morals and Legislation, Hafner Publishing Co. N. Y. 1948, p. 170.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# सत्ता, कितनी वाच्य कितनी अवाच्य ? : जैन दर्शन के सन्दर्भ में

**आत्माभिव्यक्ति प्राणीय प्रकृति :–** प्रत्येक प्राणी की यह सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी अनुभूति और भावनाओं को दूसरे प्राणियों के सम्मुख प्रकट करता है और इस प्रकार दूसरों को भी अपने ज्ञान, अनुभूति और भावना का सहभागी बनाता है। प्राणी की इसी पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति को उमास्वाति ने तत्त्वार्थ में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' नामक सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया है (तत्त्वार्थ ५/२१)। वस्तुतः यह पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति ही सामाजिक जीवन की आधारभूमि है। हम सामाजिक हैं क्योंकि हम अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं में दूसरों को सहभागी बनाए बिना अथवा दूसरों की भावनाओं एवं अनुभूतियों में सहभागी बने बिना नहीं रह सकते। यदि किसी व्यक्ति को ऐसे स्थान पर बन्दी बना दिया जाए, जहाँ उसे जीवन जीने की सारी सुख-सुविधाएँ तो उपलब्ध हों, किन्तु वह अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को अभिव्यक्ति न दे सके, निश्चय ही ऐसे व्यक्ति को जीवन निस्सार लगने लगेगा और सम्भव है कि वह कुछ समय पश्चात् पागल हो कर आत्महत्या कर लेवें। मनुष्य ही क्या पशु-पक्षी भी बिना आत्माभिव्यक्ति के नहीं जी सकते हैं। संक्षेप में आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से दूसरों को अपनी सहानुभूति और भावनाओं का सहभागी बनाना और दूसरों की अभिव्यक्तियों के अर्थ को समझकर उनकी अनुभूति और भावनाओं में सहभागी बनना यह प्राणीय प्रकृति है। अब प्रश्न यह है कि यह अनुभूति और भावनाओं का सम्प्रेषण कैसे होता है ?

**आत्माभिव्यक्ति के साधन :–** विश्व के समस्त प्राणी अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति या तो शारीरिक संकेतों के माध्यम से करते हैं या ध्वनि संकेत के द्वारा। इन ध्वनि संकेतों के आधार पर ही बोलियों एवं भाषाओं का विकास हुआ है। विश्व के समस्त प्राणियों में मनुष्य इसीलिए सबसे अधिक सौभाग्यशाली है कि उसे अभिव्यक्ति या विचार सम्प्रेषण के लिए भाषा मिली हुई

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क २, मार्च १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है। शब्द प्रतीकों, जोकि सार्थक ध्वनिसंकेतों के सुव्यवस्थित रूप हैं, के माध्यम से अपने विचारों एवं भावों की अभिव्यक्ति दे पाना यही उसकी अपनी विशिष्टता है। क्योंकि भाषा के माध्यम से मनुष्य जितनी स्पष्टता के साथ अपने विचारों एवं भावों का सम्प्रेषण कर सकता है उतनी स्पष्टता से विश्व का दूसरा कोई प्राणी नहीं। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति मात्र ध्वनिसंकेत या अंग संकेत से किसी वस्तु की स्वादानुभूति की अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता से नहीं कर सकता है जितनी भाषा के माध्यम से कर सकता है। यद्यपि भाषा या शब्द प्रतीकों के माध्यम से की गई यह अभिव्यक्ति अपूर्ण, आंशिक एवं मात्र संकेत ही होता है, फिर भी अभिव्यक्ति का इससे अधिक स्पष्ट कोई माध्यम खोजा नहीं जा सका है।

**भाषा का स्वरूप :–** हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के कुछ शब्द-प्रतीक बना लिये हैं और भाषा हमारे इन शब्द-प्रतीकों का ही एक सुनियोजित खेल है। संक्षेप में कहें तो हमने उन्हें 'नाम' दे दिये हैं और इन्हीं नामों के माध्यम से हम अपने भावों, विचारों एवं तथ्य सम्बन्धी जानकारियों का सम्प्रेषण दूसरों तक करते हैं। उदाहरण के लिए हम कुर्सी शब्द से एक विशिष्ट वस्तु को अथवा 'प्रेम' शब्द से एक विशिष्ट भावना को संकेतित करते हैं। मात्र यही नहीं व्यक्तियों, वस्तुओं, गुणों, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के पारस्परिक विभिन्न प्रकार के सम्बधों के लिये अथवा उन सम्बधों के अभाव के लिये भी शब्द प्रतीक बना लिये गये हैं। भाषा की रचना इन्हीं सार्थक शब्द प्रतीकों के ताने बाने से हुई है। भाषा शब्द-प्रतीकों की यह नियमबद्ध व्यवस्था है जो वक्ता के द्वारा सम्प्रेषणीय भावों का ज्ञान श्रोता को कराती है।

**शब्द एवं भाषा की अभिव्यक्ति सामर्थ्य :–** यहाँ दार्शनिक प्रश्न यह है कि क्या इन शब्द-प्रतीकों में भी अपने विषय– अर्थ की अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य है? क्या कुर्सी शब्द कुर्सी नामक वस्तु को और प्रेम शब्द प्रेम नामक भावना को अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत कर सकता है? यह ठीक है कि शब्द अपने अर्थ विषय का वाचक अथवा संकेतक है किन्तु क्या कोई भी शब्द अपने वाच्य विषय की पूर्णतया अभिव्यक्ति करने में सक्षम है? क्या शब्द अपने विषय के समस्त गुण–धर्मों और पर्यायों (अवस्थाओं) का एक समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। यदि हम यह मानते हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक नहीं है तो फिर भाषा की प्रामाणिकता या उपयोगिता सन्देहात्मक बन जाती है। किन्तु इसके विपरीत यह मानना भी पूर्णतया सही नहीं है कि शब्द अपने अर्थ या विषय का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में समर्थ है और अपने वाच्य का यथार्थ चित्र श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत कर दे। जैन आचार्यों ने शब्द और उसके अर्थ (विषय) के सम्बन्ध को लेकर एक मध्यम-मार्गीय दृष्टिकोण अपनाया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है। वे बौद्धों के समान यह मानने के लिए सहमत नहीं हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का संस्पर्श ही नहीं करता है। किन्तु वे मीमांसकों के समान यह भी नहीं मानना चाहते हैं कि शब्द अपने विषय का समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द और उसके द्वारा संकेतित अर्थ या विषय में एक सम्बन्ध तो है, किन्तु वह सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि शब्द अपने विषय या अर्थ का स्थान ही ले ले। दूसरे शब्दों में शब्द और उनके विषयों में तद्रूपता का सम्बन्ध नहीं है। प्रभाचन्द्र शब्द और अर्थ में तद्रूप सम्बन्ध का खण्डन करते हुए कहते हैं कि मोदक शब्द के उच्चारण से तो मीठे स्वाद की अनुभूति नहीं होती है अतः मोदक शब्द और मोदक नामक वस्तु भिन्न भिन्न हैं। (न्यायकुमुदचन्द्र भाग २ पृ. ५३६) किन्तु इससे यह भी नहीं समझ लेना चाहिए कि शब्द और उनके विषय अर्थ के बीच कोई सम्बन्ध ही नहीं है। शब्द अर्थ या विषय का संकेतक तो है, किन्तु उसका स्थान नहीं ले सकता है। अर्थ-बोध की प्रक्रिया में शब्द को अपने अर्थ या विषय का प्रतिनिधि रिप्रेजेन्टेटिव तो कहा जा सकता है, फिर भी शब्द अपने विषय या अर्थ का हूबहू चित्र नहीं है, जैसे नक्षे में प्रदर्शित नदी वास्तविक नदी की संकेतक तो है किन्तु न तो वह वास्तविक नदी है और न उसका हूबहू प्रतिबिम्ब ही है, वैसे ही शब्द और उनसे निर्मित भाषा भी अपने अर्थ या विषय की संकेतक तो है किन्तु उसका हूबहू प्रतिबिम्ब नहीं है। फिर भी वह अपनी सहज योग्यता, संकेतक शक्ति और प्रयोग (usage) के द्वारा विषय का एक चित्र श्रोता या पाठक के सम्मुख अवश्य उपस्थित कर देता है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञापक और ज्ञाप्य सम्बन्ध है उसी प्रकार शब्द और अर्थ (विषय) में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य सम्बन्ध है। यद्यपि जैन दार्शनिक शब्द और उसके अर्थ में सम्बन्ध स्वीकार करते हैं किन्तु यह सम्बन्ध मीमांसकों के समान नित्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि भाषा के प्रचलन में अनेक बार शब्दों के अर्थ (मीनिंग) बदलते रहे हैं और एक समान उच्चारण के शब्द भी दो भिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ रखते हैं। शब्द अपने अर्थ का संकेतक अवश्य है किन्तु अपने अर्थ के साथ उसका नित्य एवं तद्रूप सम्बन्ध नहीं है। जैन दार्शनिक मीमांसाकों के समान शब्द और अर्थ में नित्य तथा तद्रूप सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार हस्त-संकेत आदि अपने अभिव्यंजनीय अर्थ के साथ अनित्य रूप से सम्बन्धित होकर इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं उसी प्रकार शब्द संकेत भी अपने अर्थ से अनित्य रूप से सम्बन्धित होकर भी अर्थबोध करा देता है। शब्द और अर्थ (विषय) दोनों की विविक्त सत्ताएँ हैं। अर्थ में शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है। फिर भी दोनों में एक ऐसा सम्बन्ध अवश्य है जिससे शब्दों में अपने अर्थ के वाचक होने की सीमित सामर्थ्य है। शब्द में अपने अर्थ या विषय का बोध कराने की एक 'सहजयोग्यता'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



होती है जो उसकी 'संकेतक-शक्ति' और 'प्रयोग' (समय) पर निर्भर करती है। इस प्रकार शब्द सहजयोग्यता, संकेत-शक्ति और प्रयोग इन तीन के आधार पर अपने अर्थ या विषय से सम्बन्धित होकर श्रोता को अर्थबोध करा देता है। जैन आचार्यों को बौद्धों का यह सिद्धान्त मान्य नहीं है कि शब्द और उसके अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उनका कथन है कि यदि शब्द और उसके अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं माना जायेगा तो समस्त भाषा-व्यवहार की प्रमाणिकता ही समाप्त हो जाएगी और पारस्परिक अभिव्यक्ति का कोई साधन ही नहीं रहेगा। इसलिये जैन दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ में सापेक्ष एवं सीमित वाच्य-वाचक सम्बन्ध माना है। शब्द अपने विषय का वाचक तो होता है किन्तु उसकी समस्त विशेषताओं का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में वह समर्थ नहीं है। शब्दों में अर्थ (विषय) की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य सीमित और साक्षेप ही है, असीमित या पूर्ण और निरपेक्ष नहीं। 'प्रेम' शब्द प्रेम नामक भावना को अभिव्यक्त तो करता है किन्तु उसमें प्रेम की अनुभूति की सभी गहराईयाँ समाविष्ट नहीं है। प्रेम के विविध रूप हैं। प्रेम अनुभूति की प्रगाढ़ता के अनेक स्तर हैं। अकेला प्रेम शब्द उन सबका वाचक तो नहीं हो सकता। एक प्रेमी अपनी प्रेयसी से, एक पुत्र अपनी माता से, एक भाई अपने भाई से और एक मित्र अपने मित्र से 'मैं तुझसे प्रेम करता हूँ' इस पदावली का कथन करते हैं किन्तु क्या उन सभी व्यक्तियों के सन्दर्भ में इस पदावली का एक ही अर्थ होगा ? वे सब समानपदावली का उपयोग करते हुए भी जिस भाव-प्रवणता को अभिव्यक्त कर रहे हैं वह भिन्नभिन्न ही है। दो भिन्न संदर्भों में और दो भिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही सन्दर्भ में एक शब्द का एक ही अर्थ नहीं हो सकता है। मात्र यही नहीं, एक ही पदावली के सन्दर्भ में वक्ता और श्रोता दोनों की भाव प्रवणता और अर्थ ग्राहकता भिन्न-भिन्न भी हो सकती है। अर्थ-बोध न केवल शब्द सामर्थ्य पर निर्भर है अपितु श्रोता की योग्यता पर भी निर्भर है। वस्तुतः अर्थ-बोध के लिये पहले शब्द और उसके अर्थ (विषय) में एक सम्बन्ध जोड़ लिया जाता है। बालक को जब भाषा सिखाई जाती है तो शब्द के उच्चारण के साथ उसे वस्तु को दिखाते हैं। धीरे धीरे-बालक उनमें सम्बन्ध जोड़ लेता है और जब भी उस शब्द को सुनता है या पढ़ता है तो उसे उस अर्थ विषय का बोध हो जाता है, अतः मैं अपने विषय को अर्थ-बोध करा देने की शक्ति भी मात्र शब्द में नहीं है अपितु श्रोता या पाठक के पूर्व संस्कारों में रही हुई है अर्थात् वह श्रोता या पाठक की योग्यता पर भी निर्भर है। यही कारण है कि अनसीखी भाषा के शब्द हमें कोई अर्थ बोध नहीं दे पाते हैं। इसलिये जैन दार्शनिक मीमांसा दर्शन के शब्द में स्वतः अर्थ बोध देने की सामर्थ्य का खण्डन करते हैं। अनेक प्रसंगों में वक्ता का आशय कुछ और होता है और श्रोता उसे कुछ और समझ लेता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है, अतः यह मानना होगा कि शब्द और अर्थ में वाचक वाच्य सम्बन्ध होते हुए भी वह सम्बन्ध श्रोता या पाठक सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। अन्यथा दो व्यक्तियों के द्वारा एक ही पदावली का भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करना कभी सम्भव ही नहीं होता।

दूसरे शब्द में, अपने विषय का वाचक होने की शक्ति भी सीमित ही है। शब्द शक्ति की इस सीमितता का कारण यह है कि अनुभूतियों की एवं भावनाओं की जितनी विविधताएँ हैं उतने शब्द नहीं हैं। अपने वाच्य विषयों की अपेक्षा शब्द संख्या और शब्द शक्ति दोनों ही सीमित है। उदाहरण के लिए मीठा शब्द को लिजिए। हम कहते हैं गन्ना मीठा है, गुड़ मीठा है आम मीठा है, रसगुल्ला मीठा है, तरबूज मीठा है आदि-आदि। यहाँ हम सभी के मीठेपन की अनुभूति के लिए एक ही शब्द 'मीठा' प्रयोग कर रहे हैं किन्तु हम यह बहुत ही स्पष्ट रूप से जानते हैं कि सबके मीठेपन का स्वाद एक समान नहीं है। तरबूज़ मीठा है और आम मीठा है इन दोनों कथनों में 'मीठा' नामक गुण एक ही प्रकार की अनुभूति का द्योतक नहीं है। यद्यपि पशुओं के ध्वनि संकेत और शारीरिक संकेत की अपेक्षा मनुष्य के शब्द संकेतों में भावाभिव्यक्ति एवं विषयाभिव्यक्ति की सामर्थ्य काफी व्यापक है किन्तु उसकी भी अपनी सीमाएँ हैं। भाषा की और शब्द संकेत की इन सीमाओं पर दृष्टिपात करना अति आवश्यक है। क्योंकि विश्व में वस्तुओं, तथ्यों, भावनाओं की जो अनन्तता है उसकी अपेक्षा हमारा शब्द भण्डार अत्यन्त सीमित है। एक 'लाल' शब्द को ही लिजिए। वह लाल नामक रंग का वाचक है किन्तु लालिमा की अनेक कोटियाँ हैं, अनेक अंश (डिग्रीज़) हैं, अनेक संयोग (कोम्बिनेशन) हैं। क्या एक ही 'लाल' शब्द भिन्न प्रकार की लालिमाओं का वाचक हो सकता है? एक और उदाहरण लिजिए– एक व्यक्ति जिसने गुड़ के स्वाद का अनुभव किया है, उस व्यक्ति से जिसने कभी गुड़ स्वाद का अनुभव नहीं किया है, जब यह कहता है कि गुड़ मीठा होता है तो क्या श्रोता उससे मीठेपन की उसी अनुभूति को ग्रहण करेगा जिसे वक्ता ने अभिव्यक्त किया है। गुड़ की मीठास की एक अपनी विशिष्टता है। उस विशिष्टता का ग्रहण किसी दूसरे व्यक्ति को तब तक ठीक वैसा ही नहीं हो सकता है जबतक कि उसने स्वयं गुड़ के स्वाद की अनुभूति नहीं की हो। क्योंकि शब्द सामान्य होता है सत्ता विशेष होती है। सामान्य विशेष का संकेतक हो सकता है लेकिन उसका समग्र निर्वचन नहीं कर सकता है। शब्द अपने अर्थ (विषय) को मात्र सूचित करता है। शब्द और उसके विषय में तद्रूपता नहीं है, शब्द को अर्थ (मीनिंग) दिया जाता है। इसीलिये बौद्धों ने शब्द को विकल्पयोनि कहा है। (विकल्पयोनयः शब्दा :– न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ५३७) शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक होते हुए भी उसमें और उसके विषय में कोई समानता नहीं है। यहाँ तक कि उसे अपने विषय का सम्पूर्ण एवं यथार्थ चित्र भी नहीं कहा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



जा सकता। यद्यपि शब्द में श्रोता की चेतना में, श्रोता के शब्द और अर्थ के पूर्व संयोजन के आधार पर, अपने अर्थ (विषय) का चित्र उपस्थित करने की सामर्थ्य तो होती है किन्तु यह सामर्थ्य भी श्रोता सापेक्ष है।

**सत्ता कितनी वाच्य कितनी अवाच्य ?** :– इस प्रकार भाषा या शब्द-संकेत अपने विषयों के, अपने अर्थों के संकेतक तो अवश्य हैं किन्तु उनकी अपनी सीमाएँ भी हैं। इसीलिए सत्ता या वस्तु तत्त्व किसी सीमा तक वाच्य होते हुए भी अवाच्य बना रहता है। वस्तुतः जब जीवन की सामान्य अनुभूतियों और भावनाओं को ही शब्दों एवं भाषा के द्वारा पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है तो फिर परम सत्ता के निर्वचन का प्रश्न तो और भी जटिल हो जाता है। भारतीय चिन्तन में प्रारम्भ से लेकर आजतक सत्ता की वाच्यता और अवाच्यता का यह प्रश्न मानव-मस्तिष्क को झकझोरता रहता है। वस्तुतः सत्ता की अवाच्यता का कारण शब्द भण्डार तथा शब्द शक्ति की सीमितता और भाषा का अस्ति और नास्ति की सीमाओं से घिरा होना है। इसीलिये प्राचीन काल से ही सत्ता की अवाच्यता का स्वर मुखर होता रहा है।

तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (२/४) वाणी वहाँ से लौट आती है उसे वाणी का विषय नहीं बनाया जा सका। इसी बात को केनोपनिषद् में 'यद्वाचावभ्युदितम्' (१/४) के रूप में कहा गया है। कठोपनिषद् में 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यम्' कह कर यह बताया गया है कि परमसत्ता का ग्रहण वाणी और मन के द्वारा संभव नहीं है। माण्डूक्योपनिषद् में सत्ता को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अवाच्य कहा गया है। जैन आगम आचारांग का भी कथन है कि 'वह (सत्ता) ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है; वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है। तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) भी उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं है अतः यह वाणी विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी भी उपमा के द्वारा उसे समझाया नहीं जा सकता अर्थात् उसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती। वह अनुपम अरूपी सत्तावान् है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके' (आचारांग १।५।६)

उपरोक्त सभी कथन भाषा की सीमितता और अपर्याप्तता को तथा सत्ता की अवाच्यता या अवक्तव्यता ही सूचित करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या तत्त्व या सत्ता को किसी भी प्रकार वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है। यदि ऐसा होगा तो सारा वाक्-व्यवहार निरर्थक होगा। श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्र और आगम व्यर्थ हो जाएँगे। यही कारण था कि जैन चिन्तकों ने सत्ता या तत्त्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



को समग्रतः (एज़ ए होल) अवाच्य या अवक्तव्य मानते हुए भी अंशतः या सापेक्षतः वाच्य माना। क्योंकि उसे अवक्तव्य या अवाच्य कहना भी तो एक प्रकार का वचन या वाक्-व्यवहार ही है, यहाँ हमारा वाच्य यह है कि वह अवाच्य है। अतः हमें व्यवहार के स्तर पर उतर कर सत्ता की वक्तव्यता या वाच्यता को भी स्वीकार करना होगा। क्योंकि इसी आधार पर श्रुतज्ञान एवं आगमों की प्रमाणिकता स्वीकार की जा सकती है।

जैन आचार्यों ने दूसरों के द्वारा किये गये संकेतों के आधार पर होनेवाले ज्ञान को श्रुत कहा है। संक्षेप में समस्त आनुभविक ज्ञान मतिज्ञान और सांकेतिक ज्ञान श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान की परिभाषा है– जिस ज्ञान में संकेत-स्मरण है और जो संकेतों के नियत अर्थ को समझने में समर्थ हैं वही श्रुतज्ञान है। दूसरे शब्दों में जो ज्ञान संकेत और वचन-श्रवण के द्वारा होता है वह श्रुतज्ञान है (विशेषावश्यक-भाष्य १२० एवं १२१)। सामान्यतया श्रुतज्ञान का मुख्य आधार शब्द है किन्तु हस्तसंकेत आदि अन्य साधनों से होनेवाला ज्ञान भी श्रुतज्ञान कहलाता है क्योंकि श्रुतज्ञान के दो भेद प्रसिद्ध हैं– अक्षर श्रुत और अनक्षर श्रुत। अक्षर श्रुत के तीन भेद हैं– संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर। वर्ण का ध्वनि संकेत अर्थात् शब्द–ध्वनि व्यंजनाक्षर है। वर्ण का आकारिक संकेत अर्थात् लिपि संकेत संज्ञाक्षर है। लिपि-संकेत और शब्द-ध्वनि-संकेत के द्वारा अर्थ को समझने की सामर्थ्य लब्ध्यक्षर है। शब्द या भाषा के बिना मात्र वस्तु-संकेत, अंग-संकेत अथवा ध्वनि-संकेत द्वारा जो ज्ञान होता है वह अनक्षर श्रुत है। इसमें हस्त आदि शरीर के संकेतों, झण्डा आदि वस्तु संकेतों तथा खासना आदि ध्वनि संकेतों के द्वारा अपने भावों एवं अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया जाता है। संक्षेप में वे सभी सांकेतिक सूचनाएँ जो किसी व्यक्ति के ज्ञान, भाव या विचार को सार्थक रूप से प्रकट कर देती है और जिसके द्वारा पर (दूसरा व्यक्ति) उनके लक्षित अर्थ का ग्रहण कर लेता है, श्रुत-ज्ञान है। चूंकि श्रुतज्ञान प्रमाण है अतः मानना होगा कि शब्द-संकेत या भाषा अपने विषय या अर्थ का प्रमाणिक ज्ञान देने में समर्थ है। दूसरे शब्दों में सत् या वस्तु वाच्य भी है। इस प्रकार जैन दर्शन में सत्ता या वस्तुतत्त्व को अंशतः वाच्य या अवक्तव्य और समग्रतः अवाच्य या अवक्तव्य कहा गया है। यहाँ यह विचार कर लेना भी आवश्यक है इस अवक्तव्यता का क्या अर्थ है।

**अवक्तव्य का अर्थ :–** डॉ. पद्मराज ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है :–

(१) पहला वेदलालीन निषेधात्मक दृष्टिकोण जिसमें विश्वकारण की खोज करते हुए ऋषि इस कारण तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है, यहाँ दोनों पक्षों का निषेध है। यहाँ सत्ता की अस्ति (सत्) और नास्ति (असत्) रूप से वाच्यता का निषेध किया गया है।

(२) दूसरा औपनिषदिक दृष्टिकोण जिसमें सत्, असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है। जैसे : "तदेजति तन्नैजति" 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'सदसद्वरेण्यम्' आदि। यहाँ दोनों पक्षों की स्वीकृति है। यहाँ उसे दो विरुद्ध धर्मों से युक्त मानकर उसको भाषा के द्वारा अवाच्य कहा गया है।

(३) तीसरा दृष्टिकोण जिसमें तत्त्व को स्वरूपत. अव्यपदेश्य या अनिर्वचनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में ही मिलता है। जैसे– "यतो वाचो निवर्तन्ते", "यद्वाचाभ्युदित्य, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्य:" आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद की चतुष्टकोटि-विनिर्मुक्त तत्त्व की अवधारणा में भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।

(४) चौथा दृष्टिकोण जैन न्याय में सापेक्षिक अवक्तव्यता या सापेक्षिक अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है। जिसमें सत्ता को अंशत: वाच्य और समग्रत: अवाच्य कहा गया है।

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं :–

(१) सत् व असत् दोनों रूप से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(२) सत्, असत् और सदसत् तीनों रूपों से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(३) सत्, असत्, सत्-असत् (उभय) और न सत् न असत् (अनुभय) इन चारों रूपों से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(४) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अक्तव्य मानना। अर्थात् यह कि वस्तु-तत्त्व अनुभव में तो हो सकता है किन्तु कहा नहीं जा सकता क्योंकि वह अनुभव-गम्य है, शब्द-गम्य नहीं।

(५) सत् और असत् दोनों को युगपत् रूप से स्वीकार करना किन्तु उसके कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना।

(६) वस्तुत्व अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं उतने वाचक शब्द नहीं है। अतः वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशत: वाच्य और अंशत: अवाच्य मानना।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन परम्परा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया जैन परम्परा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



असत् दोनों का युगपत् विवेचन नहीं किया जा सकता है इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है किन्तु यदि हम प्राचीन जैन आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का अर्थ अन्तिम नहीं कहा जा सकता है। आचारांग सूत्र में आत्मा के स्वरूप को वचना-गोचर कहा गया है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके। इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है। पुनः वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता और शब्द संख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व को अवक्तव्य माना गया है। आचार्य नेमीचन्द्र ने गोम्मटसार में अनभिलाप्य-भाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव में आये वक्तव्य भावों के अनन्तवे भाग का ही कथन किया जा सकता है। अतः यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परम्परा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पाँचवें और छठे अर्थ मान्य रहे हैं। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। अर्थात् वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य तो नहीं है किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व को पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान-प्रदान का कोई रास्ता ही नहीं रह जाएगा। अतः जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता या अवाच्यता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह निर्वचनीय या वाच्य भी है। सत्ता अंशतः निर्वचनीय है और अंशतः अनिर्वचनीय। क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट छह अर्थों में से पहले तीन को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है।

जैन दर्शन में सप्तभंगी की योजना में एक भंग अवक्तव्य भी है। सप्तभंगी में दो प्रकार के भंग हैं– एक मौलिक और दूसरे सांयोगिक। मौलिक भंग तीन हैं– स्याद्अस्ति, स्याद्नास्ति और स्याद् अवक्तव्य। शेष चार भंग सांयोगिक हैं, जो इन तीन मौलिक भंगों के संयोग से बने हुए हैं। प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य जैन दर्शन में अवक्तव्य या अवाच्य के अर्थ को स्पष्ट करना था। हमने देखा कि सामान्यतया जैन दार्शनिकों की अवधारणा यह है कि वस्तु में एक ही समय में रहे हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् रूप से अर्थात् एक ही साथ प्रतिपादन करना भाषायी सीमाओं के कारण अशक्य है क्योंकि ऐसा कोई भी क्रियापद नहीं है जो एक ही कथन में एक साथ विधान या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



निषेध दोनों कर सके। अतः परस्पर विरुद्ध और भावात्मक एवं अभावात्मक धर्मों की एक ही कथन में अभिव्यक्ति की भाषायी असमर्थता को स्पष्ट करने के लिये ही अवक्तव्य भंग की योजना की गई है। किन्तु जैन परम्परा में अवक्तव्य का यही एक मात्र अर्थ नहीं रहा है।

मेरी दृष्टि में अवक्तव्यता या अवाच्यता का भी एक ही रूप नहीं है। प्रथम तो "है" और "नहीं है" ऐसे विधि प्रतिषेध का युगपद् (एक ही साथ) प्रतिपादन सम्भव नहीं है अतः सत्ता को अवक्तव्य या अवाच्य कहा गया है। दूसरे, निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन सम्भव नहीं है, अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे, अपेक्षाएँ अनन्त हो सकती हैं किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन सम्भव नहीं है इसलिए भी उसे अवक्तव्य या अवाच्य मानना होगा। चौथे, प्रत्येक वस्तु में अनन्त विशिष्ट गुणधर्म हैं, किन्तु भाषा में प्रत्येक गुण-धर्म का वाचक शब्द नहीं है, इसलिए वस्तुतत्त्व अवाच्य कहा गया। पांचवे, प्रत्येक वस्तु के गुणधर्म विशेष होते हैं और शब्द सामान्य होता है और सामान्य शब्द उस 'विशेष' की विशिष्टता का समग्रतः वाचक नहीं हो सकता। इस प्रकार जैन दर्शन में सत्ता समग्र रूप से अवाच्य होते हुए भी सापेक्ष एवं अंश रूप से वाच्य भी है।

– सागरमल जैन

निदेशक,
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी (उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# संघटनावाद का सत्ताशास्त्रीय मूल्यांकन

ज्ञान की दो तार्किक कोटियाँ उद्देश्य और विधेय हैं। इनको ज्ञाता और ज्ञेय की सत्तात्मक कोटियाँ मान लेना एक दार्शनिक भूल है। ऐसी भूल की दो जुड़वाँ सन्तानें यथार्थवाद और विज्ञानवाद हैं। दार्शनिक यथार्थवाद विधेय को ज्ञेय पदार्थ बनाकर उसे सम्पूर्ण सत्ता मान लेता है। दार्शनिक विज्ञानवाद (Idealism) उद्देश्य को ज्ञाता, आत्मा बनाकर उसे ही सम्पूर्ण सत्ता मान लेता है। अतः यथार्थवाद (Realism) और विज्ञानवाद (Idealism) दोनों ही एकांगी और पक्षपाती दर्शन प्रणालियाँ हैं। इनमें सम्पूर्ण अनुभव या सत्ता की पकड़ नहीं होती।

यथार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों ही तार्किक प्रणाली पर आधृत सत्ताशास्त्र के आभास मात्र है। तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा तर्कशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुरूप विचारों में स्पष्टता और क्रमबद्धता प्रदान करते हैं। तर्कशास्त्र वैध तर्कों के सिद्धान्त का विज्ञान है, न कि सत्ता का विज्ञान। तत्त्व-विज्ञान और सत्ताशास्त्र तर्कशास्त्र से अलग और उसके आधारभूत विज्ञान हैं। सत्ताशास्त्र सत्ता की तलाश करता है, सत्ता या तत्त्व के स्वरूप पर विचार करता है। तर्कशास्त्र वैचारिक आकारों की तलाश करता है, उनकी संरचना करता है। अतः सत्ताशास्त्रीय समस्याओं का समाधान ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा की तार्किक प्रणालियों से नहीं हो सकता।

लेकिन पाश्चात्य दर्शनशास्त्र का यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी दार्शनिकोंने सत्ताशास्त्रीय सिद्धान्त की तलाश या तो ज्ञानमीमांसा या मूल्यमीमांसा के माध्यम से करते हुअे या तो यथार्थवाद या विज्ञानवाद को अपना लिया। ग्रीक परमाणुवादियों ने ज्ञेय जगत् को सम्पूर्ण सत्ता प्रदान की तो सुकरात के शिष्य प्लेटो ने ज्ञाता–तत्त्व को सत्ता मान लिया। बुद्धिवादी देकार्त, स्पिनोजा और लायबनिज ने आत्मतत्त्व पर बल दे कर विज्ञानवादी रूख अपनाया तो लॉक ने दर्शन को यथार्थवादी दिशा दी। इसका विरोध कर के बर्कले ने आत्मपरक विज्ञानवाद को संवर्धित किया तो काण्ट ने अनुभवातीत विज्ञानवाद को प्रस्तुत किया जिसे हेगेल ने तार्किक पूर्णता प्रदान की।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क २, मार्च १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हेगलोत्तर दर्शनशास्त्र में हम इस बात की अनुभूति पाते हैं कि यथार्थवाद और विज्ञानवाद का हूँ हूँ मैं मैं अदार्शनिक हैं। समकालीन दर्शनशास्त्र की अनेक प्रमुख प्रणालियाँ इस अनुभूति पर आधृत हैं कि यथार्थवाद और विज्ञानवाद से सत्ता की पकड़ नहीं हो सकती। सत्ता की पकड़ के लिये हमें इन वादों या जल्पों के परे जाने की आवश्यकता है।

समकालीन संघटनावाद (Phenomenology) इसी दार्शनिक अनुभूति की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। संघटनावाद सत्ताशास्त्र को ज्ञानमीमांसा और मूल्य-मीमांसा से अलग स्वतंत्र स्थान प्रदान करता है। तदर्थ यह ज्ञाता और ज्ञेय या उद्देश्य और विधेय को सत्तारहित करके यथार्थवाद और विज्ञानवाद को निरस्त करने का सुझाव प्रस्तुत करता है। ब्रेण्टानो ने, जो संघटनावाद के प्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं, अपनी पुस्तक 'सायकालोजी फ्रॉम एन इम्पिरिकल स्टैण्डप्वाइण्ट' में विचारों के मनोवैज्ञानिक उद्भव और उनकी तार्किक वैधता के मध्य अन्तर स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि हर मनस्–संघटना पारदर्शी होती है और किसी वस्तु का संकेत करती है। उनके अनुसार प्रत्येक मानसिक क्रिया में एक आभिप्रायिक निर्देश होता है। यह निर्देश क्या है और इसका निर्दिष्ट पदार्थ क्या है इसका समुचित परीक्षण ब्रेण्टानो ने नहीं किया। इस काम को माइनांग ने हाथ में लिया। विषय-वस्तु और पदार्थ सम्बन्धी भेद के निर्धारण के लिए उन्होंने पोलैण्ड के दार्शनिक द्वारडोवस्की की सहायता ली। द्वारडोवस्की ने अपनी पुस्तक "टुआर्डस् ए थ्योरी आफ द कण्टेण्ट एण्ड ऑब्जेक्ट आफ प्रेजेण्टेशन्स" में मनस्-संघटना के तीन संयोजक प्रत्ययों का भेद स्पष्ट किया है। ये हैं :– मानसिक क्रिया, उसकी विषय-वस्तु और इन दोनों की आधारस्तम्भ वस्तु। "विषयवस्तु या पदार्थ वह अवस्था है जिसकी ओर मानसिक क्रिया गतिमान् होती है।"[1] इस तरह किसी 'पदार्थ' का वस्तु होना आवश्यक नहीं है। ये पदार्थ अस्तित्ववान् या अस्तित्वविहीन हो सकते हैं। वृक्ष, घर, कलम आदि अस्तित्ववान् पदार्थ हैं। सम्बन्ध, अंक, जल-परियाँ, एक-शृंगाश्व आदि अस्तित्वविहीन पदार्थ हैं। उद्दिष्ट या पदार्थ मानसिक क्रिया के समक्ष निर्णय या वाक्य के रूप में आते हैं। 'सूर्य कल पूर्व में निकलेगा' यह एक पदार्थ या उद्दिष्ट है। इन्हें हम तर्कशास्त्र में तर्कवाक्य कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माइनांग ने ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की महत्ता को स्वीकार कर के यथार्थवाद और विज्ञानवाद को निरस्त करने का सुझाव प्रस्तुत किया है। लेकिन माइनांग के संघटनावाद में ज्ञाता और ज्ञेय के परस्पर सम्बन्ध की पर्याप्त परीक्षा और प्रतिष्ठापना नहीं हो सकी।

हुसर्ल ने अपने पूर्ववर्ती संघटनावादियों के दिशा-निर्देश को समझा और उसे आगे बढ़ाया। हुसर्ल की आरम्भिक पुस्तकें हैं : "लॉजिकल इनवेस्टिगेशन्स,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



एक्सपीरियन्स एण्ड मीनिंग, युनीवर्सल्स एण्ड एक्सेट्रेक्शन, द एनालिसिस आफ ह्वोल एण्ड पार्ट, द आयडिया आफ ए प्योर ग्रामर" तथा "एक्सपेरियन्स एण्ड कण्टेण्ट"। इन सब में उनका उद्देश्य यह दर्शाना था कि अनुभववाद (Empiricism) तर्कसम्मत नहीं है। तर्क अन्तर्दृष्टि पर आधृत है, न कि अनुभव-जन्य सामान्यीकरण पर।

हुसर्ल ने कहा कि संघटनात्मक बिश्लेषण में हम अस्तित्व की चर्चा नहीं करते बल्कि केवल मानसिक तत्त्वों का विचार करते हैं। मानसिक संघटनाएँ पारदर्शी होती हैं। ये किसी बाह्य सत्ता का निर्देश नहीं करतीं। हम जब संघटनाओं का विश्लेषण करते हैं तो हम केवल इनके उद्देश्य, आशय, या अर्थ को जानना चाहते हैं। ऐसे विश्लेषण में हम दैनिक जीवन के वस्तुगत आयाम पर नहीं जाते। इस तरह विच्छेद (या Epoche) की प्रक्रिया द्वारा हुसर्ल ने सार-तत्त्वों को वस्तुतत्त्वों से अलग किया। इससे वस्तुओं के उद्घाटन का निलम्बन हो गया। इस प्रक्रिया में हर प्रकार की सत्ता को प्रकोष्ठीकृत (Bracketed) करके केवल प्रतीतियों, प्रत्ययों या सारतत्त्वों (Essences या Concepts) का विश्लेषण किया जाता है। इस तरह उद्देश्य और विधेय दोनों को सत्तात्मकता से च्युत करके हुसर्ल ने यथार्थवाद और विज्ञानवाद को निरस्त करने का सशक्त मार्ग प्रस्तुत किया। इससे सत्ताशास्त्र ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा की परिधि और पहुँच के परे हो जाता है। हुसर्ल ने कहा कि गणित की तरह संघटनावाद केवल सम्भाव्यता का विज्ञान है और सम्भाव्यता ठोस वस्तुओं के अस्तित्व से पूर्व आती है।[२]

लेकिन अपने बाद के दार्शनिक विचारों में हुसर्ल शुद्ध संघटनात्मक और वैचारिक विश्लेषण से हटकर एक सत्ताशास्त्रीय संरचना में जुट गये। उनके प्रारम्भिक दर्शन में उद्देश्य और विधेय केवल तार्किक कोटियाँ थी। परन्तु अब वे उद्देश्य को ज्ञाता मानने लगे। ज्ञाता या अनुभवातीत विषयी या आत्मा (Transcendental Ego) अब केवल संघटनाओं में व्यवस्था या स्पष्टता प्रदान करनेवाला तार्किक सिद्धान्त ही नहीं रह जाता। वह अब सत्तात्मक हो जाता है। हुसर्ल का यह विचार उन्हें काण्ट के समान अनुभवातीत विज्ञानवादी (Transcendental Idealist) बना देता है। हुसर्ल के दर्शन का यह रूप उनके Formale und Transcendentale Logik में देखा जा सकता है।

मारविन फार्बर ने हुसर्ल की आलोचना करते हुए कहा है कि हुसर्ल ने पहले तर्कवाक्यों और प्रत्ययों के विश्लेषण की पद्धति अपनायी और बाद में जब वे इस मौलिक पद्धति का परित्याग कर यह मानने लगे कि ज्ञेय पदार्थों की परि-कल्पना केवल आत्मपरक सन्दर्भ में ही हो सकती है तो वे बर्कले से अलग दिखाई नहीं देते। हुसर्ल वस्तुतः "आत्मपरक परिस्थिति" का उपयोग करते हैं और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



आर. बी. पेरी द्वारा बताई गयी 'आरम्भिक विधेयकता की परिभाषा' Definition by initial predication के दोषी हो जाते हैं।[३] हुसर्ल का दर्शन इस तरह एकांगी हो जाता है। वे ज्ञाता को सम्पूर्ण सत्ता प्रदान कर देते हैं और ज्ञाता को तज्जनित गौड़ स्थान दे देते हैं। वे ज्ञेय की सत्ता ज्ञाता की सत्ता पर आधृत और उससे निस्सृत समझने लगे। इसके कारण उनके दर्शन में आत्मपरक विषय और अस्तित्व की वस्तुगत सत्ता में गड़बड़ी पैदा हो गयी। यह गड़बड़ उनकी पुस्तक Philosopher der Arithmatic में भी देखी जा सकती है। फ्रेग ने हुसर्ल की इस बात के लिए आलोचना की और कहा कि हुसर्ल ने 'चाँद' और 'चाँद की प्रतीति' का अन्तर स्पष्ट नहीं किया। हुसर्ल ने इस बात का अनुभव किया और बाद में मनोवैज्ञानिकता Psychologism का त्याग कर अनुभवातीत मनोवैज्ञानिकता का संवरण व संवर्धन किया। लेकिन इससे हुसर्ल का दर्शन आत्मपरक विचारों के ढाँचों और सम्बन्धों की सीमा में बन्ध गया।

आरम्भ में हुसर्ल ने देकार्त की भाँति दर्शन को भौतिक जगत् की सन्दिग्धता से मुक्त कर गणितीय निश्चितता प्रदान करने का प्रयास किया। इस पद्धति से दर्शन को निश्चित ही कुछ उपलब्धि मिली। लेकिन इस थोड़ी-सी उपलब्धि के लिए संघटनावाद ने बहुत कुछ खो दिया। वास्तविक अस्तित्व का बहुत बड़ा भाग संघटनावाद में दार्शनिक महत्व न पा सका। ज्ञेय जगत् की उपेक्षा हो गयी। ज्ञाता को सम्पूर्ण सत्ता मान लेने से सत्ता के ज्ञेयात्मक या वस्तुपरक पक्ष की पकड़ न हो सकी और सत्ता का अवमूल्यन हो गया। मारविन फार्बर ने कहा है :-

"हुसर्ल एवं दूसरों के आत्मपरक दर्शन ने पद्धति और मौलिक प्रत्ययों के स्पष्टीकरण में महान् योगदान किया है। लेकिन वे सभी, जो अवैध अज्ञान के दोषी नहीं हैं, यह मानेंगे कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो आत्मपरक पद्धति से नहीं दर्शाई जा सकती।"[५] ऐसी पद्धति तर्कशास्त्र के दर्शन और वर्णनात्मक मनोविज्ञान में पर्याप्त उपयोगी है। लेकिन इतिहास-दर्शन में जहाँ हमारा सामना वास्तविक घटनाओं और व्यक्तियों से होता है, यह पद्धति कामगर नहीं हो सकती।

संघटनावाद की प्रथम भूल यह है कि यह मनोवैज्ञानिक, तार्किक या प्रत्ययों के संघटनात्मक विश्लेषण को सत्तात्मक विश्लेषण मान बैठता है। द्वितीय भूल यह है कि यह सम्पूर्ण सत्ता की महत्ता को न समझ कर उसके एक पक्ष–ज्ञाता– को सम्पूर्ण सत्ता मान लेता है। इससे ज्ञेय पक्ष की उपेक्षा हो जाती है। तृतीय भूल यह है कि संघटनावाद ज्ञाता के केवल ज्ञानात्मक पक्ष को दार्शनिक महत्व देता है। आत्मा के अन्य पक्ष जैसे संकल्पात्मक, क्रियात्मक, संवेगात्मक आदि की उपेक्षा हो जाती है। आत्मा के अनेक कार्य हैं जिनमें ज्ञान केवल एक कार्य है। इन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



विसंगतियों का मुख्य कारण यह है कि हुसर्ल अपने परवर्ती विचारों में सत्ताशास्त्र को ज्ञानमीमांसा के अन्दर गौड़ स्थान देने का प्रयास करने लगे।

ज्ञानमीमांसा के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। वह विचारों के प्रकार की खोज करती है। लेकिन उससे सत्ताशास्त्र का निगमन नहीं किया जा सकता। हुसर्ल जब आत्मतत्त्व में सम्पूर्ण सत्ता का निवेश कर उससे ज्ञेय जगत् की सत्ता का निगमन करते हैं तो उनका विज्ञानवादी दृष्टिकोण उनके दर्शन पर हावी हो जाता है। उनका विज्ञानवादी पक्षपात उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जब वे वस्तु जगत् को केवल प्रत्यय कह देते हैं। उनके अनुसार मन और मानसिक प्रत्यय ही अन्तर्जनित जगत् के घटक हैं। कहा जा सकता है कि आत्मत्व को प्राथमिकता देने का उनका प्रयास केवल रीतिवैज्ञानिक (Methodological) है नकि तात्त्विक। किन्तु यह सत्य नहीं है। हुसर्ल का संघटनावाद उस समय केवल रीतिवैज्ञानिक नहीं रह पाता जब वे आत्मत्व को अनुभव के पूर्व प्रतिस्थापित कर उसमें पूर्ण सत्ता का निवेश करने लगते हैं। "यह बात हुसर्ल के इस कथन से स्पष्ट है कि अनुभव प्रत्येक प्रत्ययात्मक सत्य से पूर्व प्रतिष्ठित है, और प्रत्यक अनुभव के पूर्व अस्तित्व प्रतिष्ठित है और प्रत्येक अस्तित्व के पूर्व व्यक्तिगत सत्ता अपेक्षित है तथा प्रत्येक व्यक्तिगत सत्ता आत्मत्व की प्रागपेक्षा करती है। वे स्पष्टतः आदर्शवादी परम्परा का पालन करते हैं। वे विज्ञानवाद या आदर्शवाद का मूल सिद्धान्त छोड़ नहीं पाते।"[६]

प्रत्यय से सत्ता का निगमन नहीं हो सकता। प्रयोजनात्मक, आशयिक या आभिप्रायिक विश्लेषण में हमें प्रयोजन, प्रत्यय या आदर्श की प्राप्ति हो सकती है किन्तु इससे सत्ता की पकड़ नहीं हो सकती। "विच्छेद, निलम्बन और संरचनात्मक कार्यविधि सत्ताशास्त्र के लिए भूमिका तैयार कर सकते हैं लेकिन वे उसका प्रजनन नहीं कर सकते। हम किसी हैट से उतनी ही वस्तुएँ निकाल सकते हैं जितनी उसमें रखी हों, उससे अधिक नहीं।"[७] अतः हुसर्ल का संघटनावाद आदर्शों या अमूर्त प्रत्ययों तक ही सीमित रह सकता है। इनसे हम वस्तुजगत् का तनिक भी ज्ञान नहीं पा सकते। फार्बर ठीक ही कहते हैं कि "सभी शुद्धीकरण की प्रक्रियाओं के साथ पाये जानेवाले विच्छेद Epoche पर जिस सत्ताशास्त्र का संवर्धन हुसर्ल ने किया है वह वास्तविक सत्ताशास्त्र नहीं हो सकता।"[८]

विचारक के रूप में हुसर्ल ने प्रधानतः दो कार्य किये हैं। संघटनावादी विचारक के रूप में हुसर्ल ने तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा को सत्ताविषयक चर्चा से मुक्त करके असाध्य काम किया है। अपनी पुस्तक "लॉजिकल इन्वेस्टिगेशन्स" में उन्होंने यह खूब स्पष्ट किया है कि तर्कशास्त्र और संघटनावाद का मुख्य उद्देश्य संघटनाओं, प्रयोजनों को समझना है। ऐसा करने के लिए हमें संघटनाओं की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



सत्ता को निलम्बित करना पड़ता है और उनको हम उनकी प्रतीतियों या प्रत्ययों की तरफ मोड़ते हैं। हुसर्ल के प्रतीत्यात्मक विच्छेद Eidetic Reduction का यही उद्देश्य है। इसका मतलब है संघटनाओं के अस्तित्वात्मक रूप को कोष्ठीकृत कर देना। सत्ता की समझ और उसका विवेचन सत्ताशास्त्र का विषय है। हुसर्ल के इसी दृष्टिकोण ने समकालीन दर्शन में महान् योगदान किया है।

लेकिन हुसर्ल के संघटनावाद का दूसरा पक्ष भी है जिसमें उन्होंने सत्ता-शास्त्रीय समस्याओं के समाधान को ज्ञानमीमांसा के माध्यम से प्राप्त करने का असफल प्रयास किया है। इस रूप में उन्होंने अनुभवातीत आत्मत्व को सर्वोच्च सत्ता प्रदान कर उससे वस्तुजगत् का निगमन करना चाहा है। उनका यह दृष्टिकोण उनके प्रथम दृष्टिकोण के बिलकुल विरुद्ध और उससे असंगत है।

– गोरखनाथ मिश्र

दर्शन विभाग
धेम्पे महाविद्यालय
पणजी, गोवा

## टिप्पणियाँ

१. जॉन पैसमोर – **दर्शन के सौ वर्ष**– अनु-चाँदमलशर्मा व कलानाथशास्त्री– वैज्ञानिक तथा तकनीकी आयोग, शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार-पृ. २२२
२. एडमण्ड हुसर्ल– **आयडियाज : जेनरल इण्ट्रोडक्शन टू प्योर फेनोमेनाकोजी**– अनु. डब्ल्यू ब्वायस गिब्सन-जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, १९३१ पृ. १३
३. मारविन फारबर – **फेनोमेनालोजी एण्ड एग्ज़िस्टेन्स** टारपर एण्डरो पब्लिशर्स– १९६७ पृ. २४
४. वहीं पृ. ४–५
५. वहीं पृ. १३
६. वहीं पृ. ९५
७. वहीं पृ. १०६
८. वहीं पृ. १११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# रीतिकालीन रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य में शृंगार-दर्शन

'रीति' शब्द रीतिकालीन काव्य में काव्य-विधान यानी काव्य-रचना की वैज्ञानिक पद्धति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी में रीतिकालीन कवियों ने विभिन्न काव्य-अंगों के साथ 'रीति' शब्द का प्रयोग किया है, जिससे 'रीति' शब्द का अर्थ व्यापक हो गया है। चिंतामणि ने 'काव्य रीति', मतिराम ने 'रस-रीति', सोमनाथ ने 'छंद-रीति', देव ने 'कवि-रीति' तथा दूलह ने 'अलंकार की रीति' की बात कही है। तो इस प्रकार 'रीति' शब्द का अर्थ हो गया– रचना से सम्बन्धित नियमों का विधान। जिस ग्रन्थ में रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो, वह रीतिग्रन्थ कहलाएगा। जिस काव्य की रचना इन नियमों के आधार पर हो, वह रीतिकाव्य होगा।

जिसे हमने रीतिकाव्य कहा है, वही रीतिबद्ध काव्य कहा जाता है। रीति-ग्रन्थों में काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों के लक्षण और फिर उनके उदाहरण दिये जाते थे। वे उदाहरण रीतिबद्ध काव्य में गिने जाएँगे। केशव, मतिराम, चिन्तामणि, देव, पद्माकर आदि का काव्य रीतिबद्ध काव्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार–जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो, वह भी रीति-कवि है।' बिहारी ऐसे कवि हैं। उन्होंने काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों के लक्षण नहीं दिए, किन्तु उनका काव्य उन लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत करता है। अतः बिहारी भी रीतिबद्ध काव्य (रीति काव्य) में ही आते हैं।

जिन कवियों ने न तो इन नियमों का विवेचन किया है, न ही उनके आधार पर काव्य-रचना की है, वे कवि रीतिमुक्त कवि कहे जाते हैं और उनका काव्य रीतिमुक्त काव्य। रीतिमुक्त कवि दरबारी जीवन से दूर थे, अतः उन पर काव्य-शास्त्रीय परम्परा का न तो प्रभाव पड़ा है, न ही उन्हें यह प्रभाव ग्रहण करने की कोई विवशता थी। ये स्वच्छंद कवि कहे जा सकते हैं। घनानंद, आलम, ठाकुर, बोधा आदि कवि रीतिमुक्त कहे जाते हैं।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क २, मार्च १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हिन्दी साहित्य के तृतीय काल-खंड का नाम 'रीतिकाल' जिन रचनाओं के आधार पर रखा गया, वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काव्यशास्त्र से जुड़ी थीं। ऐसी रचनाएँ, अधिकांशतः, दरबारों में ही लिखी गयीं, क्योंकि उन्हें यश व अर्थ के लिए 'सामन्ती मोद' यानी आश्रयदाताओं की विलास-वृत्ति को ध्यान में रखकर लिखना था। स्पष्ट है कि इनका मुख्य विषय शृंगार रहा होगा। यद्यपि 'रीतिकाल' नाम से अधिकांश समीक्षक दरबारी काव्य या रीतिमुक्त शृंगारी काव्य से लेते हैं, किन्तु दरबारी घेरे से बाहर बहुत विपुल परिमाण में साहित्य लिखा गया है। इस विविधमुखी साहित्य में शृंगारी काव्य छोटा-सा स्थान रखता है। अस्तु। यहाँ रीतिबद्ध और रीतियुक्त-शृंगारी काव्य का तुलनात्मक विश्लेषण अभिप्रेत है।

काव्य एक कला है। रीतिकाल की कला सामाजिक प्रवृत्ति और दरबारी परिवेश से बहुत प्रभावित रही। काव्य-कला की बात करें, तो रीतिबद्ध काव्य दरबारी परिवेश से और रीतिमुक्त काव्य कवियों के मनःसंघातों से प्रेरित और प्रभावित रहा। यह युग वस्तुतः आडम्बरों और कृत्रिमताओं का युग था, जो दरबारी जीवन से काफी प्रभावित रहा। औरंगजेब के बाद दरबार में वास्तविक वैभव का स्थान वैभव के प्रदर्शन ने ले लिया था। अन्य राजा भी इसी का अनुकरण कर रहे थे। दरबार में नर्तकी दैनिकी का एक अनिवार्य अंग थी, जिससे कवि, मूर्तिकार, चित्रकार-- सभी प्रभावित होते थे। अतः इन्हें स्थूल शृंगार की प्रेरणा मिलना स्वाभाविक था।

कला के क्षेत्र में दो प्रकार के मनीषी प्रवेश करते हैं। एक परम्परा के अनुसर्ता होते हैं और दूसरे स्वानुभूति के उद्गाता। पहला शास्त्रीय मार्ग है, जिसमें सीमाओं के बन्धन में रहकर कला-वैभव प्रदर्शित किया जाता है। रूढियों से ऊब चुके कलाकार स्वच्छन्द धारा को जन्म देते हैं। साहित्य में दोनों प्रवृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। रीतिकालीन काव्य में दोनों प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

दोनों धाराओं की तुलना से पूर्व दोनों कवियों के व्यक्तित्व में निर्मायक तत्त्वों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। रीतिबद्ध कवियों की शृंगारिक रचनाओं का प्रेरक तत्त्व 'अर्थ' था, 'यश' तत्त्व गौण था। अतः राजाश्रय में जाने पर राजाओं की ऐश्वर्य- वृत्ति और दरबार के मादक परिवेश ने उनके काव्य का स्वरूप निश्चित किया। राज-कृपा पाने के लिये उनके व्यक्तित्व की सीमाएँ निश्चित होती गयीं। शृंगार-चित्रण में सामन्तीय रसिकता तथा संस्कृत की ह्रासोन्मुखी परम्परा के लदाव ने उसे रूढिवादी व चिन्तनहीन बना दिया। दरबार में अपने कवित्व का ठोस प्रमाण देने के लिए उन्होंने काव्यशास्त्र का आधार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



लिया। इस नयी स्थिती में अपने मानसिक तनाव को आधार देने के लिए उसने भक्ति का आवरण ओढ लिया। उधर दरबार में फारसी के कवियों से होड़ बनाये रखने के लिए रीतिबद्ध कवि ने कामशास्त्र का आधार ग्रहण किया। इस प्रकार यह काव्य उनके भीतर की उपज न होकर उनके आरोपित व्यक्तित्व की देन कहा जा सकता है। जगदीश गुप्त का मत है कि ये कवि 'संघर्ष–चेतना से विमुख थे, अतः नवीन दिशाओं का संधान न कर सके।' यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। कवि का सबसे बड़ा संघर्ष आत्म-संघर्ष होता है। वह स्वयं अपने संस्कारों से, अपनी मानसिकता से, अपने पारिवेशिक उथल-पुथल से जूझता है। इस काल के रीति-कवि भी अपने व्यक्तित्व को दरबारी माहौल के अनुसार छीलते रहे।

किन्तु रीतिमुक्त कवि पर ऐसा कोई दवाव नहीं था। उनका व्यक्तित्व मूलतः प्रणय–दीक्षित है। इनकी काव्य–प्रेरणा इनकी प्रेमिकाएँ हैं अर्थात् भीतरी तत्त्व के लिये वे लिखते रहे हैं। इन्होंने बड़ी निर्भीकता से रूढ़ियों को तोड़ा है। घनानन्द सुजान के लिये मर्यादाएँ तोड़ते हैं, बोधा दूसरी जाति की सुमान से परिणय रचाते हैं। रीतिकवियों की भांति ये कवि अर्थ अथवा यश की कामना से ग्रस्त नहीं थे, अतः व्यक्तित्व में बाधा पड़ने पर इन्होंने दरबार को त्याग दिया। प्रारंभ में दरबार में रहने पर भी इन्होंने अपने व्यक्तित्व पर दरबारी परिवेश को हावी नहीं होने दिया। ये स्वाभिमानी थे। घनानन्द का स्वाभिमान इतना प्रवल है कि घनानन्द केवल सुजान के कहने पर ही गाने हैं। किन्तु झुकने वाले के समक्ष यह भी झुक जाते हैं। कुल मिलाकर काव्य इनके लिये साधन था, साध्य नहीं। वह आश्रय-प्राप्ति के लिये नहीं बल्कि अपनी पीड़ा व्यक्त करने के लिये लिखा गया था। इनकी दृष्टि व्यक्तिनिष्ठ और अन्तर्मुखी थी, रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि वस्तुनिष्ठ और बहिर्मुखी थी।

रीतिबद्ध कवि का मूल विषय श्रृंगार है। 'श्रृंगार' काव्यशास्त्रीय शब्द है जो इसके बंधनों व परम्परा की ओर संकेत करता है। इस सन्दर्भ में रीतिमुक्त कवि का मूल निवेद्य प्रेम है, जो इनकी स्वतंत्रता की ओर संकेत करता है। रीतिबद्ध कवियों ने श्रृंगार को भौतिक स्तर पर ग्रहण किया है, जो कहीं–कहीं मानसिक स्तर का स्पर्श करता है। इनकी श्रृंगार–भावना छल और कुंठा से रहित है। शरीर–सुख की यह साधना रसिकता तक पहुँच गयी है। रीतिमुक्त कवियों ने प्रेम को प्रायः मानसिक स्तर पर चित्रित किया है जो कहीं–कहीं आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त हो जाता है। यदि 'काम' शब्द का स्थूल अर्थ लिया जाये, तो रीतिबद्ध कवि बंधन में रहकर काम–दंश से पीड़ित रहता है, जबकि रीतिमुक्त कवि मुक्त रहकर काम–दंश से मुक्त रहता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



रीतिबद्ध काव्य में परिवेश के अनुकूल संयोग–वर्णन को प्रधानता मिली है। यहाँ प्रेम–संबंधी क्रियाओं का जमकर वर्णन हुआ है। प्रथम दर्शन और प्रथम प्रणय की उत्पत्ति के चित्रों में प्रायः आकर्षण और स्तम्भन की दशा का वर्णन हुआ है, जिनमें जटिलता की अपेक्षा रमणीयता अधिक है। यथा :

'मोहन मोहि रह्यो कबको कबकी वह मोहनि मोह रही है।'

स्पर्श और आलिंगन के चित्रों में विशेष मादकता दिखायी देती है। यहाँ तक कि लरिका होने ( देव ) या उलझा हार सुलझाने के बहाने ( बिहारी ) भी स्पर्श-सुख खोजा गया है। नायिका को आलिंगित करने के लिये नायक उसकी सखी पर अबीर उछालता है, ताकि उसकी आँखें बन्द हो जाएँ। उधर सखियों का निमंत्रण देखिए :

छीन पितंबर कम्मर तें सुबिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाई कह्यो मुसकाई लला फिर आइयो खेलन होरी॥

नायिका के कटाक्ष-चित्रण के द्वारा भी प्रेम के उन्मादक पक्ष पर ही ध्यान रखा गया है : इनमें मार्मिकता की अपेक्षा चमत्कृति अधिक है। स्तन–वर्णन में भी यही ध्यान रखा गया है : रीतिबद्ध काव्य में भोग–दृष्टि की प्रधानता के कारण ही मुखवर्णन उपेक्षित सा रहा है। यदि है भी, तो 'नित्यप्रति चहुं ओर पूनो' दिखाकर उसे चलता–सा कर दिया है। कुछ स्थलों पर चेचक के दागों और मिस्सी लगे दाँतों का भी वर्णन कर दिया गया है, जो औचित्यपूर्ण नहीं लगता है। इनकी भोगवादी दृष्टि के प्रमाण देखिए—

१. कंचुकी में कसे आवे उकसे उरोज–बिन्दु ( देव )
२. कुंच–गिरि चढ़ि अति थकित हुवै ( बिहारी )
३. सोने के सरोज–से उरोज ( देव )

रीतियुक्त काव्य में सहज सौन्दर्य का स्वाभाविक वर्णन हुआ है। इसका संयोग–वर्णन गौण और कल्पित है। यहाँ कवियों की सौन्दर्य–चेतना रूप की अपेक्षा उसके प्रभाव का वर्णन करने में सचेत रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें अपने स्थायी विरह को काल्पनिक संयोग द्वारा सह्य बनाना ही अभीष्ट था। विशेष रूप से घनानन्द के चित्रों में ऐसा तरल सौन्दर्य द्रष्टव्य है। उनकी तो उक्ति ही उस 'अपार पानिप' के समक्ष ओछी पड़ जाती है। कुल मिलाकर रीतियुक्त काव्य में सुरति और सुरतान्त के चित्र बहुत कम मिलते हैं। उन चित्रों में भी मनोल्लास ही प्रमुख रूप से आया है। सहजता के कारण ये चित्र ताज़गी और नवीनता से भरे हुए हैं। कुछ प्रमाण देखिए—

१. अंग–अंग तरन्त उठै दुति की परिहै मनो रूप अबै घर च्वै।
( घनानन्द )

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



२. अपने अपने निज गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
सखी कारी घटा बरसे बरसाने पै गोरी घटा नन्दगाँव पै री ।।
( ठाकुर )

३. देखें रूप रावरो भयो है जीव बावरो। ( घनानन्द )

लोक-लाज की उपेक्षा करते हुए भी परकीया–प्रेम का वासनात्मक चित्र-प्रस्तुत करना इन्हें अभीष्ट नहीं था। इनकी प्रेम–दृष्टि सूक्ष्म थी, जिसमें भावना की प्रधानता है। इनमें प्रणयगत उदात्तता मिलती है। प्रणयगत उदात्तता वैषम्य–सापेक्ष होती है। अतः घनानन्द में यह उदात्तता सर्वाधिक मिलती है। वहाँ उसकी विकल्पात्मक परिणति भक्ति–भावना में हुई है।

कुल मिलाकर रीतिबद्ध काव्य में वर्णन नायक–नायिका का है, रीतिमुक्त में वर्णन प्रेमिका का है। पहला अनुबंधित है, जबकि दूसरा अनुभूत है। दोनों में मुख्य अन्तर भंगिमा और भावना का है।

रीतिबद्ध काव्य में कुछ मानसिक भाव-चित्र भी मिलते हैं। जहाँ उन्होंने रूप का संश्लिष्ट वर्णन किया है, वहाँ वह यथेष्ट चाक्षुष प्रभाव छोड़ता है। जैसे–

ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई
( मतिराम )

दै गल बाहीं जु नाहीं करी वह नाहीं गुपाल को भूलत नाहीं ( देव )

इसी प्रकार रीतिमुक्त कवियों में भी अपवादस्वरूप कुछ स्थूल चित्र मिलते हैं। बोधा कभी–कभी तो एकदम बाज़ारू ढंग पर उतर आते हैं।

रीतिबद्ध कवियों ने उद्दीपन के लिये वेशभूषा, आभूषणों का भी वर्णन किया है, जो रागात्मक परिवेश के निर्माण में सहायक हुआ है। किन्तु रीतिमुक्त कवियों का वर्णन सहजता व सच्चाई के कारण सौन्दर्य–बोध में विशेष योग देता है। प्रेमिका का काली साड़ी में सोकर उठने का वर्णन इसका एक प्रमाण है।

## विरह–वर्णन

आचार्य विश्वनाथ ने वियोग के चार भेद माने हैं– पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण ( स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मक चतुर्धा स्यात् )। वियोग में क्योंकि संयोग का अभाव निहित है, अतः पूर्वराग और मान भी इसी में गिने जायेंगे।

रीतिबद्ध काव्य में वियोग–वर्णन अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है। कारण यह है कि ऐसा दरबारी माहौल के अनुकूल नहीं पड़ता था। ध्यान देने की बात यह है कि पूर्वराग और मान में फिर भी संयोग अवस्था से निकटता बनी रहती है। अतः रीतिबद्ध काव्य में इन दोनों स्थितियों का विविध सन्दर्भों में सविस्तार रूपायन हुआ है। प्रवास और करुण स्थितियों में कवियों का मन नहीं रमा है। उधर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



रीतिमुक्त काव्य में प्रेम का वियोग पक्ष असाधारण विस्तार से वर्णित है। उसमें मुख्य रूप से प्रवासजन्य विरह का ही रूपायन हुआ है, जो अपने प्रभाव की तीव्रता में प्रायः करुणावस्था में बदल जाता है।

रीतिबद्ध कवियों का विरह-वर्णन अनुभूत नहीं है। अतः उसमें यांत्रिकता और कृत्रिमता स्पष्ट दिखायी देती है। पूर्व-राग की अपेक्षा मान अवस्था के माध्यम से चमत्कार अधिक लाया जा सकता था। मान में भी प्रणयमान की बजाय ईर्ष्यामान को अत्यधिक विस्तार से दिखाया गया है। ऐसा प्रायः सभी कवियों ने मुग्धा, मध्या और प्रौढा-तीनों नायिकाओं में दिखाया है। इससे वक्रोक्ति के प्रयोग करने और चमत्कार दिखाने का अवसर मिल गया। एक प्रमाण ही पर्याप्त होगा—

पलनु पीक अंजनु अधर महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हौ लाल॥ ( बिहारी )

किन्तु देव इसका अपवाद कहे जा सकते हैं। उन्होंने नायिका की दीनता उदासीनता मान-अपमान आदि के भावनामय चित्रों से नारी की करुणा को मूर्त, कर दिया है। जैसे—

साथ में राखिये नाथ उन्हें हम हाथ में चाहति चार चुरी ये ( देव )
कौन तिन्हैं दुख है जिनके तुमसे मन-भावन छैल छबीले। ( देव )

रीतिमुक्त कवियों ने प्रेम के माध्यम से जो पीड़ा प्राप्त की, वही उनकी कविताओं का मूल स्रोत है। इनकी कविताएँ इनकी निराशा को एक उच्च भाव-भूमि प्रदान करती हुई प्रतीत होती हैं। निराशा की इस स्थिति में प्रेम की मार्मिक अभिव्यक्ति हो जाना सहज ही था। इनकी पीड़ा कही नहीं जा सकती—'मिलिकै बिछुरै सोई जानतु है।' उस दुःख की वास्तविक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में बहुत अन्तर हो जाता है। बोधा की तो वेदना सुनने वाला ही कोई नहीं है, जिसे सुनकर कोई भी भावना में बह सकता है। इतने पर भी यह प्रेम-पीड़ा उन्हें शिरोधार्य है, इस पर उन्हें गर्व है। यह पीड़ा ही तो इनके भाव-पक्ष का आकर्षण है, जो पाठक को उस अनुभूति के भीतर से गुजारते हुए अपने साथ बहा ले जाने में सफल है। प्रमाण प्रस्तुत है:—

१. तेरे बाँटे आयो है अंगारन पे लौटिबो ( घनानन्द )
२. होरी-सी हमारे हियें लागियै रहति है ( घनानन्द )
३. हो घन आनन्द जीवन-मूल दई प्यासन भारत मोही (घनानन्द )
४. चहिये सुख तो लहिये दुख को दृग् बार पयोनिधि में बहिये (बोधा)
५. हम कौन सो पीर कहें अपनी दिलदार तो कोऊ दिखातो नहीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अतः रीतियुक्त कवियों की वियोग—व्यथा बड़ी गहन और व्यापक है। उसमें सूक्ष्मता और आसक्ति की तीव्रता दिखायी देती है। यहाँ तक कि संयोग में भी वियोग की आकांक्षा बनी रहती है। कई बार इन्होंने अपनी व्यथा को मौन तक सीमित रखकर उसकी मार्मिक व्यंजना की है।

दूसरी ओर रीतिबद्ध काव्य में नायिका द्वारा पत्र या दूती के माध्यम से सन्देश भेजने की रूढियों का पालन—मात्र हुआ है। यहाँ पुरुष—विरह का वर्णन तो है ही नहीं। रीतियुक्त काव्य में नारी के साथ साथ पुरुष—भाव का विरह भी संतुलित रूप में आया है। बोधा ने 'विरह वारीश' नामक प्रबन्ध काव्य में माधव विरह स्थान-स्थान पर दिखाया है। इनके प्रबन्धों में भी विरह का स्वरूप पर्याप्त गहन और गंभीर है। पुरुष—विरह का वर्णन उस पुरुष—प्रधान समाज में क्रान्तिकारी दृष्टि कही जा सकती है।

रीतिबद्ध कवियों का विरह-काव्य प्रायः शास्त्रीय आधार पर लिखा गया है। किंतु रीतिमुक्त कवियों में आंशिक रूप से यह आधार मिलता है। वहाँ पूर्वराग और मान की स्थितियों का वर्णन न के बराबर है। प्रवास और करुण स्थितियों का चित्रण शास्त्रीय नहीं है, भावावेग की वहाँ प्रधानता मिलती है। अतः आवेग का बंधन से कोई संबंध नहीं है। अतः वहाँ कोई शास्त्रीय आधार खोजना व्यर्थ है। इधर रीतिबद्ध काव्य में फारसी के 'मुबालगा' से प्रभावित होकर ऊहा का खूब प्रयोग किया है। बिहारी की दूर की कौड़ी यानी अतिशयोक्तिमूलक कल्पना प्रसिद्ध है। उनकी विरह-उक्तियों में कागज़ का विरह-ज्वाला से जलना या आंसुओं से गलना, नायिका का साँस लेते हुए सात-आठ हाथ आगे-पीछे जाना आदि अनेक प्रमाण मिल जाएँगे। रीतिमुक्त कवियों के विरह-दर्शन में ऊहा व दूरारूढ कल्पना का प्रायः अभाव रहा है। यद्यपि कुछ अपवाद मिल जाते हैं किन्तु वे भी वैसी उपहासास्पद स्थिति तक न जाकर अपना प्रभाव अवश्य छोड़ जाते हैं। जैसे—

'छाती सों छुवाय दिया बाती आनि बारि ले।' (आलम)

रीतिबद्ध कवि प्रारंभ में दरबार से बाहर रहकर रचना करते रहे हैं। मुक्त-स्थिति के कारण ऐसी रचनाओं में जो वियोग-चित्र प्राप्त होते हैं, वे प्रेमानुभूति में उनकी गहरी पैठ का आभास देते हैं। इसी प्रकार रीतिमुक्त कवि भी प्रारंभ में कुछ समय दरबार में रहकर रचना करते रहे हैं। उन्होंने कुछ शास्त्रीय अध्ययन भी किया था। इस कारण उनके काव्य में कुछ शास्त्रीय दर्शन भी मिल जाते हैं। ऐसा प्रभाव बोधा पर सर्वाधिक पड़ा है। वही ऐसे रीतिमुक्त कवि हैं, जिन्होंने 'बारहमासा' में नियमित रूप से ऋतु-वर्णन किया है। अन्य कवियों पर यह प्रभाव नगण्य ही कहा जाएगा। यहां विरह में शरीरी व्यापारों की अपेक्षा प्रिया के रूपादि के प्रभावों को ही स्मृति का आलम्बन बनाया गया है। इनके काव्य में कृशता के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



कुछ दर्शन अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी उपहासास्पद नहीं बने, क्योंकि वे अनुभूतिजन्य हैं। निराशा के चरम पर पहुंच कर ये कवि ऊहा की ओर नहीं मुड़ते, वरन् दैन्य-निवेदन से प्रिय के मन में करुणा जगाना चाहते हैं। यथा –

रावरी बसाय तो बसाय न उजारिये।

०० ०० ००

कबहूँ तो मौरियै पुकार कान खोलि है।

यहाँ रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य के कतिपय उद्धरण हमारे उपर्युक्त कथन को बल प्रदान करेंगें। रीतिबद्ध काव्य में वियोग के ऐसे प्रभावशाली दर्शन उसे सजीवता प्रदान करते हैं और रीतिमुक्त काव्य का उद्धरण हल्का-सा चमत्कार दिखाता हुआ भी अनुभूति-प्रेरित लगता है।

**रीतिबद्ध काव्य –**

१) च्वै-सी गयी दिन तीन ही में (पद्माकर)

२) देखत बुरै कपूर ज्यों (बिहारी)

३) गोरी-गोरो मुख आज
ओरो से पिघल जात

**रीतिमुक्त काव्य –**

अंक मरौं चकि चौंकि परौं

## नैतिक सन्दर्भ

शास्त्रीय दृष्टिकोण से स्वकीया नायिका को आदर्श गृहिणी कहा जा सकता है। रीतिबद्ध कवियोंने स्वकीया को अष्टांगवर्ती दिखाया है, यथपि इस प्रकार के उत्सर्गमूलक प्रेम का चित्रण नगण्य रूप में ही हुआ है। देव ने परकीया व सामान्या के प्रति आसक्ति में मर्यादा-हानि दिखाते हुए प्रेमहीन तिय को वेश्या कहा है। स्वकीया की नैतिकता तथा आचारवत्ता दिखाने के पीछे इन कवियों में एक आस्था-बोध दिखाई पड़ता है। पारिवारिक नैतिकता के भी कुछ चित्र मिलते हैं।

ते धनि जे ब्रजराज लखें गृहकाज करें अरु लाज सँभारे (मतिराम)

लाज करे गुरु लोगन में अरु काज करे घर में घर बैठी (देव)

रीति-कवियों की नैतिक चेतना के निर्माण के मूल में सामाजिक जीवन दृष्टि थी। सामन्ती परिवेश के कारण ही उनके काव्य में परकीया-प्रेम इतनी बहुलता से मिलता है। दरबार में अपनी साख बनाये रखने के लियें उर्दू-फारसी के रकीबों व माशूकों की टक्कर में उन्हें खंडिता नायिका का वर्णन करना पड़ा। फिर राजाओं और अमीरों की नैतिकता देव के शब्दों में थी भी यही–

'जो रमनी रमनीय लगै बस ताके रहैं सजनी रजनी-भर।' अतः ऐसे वर्णन उनकी विवशता थी, हृदय से निकली हुई वस्तु नहीं। शास्त्रानुरूप इन्हें नायिका–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अतः रीतियुक्त कवियों की वियोग—व्यथा बड़ी गहन और व्यापक है। उसमें सूक्ष्मता और आसक्ति की तीव्रता दिखायी देती है। यहाँ तक कि संयोग में भी वियोग की आकांक्षा बनी रहती है। कई बार इन्होंने अपनी व्यथा को मौन तक सीमित रखकर उसकी मार्मिक व्यंजना की है।

दूसरी ओर रीतिबद्ध काव्य में नायिका द्वारा पत्र या दूती के माध्यम से सन्देश भेजने की रूढियों का पालन—मात्र हुआ है। यहाँ पुरुष—विरह का वर्णन तो है ही नहीं। रीतियुक्त काव्य में नारी के साथ साथ पुरुष—भाव का विरह भी संतुलित रूप में आया है। बोधा ने 'विरह वारीश' नामक प्रबन्ध काव्य में माधव विरह स्थान-स्थान पर दिखाया है। इनके प्रबन्धों में भी विरह का स्वरूप पर्याप्त गहन और गंभीर है। पुरुष—विरह का वर्णन उस पुरुष—प्रधान समाज में क्रान्तिकारी दृष्टि कही जा सकती है।

रीतिबद्ध कवियों का विरह-काव्य प्रायः शास्त्रीय आधार पर लिखा गया है। किंतु रीतिमुक्त कवियों में आंशिक रूप से यह आधार मिलता है। वहाँ पूर्वराग और मान की स्थितियों का वर्णन न के बराबर है। प्रवास और करुण स्थितियों का चित्रण शास्त्रीय नहीं है, भावावेग की वहाँ प्रधानता मिलती है। अतः आवेग का बंधन से कोई संबंध नहीं है। अतः वहाँ कोई शास्त्रीय आधार खोजना व्यर्थ है। इधर रीतिबद्ध काव्य में फारसी के 'मुबालगा' से प्रभावित होकर ऊहा का खूब प्रयोग किया है। बिहारी की दूर की कौड़ी यानी अतिशयोक्तिमूलक कल्पना प्रसिद्ध है। उनकी विरह-उक्तियों में कागज का विरह-ज्वाला से जलना या आंसुओं से गलना, नायिका का साँस लेते हुए सात-आठ हाथ आगे-पीछे जाना आदि अनेक प्रमाण मिल जाएँगे। रीतिमुक्त कवियों के विरह-दर्शन में ऊहा व दूरारूढ कल्पना का प्रायः अभाव रहा है। यद्यपि कुछ अपवाद मिल जाते हैं किन्तु वे भी वैसी उपहासास्पद स्थिति तक न जाकर अपना प्रभाव अवश्य छोड़ जाते हैं। जैसे—

'छाती सों छुवाय दिया बाती आनि बारि ले।' (आलम)

रीतिबद्ध कवि प्रारंभ में दरबार से बाहर रहकर रचना करते रहे हैं। मुक्त-स्थिति के कारण ऐसी रचनाओं में जो वियोग-चित्र प्राप्त होते हैं, वे प्रेमानुभूति में उनकी गहरी पैठ का आभास देते हैं। इसी प्रकार रीतिमुक्त कवि भी प्रारंभ में कुछ समय दरबार में रहकर रचना करते रहे हैं। उन्होंने कुछ शास्त्रीय अध्ययन भी किया था। इस कारण उनके काव्य में कुछ शास्त्रीय दर्शन भी मिल जाते हैं। ऐसा प्रभाव बोधा पर सर्वाधिक पड़ा है। वही ऐसे रीतिमुक्त कवि हैं, जिन्होंने 'बारहमासा' में नियमित रूप से ऋतु-वर्णन किया है। अन्य कवियों पर यह प्रभाव नगण्य ही कहा जाएगा। यहाँ विरह में शरीरी व्यापारों की अपेक्षा प्रिया के रूपादि के प्रभावों को ही स्मृति का आलम्बन बनाया गया है। इनके काव्य में कृशता के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



कुछ दर्शन अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी उपहासास्पद नहीं बने, क्योंकि वे अनुभूतिजन्य हैं। निराशा के चरम पर पहुंच कर ये कवि ऊहा की ओर नहीं मुड़ते, वरन् दैन्य-निवेदन से प्रिय के मन में करुणा जगाना चाहते हैं। यथा –

रावरी बसाय तो बसाय न उजारिये।

०० ०० ००

कबहूँ तो मौरियै पुकार कान खोलि है।

यहाँ रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य के कतिपय उद्धरण हमारे उपर्युक्त कथन को बल प्रदान करेंगें। रीतिबद्ध काव्य में वियोग के ऐसे प्रभावशाली दर्शन उसे सजीवता प्रदान करते हैं और रीतिमुक्त काव्य का उद्धरण हल्का-सा चमत्कार दिखाता हुआ भी अनुभूति-प्रेरित लगता है।

**रीतिबद्ध काव्य –**

१) च्वै-सी गयी दिन तीन ही में (पद्माकर)
२) देखत बुरै कपूर ज्यों (बिहारी)
३) गोरी-गोरो मुख आज
ओरो से पिघल जात

**रीतिमुक्त काव्य –**

अंक मरौं चकि चौंकि परौं

## नैतिक सन्दर्भ

शास्त्रीय दृष्टिकोण से स्वकीया नायिका को आदर्श गृहिणी कहा जा सकता है। रीतिबद्ध कवियोंने स्वकीया को अष्टांगवती दिखाया है, यथपि इस प्रकार के उत्सर्गमूलक प्रेम का चित्रण नगण्य रूप में ही हुआ है। देव ने परकीया व सामान्या के प्रति आसक्ति में मर्यादा-हानि दिखाते हुए प्रेमहीन तिय को वेश्या कहा है। स्वकीया की नैतिकता तथा आचारवत्ता दिखाने के पीछे इन कवियों में एक आस्था-बोध दिखाई पड़ता है। पारिवारिक नैतिकता के भी कुछ चित्र मिलते हैं।

ते धनि जे ब्रजराज लखें गृहकाज करें अरु लाज सँभारे (मतिराम)
लाज करे गुरु लोगन में अरु काज करे घर में घर बैठी (देव)

रीति-कवियों की नैतिक चेतना के निर्माण के मूल में सामाजिक जीवन दृष्टि थी। सामन्ती परिवेश के कारण ही उनके काव्य में परकीया-प्रेम इतनी बहुलता से मिलता है। दरबार में अपनी साख बनाये रखने के लियें उर्दू-फारसी के रकीबों व माशूकों की टक्कर में उन्हें खंडिता नायिका का वर्णन करना पड़ा। फिर राजाओं और अमीरों की नैतिकता देव के शब्दों में थी भी यही–

'जो रमनी रमनीय लगै बस ताके रहैं सजनी रजनी-भर।' अतः ऐसे वर्णन उनकी विवशता थी, हृदय से निकली हुई वस्तु नहीं। शास्त्रानुरूप इन्हें नायिका–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



भेद के उदाहरण भी देने थे और विलासी शासकों का मनोरंजन भी करना था।

रीतियुक्त कवियों की स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। इन्होंने आम परकीय व सामान्या से अपने प्रेम को वाणी दी। ठाकूर सुजान चमारिन से प्रेम रचते हैं। घनानंद और बोधा भी मर्यादाएं तोड़ते हैं। ये कवि स्वयं प्रणयशील हैं। इन्होंने निर्बन्ध रूप से हृदयगत भावों को व्यक्त किया है। इसके बावजूद इन्होंने लोक-लाज का त्याग नहीं किया है। उधर रीतिबद्ध कवि निर्द्वंद्व भाव से परकीया और सामान्या का वर्णन नहीं कर पाए।

शास्त्रीय बन्धनों के अनेक दुष्प्रभाव इनके शृंगार-वर्णन में दर्शनीय हैं। इससे इनकी रचनाएँ बौद्धिक और यान्त्रिक हो गयी हैं और काव्य तत्त्वों के करुण में भाव तत्त्व लगभग कुचला गया है। इस शास्त्रीय बन्धन से रचना में रचनात्मकता भी कम दिखायी देती है। देव, मतिराम आदि की प्रारंभिक रचनाएँ सहज, प्रभावशाली और भावनात्मक हैं, किन्तु शास्त्रीय उदाहरणों के रूप में लिखा गया इनका (परवर्ती) काव्य इन गुणों से हीन कहा जा सकता है। पद्माकर जैसे कवि 'आठों याम सीता राम' रटना चाहते हैं, किन्तु 'पेट की चपेट' ने इन्हें स्थूल शृंगार की ओर धकेल दिया।

रीतिबद्ध कवियों ने फारसी से ऊहात्मकता का प्रभाव लिया है। रीतिमुक्त कवियों पर फारसी-काव्य का प्रभाव उत्तम शैली के रूप में पड़ा है और बहुत गहरा पड़ा है। 'इश्कलता', 'इश्कनामा', 'वियोग बेलि' आदि कृतियाँ फारसी शैली में ही लिखि गयी हैं। कमाल और घनानंद, आदि और द्विजदेव की जीवन-स्थितियों और आदर्शों में बड़ा साम्य है। दोनों प्रकार के काव्यों की भावभूमियों में भी काफी समानता है। फारसी की भांति हिन्दी के रीतिमुक्त काव्य में भी लोक-लाज की अवहेलना की गयी। किन्तु इस काव्य पर फारसी के ईश्वर-प्रेम का प्रभाव कम ही पड़ा है। दर्पण, बिम्ब, सुरा, साकी, प्याला आदि के दृष्टान्त भी इन्होंने ग्रहण नहीं किये।

विषय पक्ष को लेकर रीतिबद्ध कवियों पर भारतीय काव्यशास्त्र और कामशास्त्र हावी रहा है। उदाहरण रूप में लिखे गये काव्य में भी भोगवादी दृष्टि की प्रधानता इसका उदाहरण है। रीतिमुक्त काव्य के विषय पक्ष पर सूफी धारा का प्रभाव पड़ा है। दार्शनिक प्रभाव इनके अनुकूल नहीं बैठते थे, अतः इन्होंने उनसे केवल प्रेम-सम्बन्धी प्रभाव ग्रहण किया है। यह प्रभाव काव्य के अलौकिक पक्ष को लेकर पड़ा है। इन सभी कवियों ने इश्क मजाजी से इश्क हकीकी तक पहुँचने का अच्छा निरूपण किया है। यद्यपि बोधा अपने जीवन में इश्क मजाजी में ही भटककर रह गये, किन्तु वर्णन वे भी करते हैं– 'इश्क मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब।' इश्क हकीकी में भी लौकिक प्रेम की स्मृति बनी रहती है। ध्यातव्य है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



इनके द्वारा वर्णित प्रेम मूलतः लौकिक है, रहस्यमूलक नहीं। कभी-कभी ये सगुण तत्त्व की ओर उन्मुख होने लगते हैं, किन्तु रहस्य-प्रवृत्ति का सम्बन्ध निर्गुण-साधना से ठीक बैठता है। अतः इनका प्रेम लौकिक ही है। वस्तुतः ये कवि मूलतः प्रेमी थे, भक्त नहीं।

कुल मिलाकर रीतिबद्ध काव्यधारा में भारतीय परम्परा प्रधान और हावी रही है, जबकि रीतिमुक्त में वह एकदम गौण है।

निष्कर्षतः, रीतिबद्ध काव्य रीति से शासित काव्य है। अतः यहाँ रीति प्रमुख थी और काव्य गौण वस्तु थी। रीतिमुक्त काव्य स्वच्छन्द काव्य है, जो अपना मार्ग स्वयं निश्चित करता है। यहाँ संवेदना प्रधान और मूलतत्त्व है। रीतिबद्ध काव्य का शिल्प (ढाँचा) पहले से निश्चित है। निश्चित ढाँचे के भीतर संवेदना को नहीं ढाला जा सकता। इसी कारण रीतिबद्ध काव्य यान्त्रिक हो गया है। रीतिमुक्त काव्य में अनुभूति खुलकर व्यक्त हुई है, जो व्यापक प्रभाव छोड़ने में समर्थ है।

१८, गोविंद नगर
अम्बाला छावनी

—अशोक भाटिया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# कला–सर्जन

कला सर्जन के अनेक प्रकारों में से एक है, यद्यपि बहुत बार एकमात्र कला को ही सृजनात्मक कर्म मान लिया जाता है। 'सर्जन' का एक व्यापक अर्थ हो सकता है, जिसके अनुसार चित् का विषयोन्मुख प्रवर्तन मात्र सर्जन है, और विषयोन्मुख प्रवर्तन चित् द्वारा सत् में अपने प्रयोजन का निरूपण है। किन्तु इसका एक संकुचित अर्थ हो सकता है, जिसके अनुसार प्रयोजन के केवल आत्म-बोध-पूर्वक निरूपण को ही सर्जन कहा जा सकता है। इनमें दूसरा अर्थ स्वीकार करने पर न केवल मानव–चेतना का अध्यवसायात्मक प्रवर्तन ही, जिसे अधिकांश दर्शन–सम्प्रदाय अनादि वासनामूलक 'विकल्प' कहते हैं, अतिक्रामी होने के कारण सर्जन के क्षेत्र से बाहर हो जायगा, बल्कि स्वप्न, जो आत्म-बोध-रहित प्रवर्तन है, और क्रीड़ावश बालक द्वारा रेतीले घरौंदों का निर्माण, जो आत्मबोध-रहित और निष्प्रयोजन प्रवर्तन है, भी इसके क्षेत्र से बाहर हो जायेंगे। किन्तु पहला अर्थ स्वीकार करने पर पाशवप्रवृत्ति भी सर्जन के क्षेत्र में सम्मिलित हो जायेगी। किंतु तब भी सम्भवतः इनमें से व्यापकतर अर्थ ही अधिक युक्त है, क्योंकि अध्यवसाय, स्वप्न और क्रीड़ा को सर्जन के क्षेत्र से बाहर कर देने पर न केवल सर्जन का अर्थ ही क्षीण हो जाता है, बल्कि इन तीन अभिनिवेशों का स्वरूप भी अग्राह्य हो जाता है। किन्तु 'सर्जन' में 'पाशवक्रिया' का समावेश उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वह या तो आवेगात्मक उद्वेलन होता है अथवा बाह्यतः नियोजित प्रवर्तन–कम से कम ऐसा हम उसे समझते हैं। सर्जन के लिए चित् का स्वातन्त्र्य स्वतःजात स्फुरण, और उसके द्वारा सत् में रूप अथवा तंत्र का उत्कीर्णन, ये दो तत्त्व होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में, सर्जन चित् द्वारा सत् में स्वातन्त्र्य का निरूपण है। सत् को चित् से पृथक् कहने का यह अर्थ नहीं है कि यह द्वैत पारमार्थिक है, बल्कि यह कहना अधिक समीचीन है कि सत् और चित् का द्वैत स्वयं चित् के ही अतिक्रामी[1] प्रवर्तन का आक्षेप है, आद्यभाव (प्राइमोर्डियल बींग) इस द्वैत से रहित है। सम्भवतः इस आद्यभाव की आत्यंतिक अनुद्भिन्नता को प्रकट करने के लिए ही तैत्तिरीय उपनिषद् ने इसे असत् कहा है।[2] और ऋग्वेद में इसे



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



असत् और सत् से प्राक् कहा गया है। ४ सर्जन में चित् का स्फुरण और द्वैत का आविर्भाव, यह युगपत् होना अनिवार्य है। किन्तु द्वैत के आविर्भाव के साथ ही स्वातन्त्र्य प्रतिबन्धित हो जाता है और जितना ही सत् चित् से पृथक् अपनी स्थिति बना लेता है चित् के लिए उसमें आत्म-निरूपण उतना ही प्रयत्न-साध्य हो जाता है। वास्तव में चित् और सत् का यह द्वैत मानवीय चेतना में ही स्फुट होता है और इस चेतना में पृथक्भूत सत् की बाधा स्वप्न में न्यूनतम होती है, क्योंकि इसमें सत् भौतिक नहीं होकर तान्मात्रिक होता है। उससे कुछ अधिक, किन्तु तब भी अत्यन्त न्यून, बाधा पौराणिक मनस् और क्रीड़ारत बाल-मनस् में होती है, क्योंकि इन दोनों में भी सत् का भौतिक पक्ष: उसके देश-काल के नियम, रूपरेखाओं की सम्यक्ता और सन्तुलन की अपेक्षाएँ : उपेक्षित रहता है और आन्तर प्रेरणामूलक साक्षात्कार से नियंत्रित होता है। किन्तु द्वैत की सृष्टि, प्रतिबिम्बन अथवा प्रत्यंकन के लिए इतर का आक्षेप, और उसका आत्मानुरूप रूपान्तरण, यह सर्जन का मूल है जो मानवीय चेतना के उपर्युक्त सभी प्रवर्तनों में मिलता है। इन सबमें निरवयव और निराकार प्रकाश विमर्श रूप में उद्भिन्न होकर विविध और विपुल बनता है।

ईश्वरीय सृष्टि के सम्बन्ध में समझा जाता है कि वह पूर्णत: निर्बाध है, जिसका अर्थ है कि उसमें सृजन-वासना, कल्पना और क्रियान्वयन तीनों एकान्वित रहते हैं। ऐसी अवस्था में ईश्वरीय सर्जन सर्जन की उपर्युक्त परिभाषा की पूर्ति नहीं करता। इसी कारण पाशव निर्माण भी सर्जन नहीं है, क्योंकि उसमें चित् विषय से तदात्म और इस प्रकार स्वातन्त्र्य–रहित रहता है। इनसे भिन्न मानव-स्तरीय चित् विषयी-विषय-रूप द्वित्व में विभक्त होकर विषयि-पक्ष में अपने तन्त्र का विकास करता है और उसके माध्यम से विषय-पक्ष का ग्रहण करता है। भाषा आदि प्रतीक रचनाएँ विषयी के विषय-ग्रहणमूलक इस आत्मतन्त्र के ही रूप हैं। मनुष्य के ज्ञान को व्यवहित कहने का भी यही औचित्य है। विषय-ग्रहणात्मक ये विषयि-मूलक तन्त्र चित् के स्वतन्त्र सर्जन होते हैं, किन्तु सृष्ट होने के साथ ही ये विषय : सत् : रूप में उसके नियामक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए भाषा चित् की स्वतन्त्र सृष्टि है जो उसके द्वारा विषयावधारण के तन्त्र के रूप में उत्सृष्ट होती है, किन्तु अपनी सृष्टि के साथ ही यह मानव-चित् को उस सीमा तक अपनी रचना की व्यवस्था से उपहित कर देती है जिस सीमा तक वह उसके तन्त्र को अपनी सृजन-वासना की अभिव्यक्ति से पृथक् अस्तित्व दे देता है। भाषा के इस स्वरूप के कारण ही बौद्ध और वेदान्ती दार्शनिक भाषा को विक्षेप और परमार्थ को अनभिलाप्य कहते हैं। यही बात अन्य प्रतीक-रचनाओं, जैसे विज्ञान, नीति, धर्म, कला आदि के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। ये सब चित् के स्वतंत्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रवर्तन के आयाम हैं जो उसके आत्म-निरूपण के क्रम में उद्भूत होते हैं, और इस रूप में देखे जाने पर इन्हें चैतन्य में निमीलित वैभव का उन्मीलन कहा जा सकता है। उपनिषद् में सृष्टि का तत्त्व आनन्द को कहने का यही औचित्य हो सकता है।[४] किन्तु ये ही विषय-रूप में चित् से पृथक् साध्य बन कर उसकी उपाधि और पारतन्त्र्य बनते हैं। चित् के ये सब निरूपण प्रेक्षणात्मक होते हैं, इनमें चित् आत्मनिरूपण के लिए प्रेक्षक-विषयी और प्रेक्ष्य-विषय के रूप में उद्भिन्न होता है। इस उद्भिन्नता में जब उसकी वृत्ति विषयोन्मुख : विषय-तन्त्र : होती है तब वह रचनात्मक होने पर भी सर्जनात्मक नहीं होता। किन्तु जब वह विषय को स्थगित कर अपने में अपना विमर्श करता है तब वह विषय को स्वातंत्र्य के चरितार्थन के लिए साधन बनाता है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह विमर्श केवल विषयि-विषय रूप में उद्भिन्न चित्र के लिए ही संभव है क्योंकि केवल इस प्रकार उद्भिन्न चित् ही विषय-पक्ष के स्थगन के द्वारा विषयी-रूप में आत्म-विमर्श कर सकता है। विज्ञान, उपयोगात्मक निर्माण और लोक-व्यवहार साधारणतः विषयाधीन रचनात्मकता के वर्ग में रखे जा सकते हैं और नीति तथा कलाएँ आत्मविमर्श के वर्ग में। दर्शन की स्थिति उभयतः रहती है, क्योंकि यह एक ओर बौद्धिक प्रत्ययों का विषयनिष्ठ विवेचन करता है, किन्तु दूसरी ओर ये प्रत्यय विषयोन्मुख नहीं होकर प्रत्यङ्मुख होते हैं।[५] किन्तु तब भी दर्शन का विमृश्य विषयी नहीं होकर तटस्थ प्रत्यय ही होता है जो अपने तात्स्थ्य में विषयवत् ही होता है। कला और नीति दोनों के विषयिमूलक होने पर भी इनमें गंभीर अन्तर है : यह अन्तर इनके विमृश्य के स्वरूप में निहित है। कला का विमृश्य भावनात्मक विषयी द्वारा अपनी विषयिमूलक भावना ही होती है, जबकि नीति का विमृश्य कर्म-प्रवृत्ति की विषयिता का तत्त्व होता है। भावना स्वरूपतः विषयिनिष्ठ और विशिष्ट होती है, किन्तु ज्ञान-ग्राह्य होने के लिए इसका विषयीकरण और सामान्यीकरण अनिवार्य होता है, किन्तु तब यह मनोविज्ञान के लिए विमृश्य होती है। किंतु कला भावना के विषयिनिष्ठ रूप में ही उसे अहंकारोपाधि से मुक्त कर प्रेक्षक के लिए उपलब्ध करती है। उचित रूप से कहें तो, व्यक्ति-मूलक विषयिगत भावना का व्यक्ति-मुक्त विषयिगत भावना के रूप में उपभोग और इस भौगित्व का आत्म-विमर्श ही कलात्मक विमर्श है। इसका व्यक्ति-मुक्तः अहंकारोपाधिमुक्तः होना इसके प्रेक्ष्य होने की अनिवार्य पूर्वापेक्षा है, और प्रेक्ष्य का भोगित्वमूलक होना इसकी रसात्मकता की।[६] इस प्रकार यह कला की ही विशेषता है कि इसमें व्यक्ति-विषयिनिष्ठ भाव विषयरूप में विजड़ित हुए बिना अहंकारोपाधि से मुक्त हो पाता है। इसके विपरीत कर्म-प्रवृत्ति में चित् मूलतः ही निर्वैयक्तिक होता है,[७] यद्यपि विमृश्य विषयिनिष्ठ प्रवृत्ति ही होती है।[८]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



कला-सर्जन कला-बोधपूर्वक होता है, जिसका अर्थ है कि भावविमर्शोन्मुख चैतन्य आत्म-निरूपण, अथवा कहें आत्म-क्रियान्वयन, के क्रम में किसी उपादान को उत्कीर्ण कर उसे आविष्ट करता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे विमर्श चित् का बौद्धिक आकार में उन्मीलन है। अब यह एक अनिवार्य वस्तुस्थिति है कि कोई उन्मीलन इस आकार तक सीमित नहीं रहता : जागृदवस्था में चित् का उन्मीलन महाभूत-पर्यन्त विकसित होता है और स्वप्न में तन्मात्र पर्यन्त। परिणामतः कलात्मक विमर्श भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि में से किसी उपादान का उपयोग अपने क्रियान्वयन के क्रम में करता है। विमर्श का इन उपादानों में निरूपण ही सर्जन है।

विमर्श में चित् का उन्मीलन दो स्रोतों से होता है, बाह्योद्दीपन से, और स्वतः। आद्य (प्राइमोडियल) उन्मीलन स्वतः ही है, जो अद्वय और अनुद्भिन्न चित में अस्मिता और जगत् : अस्मत् युष्मत्: इस प्रत्यय-युगल के रूप में प्रस्फुटित होता है। ग्राह्य-ग्राहक, अथवा उद्दीपक-उद्दीप्य के द्वैत का मूल इसी स्वतोद्भव में है। किन्तु द्वितीय स्तरीय उन्मीलन : मानव-स्तरीय विमर्श : में भी अनेक बार विमर्श का स्रोत अनुद्दीप्त या स्वतंत्र चित् में ही होता है। दर्शन और कला में ऐसा बहुधा होता है। महान रचनाएँ इसी स्तर के विमर्शों की फल होती है। किन्तु उन्मोलन का स्रोत चाहे जो भी हो, उसकी अभिव्यक्ति, या कहें उपादान में अवतरण, सदैव न्यूनाधिक दुस्साध्य और औपाधिक ही होता है। इसका कारण है : हम स्वयं चित् का ग्रहण उसके तान्मात्रिक या भौतिक स्तर पर अवतीर्ण होने पर ही करते हैं– अधिकांश में भाषा के रूप में अथवा वर्ण-योजना, स्वर-ग्राम आदि के रूप में। किन्तु स्वयं न पद या वाक्य-रूप में स्फुटित अर्थ तान्मात्रिक या भौतिक है न ध्वनियों के लय, ताल और आरोहावरोह की व्यवस्था अथवा रेखाओं के भंग तथा वर्णों को योजना तान्मात्रिक या भौतिक, यद्यपि भौतिक उपादान में अवतीर्ण हुए बिना ये अर्थ स्वयं वक्ता, गायक और चित्रकार को भी विदित नहीं होते। किन्तु भौतिक उपादान में इनका प्रवाह रूढ हो जाता है और इनका आशय व्यामिश्रित और खंडित हो जाता है। सर्जन इस मूल आशय में पुनः प्रवेश कर विमर्श और उपादान में उसे अधिकृत और अमिश्र रूप में धारण करने की साधना है। इसके लिए कलाकार को स्वयं उपादान को चिन्मय बनाने का प्रयत्न करना होता है जिससे चित् अधिकाधिक निर्बाध रूप में प्रकट हो सके। यहाँ यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि उपादान चित् से पृथक् या इतर नहीं है, यह उसके उन्मीलन के क्रम में ही आविर्भूत होता है– इससे भिन्न इसका स्वरूप अनवधार्य है। किन्तु तब भी इसमें एक दूरी है, जो क्रम को उत्पन्न करती है। इसे देह में मस्तिष्क और केश में अन्तर की उपमा से समझा जा सकता है जो समान रूप से भौतिक होने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



पर भी चित् के उन्मीलन के निकट-दूर हैं। कुछ व्यक्तियों में विमर्श अधिक सप्राण होता है और अभिव्यक्ति अधिक सहज, जो उनमें भौतिक के मनस् के समीपतर और मनस् के चित् के समीपतर होने का द्योतक होता है, इसके विपरीत स्थिति तो अधिकांशतः ही हम पाते हैं– केचुए-कछुए में जबकि देह-भाव का प्राधान्य है, सिंह-हरिण आदि में प्राणभाव का, गाय-अश्वादि में ऐन्द्रिक भाव का, और बन्दर आदि में ऐन्द्रिक और मनस्-भाव का प्राधान्य है। मनुष्य में भी व्यक्तिभेद से ये क्रम देखे जा सकते हैं। देहेन्द्रिय-प्रधान व्यक्तियों में जबकि सृजन अलभ्य होता है, चित् के समीपतर में यह सहज। मीरा, सूर, कबीर, में भाषा, अलंकार और छन्द जिस प्रकार अभिव्यक्ति के लिए सहज माध्यम बनते हैं, और इसके विपरीत, रीति-काव्य के कवियों में स्वयं ये ही साध्य बनते हैं, उससे हमारे इस प्रतिपादन की सत्यता देखी जा सकती है।

० ० ०

ऊपर हमने कला को भावना का तत्परक विमर्श (भावना का आत्मविमर्श भावनात्मक आत्मविमर्श) इस प्रकार परिभाषित किया है। हम ऐन्द्रिक ग्रहणों और तन्मूलक विमर्श को क्रमशः सत्य और उसके परामर्श का आदर्श मानने के लिए इतने अभ्यस्त हैं कि ग्रहण और अवधारणा की अन्य विधाओं को उनके सही रूप में समझ ही नहीं पाते। इसीसे कला को उच्छ्वास और पुंजीभूत उद्वेग-ऊर्जा के व्यय के साधन के रूप में ही अधिकांशतः देखा गया है[१०]। अवश्य कुछ लोगों ने उसे द्रष्टृभाव के रूप में भी देखा है, किन्तु वह एक दूसरी भ्रांति हैं; किसी विचार-वितर्क के आधार के बिना तो वह है ही। यह मानना नितान्त भ्रमपूर्ण है कि कवि-कलाकार किन्हीं अलौकिक तत्त्वों का उस अर्थ में दर्शन करता है जिस अर्थ में हम घट-पट आदि गोचर वस्तुओं का करते हैं। कला ग्रहण की सब अध्यवसायात्मक विधाओं से नितान्त भिन्न है और यह भिन्नता इस बात में है कि अध्यवसायात्मक विधाओं में चित् की वृत्ति जब कि निर्धारण-विश्लेषण-परक रहती है, कला में वह ग्राह्य–गत के गठन, संतुलन, लय और छन्द से तादात्म्य-स्थापन का प्रयत्न करती है। प्रथम वृत्ति जब कि विषयोन्मुख है, दूसरी विषयिगत : भावमूलक :। 'विषयिगत' 'आत्मोन्मुख' से भिन्न है, 'आत्मोन्मुख' और 'विषयोन्मुख' में 'उन्मुखता' समान है, किन्तु विषयिगत या भाव-मूलक वृत्ति में कोई उन्मुखता नहीं होती, अथवा कहें उसमें उन्मुखता व्यंजक या सांकेतिक, बल्कि कहें अवान्तर, होती है, मौलिक नहीं होती। किन्तु तब भी विमर्श इसका उसी प्रकार आत्मा है जिस प्रकार अध्यवसायात्मक वृत्ति का। जैसा कि हमने पीछे कहा, विमर्श निरवयव चित् में सावयवता का आविर्भाव है, अथवा यों भी कह सकते हैं कि यह अस्फुट सावयवत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



का प्रस्फुटन है। विषयोन्मुखवृत्ति की विमर्शात्मकता प्रायः सभी अध्यात्मवादी दर्शनों ने देखी है, किन्तु विषयिगत वृत्ति की विमर्शात्मकता का विचार किसी ने सम्यक् रूप से नहीं किया। अभिनवगुप्त इस विचार के निकटतम पहुँचे हैं और वे वास्तव में इस प्रसंग में 'विमर्श' शब्द का ही प्रयोग करते हैं, और चित् 'शिव' तत्त्व को प्रकाश और विमर्शात्मक कहने और जगत् को चित् का विमर्श कहने में उनका पूर्णतः वही आशय है जो हमारा है, किन्तु तब भी जैसे वे रस-विवेचन में ठीक वही बात नहीं कहते जो हम कहना चाहते हैं, और जो सही प्रतीत होती है। हमारे विचार के अनुसार विमर्श चित् का बुद्धिमूलक प्रस्फुटन है। स्वयं व्यक्ति का अपना आविर्भाव अतिक्रामी चित् के युष्मत्-व्यवहित-अस्मत् के रूप में विमर्श का परिणाम है।

'यह घट है' अध्यवसाय में एक प्रत्यक्षगत स्थिति 'यह घट है' और इन तीनों पदों की पृथक्-पृथक् और संयुक्त व्यावृत्तियों में उद्भिन्न होती है, यही विमर्श है। यही विमर्श-वृत्ति भाव में निमीलित विमृश्य को ध्वनि के उपादान में स्वर-ग्राम, लय, यति और भंग के रूप में उत्कीर्ण कर उसमें राग का सर्जन करती है। इस प्रकार राग भावना का आत्म-निरूपण है जो भाषायी निरूपण से मूलतः भिन्न प्रकार का है। काव्य में भाषा का प्रयोग होता है, किन्तु यहाँ उसका कथन-व्यापार, अथवा कहें भाषा-व्यापार, स्थगित हो जाता है और वह वस्तु-वाचक से भाव-विमर्शक हो जाता है। इस विमर्श में अभिधान सम्भव नहीं होता, वह होने पर भाव वस्तु में रूपान्तरित हो जाता है, जैसे मनोविज्ञान में; इसमें भाव अनिर्देश्य विषयिता में ही अपने निरूपण की माँग करता है। उदाहरण के लिए महादेवी की निम्न पंक्तियाँ लें—

धीरे धीरे उत्तर क्षितिज से आ वसन्त रजनी।
तारकमय नव वेणी बन्धन, शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।

इसमें रात्रि का वर्णन नहीं है, इसमें रात्रि-दर्शन से भाव-लोक में उन्मिषित अलक्ष्य-अवाच्य बोध का साक्षात्कारी विमर्श है। इसके पदवाक्य इस बोध का कथन नहीं कर इसके विकसन के माध्यम बनते हैं। यह जितना कविता के लिए सही है उतना ही उपन्यास के लिए भी सही है। उपन्यास प्रकटतः वृत्त कहता है, किन्तु सम्पूर्ण उपन्यास भावलोक की यात्रा होता है और परिणामतः उसके प्रकटतः कथनात्मक वाक्य इस भाव के उन्मेष के माध्यम होते हैं। यह उसका 'वृत्त' होता है जो लोक में कभी कहीं घटित नहीं हुआ होता और न जिसका घटित हुआ होना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रासंगिक होता है, किन्तु तब भी जो या तो लोक में घटित घटनाओं को उद्भासित करता है अथवा अलौकिकतया निरूपित करता है। 'लोकोद्भासन' से तात्पर्य है, भाव में उन्मिषित बाह्य लोक में घटित घटनाक्रम को, अथवा उसकी अनुरूपता में कल्पित घटना-क्रम को, सामान्य के उदाहरण के रूप में कहना; 'अलौकिकतया निरूपण' का अर्थ है, भाव-लोक को विमर्शात्मक चैतन्य को अर्पित करना।

लोकोद्भासन और अलौकिकतया निरूपण, ये कला-सर्जन की दो पृथक् विधाएँ हैं। इनमें कथात्मक काव्य : उपन्यास, कहानी, नाटक, महाकाव्य आदि मुख्यतया प्रथम विधा के और संगीत, गीत-काव्य तथा चित्रकला और मूर्तिकला की अधिकांश कृतियाँ दूसरी विधा के उदाहरण हैं। किन्तु प्रथम प्रकार की कला-कृतियाँ भी द्वितीय प्रकार के अन्तर्गत संग्रहीत की जा सकती हैं, क्योंकि कला का मर्म इस दूसरे रूप में ही है। यहाँ प्रथम प्रकार की कला-कृति के उदाहरण के रूप में किसी ऐतिहासिक उपन्यास को लें। इतिहास-लेखन से ऐतिहासिक उपन्यास का भेद इस बात में होता है कि प्रथम का लेखक जब कि कार्यों और प्रयोजनों का यथातथ वृत्त प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है, और कल्पना तथा सहानुभूति का उपयोग यथातथ के, तद्गत अर्थ के, विषयनिष्ठ मर्म तक पहुँचने में करता है, ऐतिहासिक उपन्यास का लेखक इन बाह्य और आन्तर वृत्तों के विषयिगत भाव-लोक में प्रतिष्ठित होकर और उसके भोगित्व का प्रेक्षक बन कर उसका तत्त्व प्रस्तुत करता है। इसीसे इतिहास जब कि सामान्यात्मक कल्पनाओं और साधारणीकरणों के आधार पर विशेष घटनाओं, कर्मों और प्रयोजनों का विशेषपरक विवरण और व्याख्या प्रस्तुत करता है, कलाकार विशेषपरक आख्यान का उपयोग निर्विशिष्ट, व्यक्त्योपाधि-मुक्त भाव की अभिव्यंजना के लिए करता है। उदाहरण के लिए, राम-सीता और दुष्यंत-शकुंतला के क्रमशः वाल्मीकीय रामायण और अभिज्ञान शाकुन्तलम् में वर्णित चरित यदि इतिहास-सिद्ध भी हों तो भी उनकी ऐतिहासिकता इन कृतियों के लिए केवल व्यंजक माध्यम मात्र होती है, जैसे बुद्ध की प्रतिमा में प्रयुक्त प्रस्तरखण्ड बुद्धभाव के आकृत्यवधारण के लिए माध्यम मात्र है। अवश्य इनमें बहुत अन्तर भी है, किन्तु यहाँ उस अन्तर की चर्चा अप्रासंगिक है। इसीसे कलाकार इतिवृत्त को भावलोक के तर्क की अपेक्षानुसार बदल और ढाल लेता है। और कभी-कभी तो वह इतिवृत्त अपने को पूरी तरह ही कलाकार द्वारा साक्षात्कृत भाव-लोक अर्थ की विवृत्ति के प्रयोजन के लिए समर्पित कर देता है। उदाहरणतः राम, कृष्ण और बुद्ध के चरित। अब, ये चरित उपर्युक्त दो में से किसी एक विधा सर्जित होते हैं, जैसे राम-चरित रामचरित-मानस में प्रथम (लोकोद्भासक) विधा में और उत्तररामचरित में दूसरी (अलौकिकतया निरूपण की) विधा में सर्जित है। प्रथम में राम का वृत्त सामाजिक सम्बन्धों को भाव-लोक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



में पुनर्जन्म देकर उन संबंन्धों के ऐहिक जीवन को उद्भासित करने के लिए उपकरण बनता है, और दूसरे में भाव के अरूप-अनाम अस्तित्व के नामरूप में विस्फुट होने के लिए उपादान बनता है। लौकिक उपाधियों से यह मुक्ति ही कला को सामान्य बनाती है। परिणामतः यह प्रत्ययात्मक सामान्यता से भिन्न प्रकार की सामान्यता है। इनमें प्रथम को ब्रह्म के सत्-तत्त्व से और दूसरे को आनन्द तत्त्व से सम्बन्धित कहा जा सकता है।

कला-सर्जन को प्रायः सौन्दर्य-सर्जन के और कला-बोध को सौन्दर्य बोध के पर्याय के रूप में देखा जाता है, जब कि लोक में सुन्दर नयनाभिराम आकृति को और गौणतः श्रवणाभिराम ध्वनि आदि को कहा जाता है। किन्तु यह सर्वविदित ही है कि कला में कलित रूप या भाव आवश्यक रूप से इन्द्रियाभिराम या मनोऽभिराम नहीं होता। तब कला को सौन्दर्य-सर्जन कहने से क्या तात्पर्य है? लौकिक सौन्दर्य का कलात्मक सौन्दर्य से क्या सम्बन्ध है?

अभी हमने लौकिक सौन्दर्य को अभिरामता से पारिभाषित किया, किन्तु इसमें प्रमाण मानसिक प्रतिक्रिया हुई, कोई वस्तुगत लक्षण नहीं। किन्तु वास्तव में यदि थोड़ा गहराई से देखा जाय तो भौतिक वस्तुओं के ज्ञान की भी यही स्थिति है, उनकी विद्यमानता किसी ऐन्द्रिक प्रतिक्रिया से ही सूचित होती है, उनके स्वगत लक्षण से नहीं। इस प्रकार 'सुन्दर' और 'लाल' निरूपणों में अन्तर इनके प्रमाणों में विषयिनिष्ठ-विषयनिष्ठ के प्रकार-भेद के कारण नहीं है बल्कि विषयिगत प्रतिक्रियाओं में ही प्रकार-भेद के आधार पर है। भौतिक वस्तुपरक प्रतिक्रिया अस्तित्वाग्रही बुद्धि-विकल्पों के लिए उपादान बनती है और अभिरामतापरक प्रतिक्रिया भोगाग्रही बुद्धि-विमर्श के लिए। ऐसा नहीं है कि दूसरी प्रतिक्रिया में अस्तित्व का आग्रह रहता नहीं है, किन्तु तब परोक्ष और गौण होता है, अथवा कहें वह इन्द्रियमूलक विकल्पजन्य ही होता है। जैसे 'यह पुरुष सुन्दर है' में 'यह पुरुष है' वस्तु-मूलक अध्यवसाय ही है, जो 'सुन्दर' पद से व्यंजित भाव–निरूपक विमर्श के साथ क्रियान्वित होता है। वास्तव में सौन्दर्य के लौकिक बोध में यह परोक्ष और गौण पक्ष प्रत्यय और मुख्य होने की भ्रांति से ग्रसित हो जात है और इस प्रकार भोगाग्रही विमर्श अस्तित्वाग्रही विकल्प का रूप ले लेता है। इस विपर्यास का घटित नहीं होना ही कला-बोध है।[१२] यह दिवास्वप्न में बाल और वयस्क के मनस् में भेद के जैसा है: पहला जब कि इस स्वप्न को सत्य-रूप में ग्रहण कर उससे नियन्त्रित होता है, दूसरा इसकी असत्यता को अप्रासंगिक जानकर इससे सौख्य के उपभोग के लिए उसमें स्वतन्त्रतया विचरण करता है। कला इस अस्तित्व–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अनाग्रही भोग-विमर्श को ही अभिव्यक्ति देती हैं। उदाहरण के लिए कुमारसंभव का पहला श्लोक लें :

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरो तोयनिधीवगाह्य, स्थितः पृथिव्यां इव मानदंडः॥

इस श्लोक की पहली पंक्ति साधारण वर्णनात्मक वाक्य जैसी ही है, सिवाय 'देवतात्मा' विशेषण के, जो वर्णनात्मक नहीं होकर रूपक है; किन्तु तब भी इस पंक्ति का सम्पूर्ण पद-विन्यास और छन्द मानो 'देवतात्मा' पद में व्यक्त गौरव और अलौकिक पावनता की अनुभूति में अपने को उंडेल रहा है, और दूसरी पंक्ति में वह जैसे वर्णनात्मक पदों को अपने जादुई आवेश से प्रत्यङ्मुख कर देता है जिससे भाव अपने रूप का आप दर्शन कर सके। अलंकार, उदाहरणतः रूपक, अस्तित्वाग्रह से मुक्त करने के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। यहाँ द्रष्टव्य है कि भाषा के अधिकांश पद रूपकात्मक ही हैं, किन्तु वे रूपक भाषा की, और वास्तव में हमारे ग्रहण मात्र की, मौलिक विवशता के कारण हैं : सत् हमें कल्पना के माध्यम से ही ग्राह्य होता है; किन्तु काव्य में प्रयुक्त अलंकार विवशतया नहीं स्वेच्छया प्रयुक्त होते हैं। 'चन्द्रमुख' पद मन को इन्द्रिय-विषय के ग्राह से मुक्त कर गुरुत्वाकर्षणविहीन भाव-लोक में निर्बद्ध कर देता है। यही बात चित्र के लिए भी सत्य है, जिसके चित्रण का विषय प्रस्तुत दृश्य या आकृति नहीं होकर या तो आकृति को आविष्ट करनेवाला भाव-मूलक अर्थ होता है, अथवा चित्रकार चिदाकाश में आलोकित भौतिक गुरुत्व से विनिर्मुक्त आकार मात्र। उदाहरण के लिए जब कि बाह्य दृश्य का देश सापेक्षताओं के अधीन होता है, चित्र का देश स्वायत्त और अपने तंत्र के केन्द्र पर व्यवस्थित होता है। इसीसे यह भी आवश्यक नहीं होता कि चित्रकार किसी वास्तविक व्यक्ति का ही चित्र बनाये, और न वास्तविक व्यक्ति के चित्र में उसकी प्रतिकृति प्रस्तुत करना ही उसका कार्य होता है। यदि ऐसा हो तो फिर कुरूप व्यक्ति का चित्र भी कुरुप ही होगा, जब कि चित्रलिखित कुरूपता और सुरूपता चित्रित व्यक्ति-मूलक नहीं होकर भाव-निरूपित होती है। उदाहरणतः चित्रकार दिव्य और आसुर भावों को देवों और असुरों के रूप में प्रस्तुत करता है, और तब भावों का रेखाओं के माध्यम से यह अनासक्त विमर्श दर्शक को उसी अनासक्त अभिवृत्ति में प्रस्तुत होकर अवगम्य होता है, और तब वह चित्ररूप में सुरूप-कुरूप नहीं रहकर कुशल-अकुशल होता है। वास्तव में यही बात तब प्राकृतिक रूप-दर्शन में भी होती है जब हम उसके प्रति आसक्त-भाव से उन्मुख नहीं होकर प्रेक्षक-भाव से उन्मुख होते हैं। यही कला-बोध है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं, कि जब किसी बाह्य दृश्य से दर्शक के भाव-लोक में भोगित्व मूलक प्रेक्षकत्व का उन्मेष होता है तब वह दर्शक कला-बोध में स्थित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



होता है। इसे ही विषय पक्ष में इस प्रकार कह सकते हैं कि जब बाह्य दृश्य अपनी गोचर वस्तुता की अपेक्षा उससे उन्मिषित किसी 'जनानान्तर स्थिर भाव' के अलौकिक प्रकाश में अपनी वस्तुता से मुक्त होकर प्रस्तुत होता है तब वह कला-बोध का विषय होता है। कलाकार वह है जो इस बोध को किसी गोचर माध्यम में रूपायित कर देता है।

—यशदेव शल्य

## टिप्पणियाँ

* महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक के हिन्दी विभाग में नवम्बर १९८१ में दिया गया व्याख्यान।

१. 'अतिक्रामी' का अर्थ है जो व्यक्ति के ज्ञान या इच्छा के अधीन नहीं होकर इनसे तत्त्वतः प्राक् हैं।

२. 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो सदजायत।' वल्ली–२ अनुवाक ७

३. 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्।' ऋग्वेद संहिता, ८।७।१७

४. 'यद्वै तत्सुकृतं, रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति।' तैत्तिरीय उप; वल्ली–२ अनुवाक ७। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।' वल्ली ३. अनुवाक ६।

५. द्रष्टव्य-यशदेवशल्य– 'दर्शन का आरंभ-बिन्दु' परामर्श (हिन्दी) त्रैमासिक, जून १९८०

६. तुलना के लिए द्रष्टव्य– 'तथा च मधुरादौ रसे औदारिकाभ्यवहार वैलक्षण्येन प्रवृत्त इदमित्थमिति प्रमातरि विश्रमयन्प्रमातृभागमेव प्रधानतया विमृशन् भुंजान इत्युच्यते..... तत्रवीतविघ्नत्वादेवासौ रसना, चर्वणा निवृत्तिः, प्रतीतिः प्रमातृ विश्रांतिरेव, तत एवं हृदयेन परामर्श-लक्षणेन प्राधान्याद्वयपदेस्यावस्थितस्यापि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तस्यानादरणात्सह्यतोच्यते। (ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका पर उत्पल की विवृत्ति, भाग–२, पृ. १७८।

७ तुलनीय– Kant : "Act as if the maxim of your action were to become through your will a universal law of Nature" Groundwork of the Metaphysics of Morals.. Translation : H. J. Paton, Harper Torch Books, p. 89.

८. द्रष्टव्य-सतांहि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः (कालिदासः) अभिज्ञान शांकुतलम्, प्रथमांक, श्लोक २१।

९. दर्शन का आरम्भ बिन्दु।

१०. वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान (सुमित्रानन्दन पन्त)

११. तुलनीय– कांट; क्रिटीक आफ जजमेंट, अनु.। –२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण ( ६ )

मू. जल्पवितण्डयोस्तु पक्षादिषु प्रमाणप्रश्नमात्रप्रवृत्तस्य न स्वचनविरोधः। तत्र प्रमाणेनोत्तरमनिष्टमशक्यं च, अप्रमाणेनैव तूत्तरे स्ववचनेनैव भङ्ग, मृदुक्तेषु प्रश्नादिषु प्रमाणं नास्तीति स्वयमेय स्वीकारात्, अनुत्तरे तु अप्रतिभैवेति।

वाद ( विवाद ) प्रमाणभूत बात का ही उल्लेख उचित होने से अप्रामाणिक अलीक वस्तुओं का क्षणिकत्वसाधक अनुमान में निर्देश योग्य नहीं यह पिछले परिच्छेद में प्रतिपादित किया गया। अब 'जल्प या वितण्डा रूप विवाद में ( जिनमें किसी मत की स्थापना के लिये नहीं, किंतु प्रतिपक्षी पर विजय पाने के एकमात्र उद्देश्य से भाग लिया जाता है ) क्षणिकवादी बौद्ध के साथ नैयायिक यदि भाग ले तो उसे अप्रामाणिक शशशृंगादि के सम्बन्ध में कम-से-कम उनकी अप्रामाणिकता का तो उल्लेख करना ही पड़ेगा और तब उसे 'स्ववचनविरोध' दोष का भागी होना ही पड़ेगा' इस संभाव्य आक्षेप का उत्तर प्रस्तुत किया जा रहा है। नैयायिक कहते हैं कि जल्प वितण्डा में वह केवल विपक्षी के कथन के सम्बन्ध में प्रमाण का प्रश्न मात्र ही उपस्थित करेगा। कोई बात 'प्रमाणिक' या 'अप्रामाणिक' है ऐसा प्रतिपादन करने की उसे आवश्यकता ही नहीं होगी। किन्तु बौद्ध को इस प्रश्न के उत्तर के रूप में प्रमाणसम्मत बात ही करनी होगी। अप्रामाणिक बात का उत्तर में प्रयोग करना 'मेरा कथन प्रामाणिक नहीं है' इस स्वीकृति के समकक्ष होगा। प्रामाणिक बातों का ही उत्तर में प्रयोग करने का मतलब होगा कि बौद्धमतानुसार अक्षणिक जैसे जो अलीक हैं उनकी भी सत्ता प्रमाणसिद्ध है। यदि बौद्ध कोई उत्तर ही न दे तो 'अप्रतिभा' या अज्ञान रूप निग्रहस्थान का वह दोषी बनेगा और उसे अपनी हार माननी पड़ेगी।

मू. यदि च व्यवहारस्वीकारे विरोधपरिहार : स्यात् असौ स्वीक्रियेतापि, नत्वेवम्—न खलु सकलव्यवहारभाजनं च तन्निषेधव्यवहारभाजनं चेति वचनं परस्परमविरोधि।

पुनः नैयायिक—स्पष्टीकरण करते हुए—कहते हैं कि अलीक–शशशृंग, अक्षणिक आदि–के सम्बन्ध में कोई न कोई व्यवहार ( तथा उस पर आधारित



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



शब्दप्रयोग ) संभव मानने पर वचनविरोध का परिहार हो सके तो यह बात स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु अलीक के विषय में कोई भी व्यवहार संभव नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि जिसे सब प्रकार के विधिरूप या निषेधरूप व्यवहार का अविषय होने से ही 'अलीक' समझा जाता है उसके सम्बन्ध में 'अलीकता' का व्यवहार भी वचनविरोध ( या वदतो व्याघात ) का ही कारण होगा।

मू. "विधिव्यवहारमात्राभिप्रायेणाभाजनत्ववादे कुतो विरोध : इति चेत्" हन्त, सकलविधिनिषेधव्यवहारभाजनत्वेन किञ्चिद्व्यवह्रियते न वा, उभयथापि स्ववचनविरोधः, उभयथाप्यवस्तुनैव तेन भवितव्यम्, वस्तुनः सर्वव्यवहारविरहानुपपत्तेः।

उक्त प्रतिवाद पर बौद्ध यह प्रतिप्रश्न करते हैं कि अलीक के सम्बन्ध में विधि तथा निषेधरूप सभी व्यवहार असंभव मानने पर ही निषेध व्यवहार करने वाले ( बौद्ध ) को वदतो व्याघात रूप दोष का भागी बनना पड़ेगा। किन्तु यदि विधिव्यवहार मात्र ही अलीक में असम्भव माना जाय तो यह आपत्ति घटित नहीं होगी ( और बौद्धों का व्यतिरेकानुमान निर्दोष सिद्ध होगा )। इस प्रतिप्रश्न पर नैयायिक पूछते हैं कि 'सभी विधि निषेध व्यवहार के अपात्र के रूप में निर्देशार्ह कोई वस्तु है या नहीं ?' इस प्रश्न का कोई भी उत्तर बौद्ध को वदतो व्याघात में उलझाये बिना नहीं रह सकता। यदि व्यवहारायोग्य के रूप में कोई व्यवहार्य हो तो वही अलीक होगा। इसके विपरीत यदि ऐसा कोई न ही हो तो अव्यवहार्यता के व्यवहार का निषेध कैसे सम्भव है ? ( जो प्रसक्त होता है उसीका निषेध सम्भव है। ) अतः सर्वविध व्यवहार का अविषय होते हुए भी इस अविषयता के व्यवहार का विषय अलीक होता है यह कथन वदतो व्याघात में परिणत हुए बिना नहीं रहेगा।

मू. नेतिपक्षे सकलविधिनिषेधव्यवहारविरहीत्यनेनैव व्यवहारेण विरोधात्, अव्यवहृतस्य निषेद्धमशक्यत्वात्। व्यवह्रियत इति पक्षऽपि विषयस्वरूपपर्यालोचनयैव विरोधात्, नहि सर्वव्यवहाराविषयश्च व्यवह्रियते चेति।

ऊपर विशद की हुई बात को ही ग्रन्थकार स्पष्ट कर प्रस्तुत करते हैं। विधिनिषेध व्यवहाराविषय के रूप में कोई वस्तु व्यवहार्य नहीं होती ऐसा माना जाय तो 'व्यवहाराविषय' का 'व्यवहार्यता' से ही विरोध प्रकट हो जाता है। अप्रसिद्ध या असंभव बात का निषेध नहीं किया जा सकता। 'अव्यवहार्य' के रूप में 'अलीक' की प्रतीति न हो तो उसकी व्यवहार्यता का निषेध सम्भव नहीं है। यदि विधि या व्यवहार्यता पक्ष का पुरस्कार करें तो जो 'सर्वव्यवहाराविषयत्वरूप'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्वरूप है उसका परीक्षण करने पर यह तात्पर्य निकलेगा कि जो व्यवहाराविषय है वही व्यवहार-विषयक भी है। यह बात वदतोव्याघात का ही कारण होती है।

मू. यदि चावस्तुनो निषेधव्यवहारगोचरत्वम्, विधिव्यवहारगोचरत्वापि किं न स्यात् प्रमाणाभावस्योभयत्रापि तुल्यत्वादिति। "वन्ध्यासुतस्यावक्तृत्वेऽचेतनत्वादिकमेव प्रमाणं वक्तृत्वे न तु किञ्चिदिति चेत्" न, तत्रापि सुतत्वस्य विद्यमानत्वात्, नहि वन्ध्यायाः सुतो न सुतः, तथासति स्ववचनविरोधात्। "वचनमात्रमेवैतत् न तु परमार्थतः सुत एवासाविति चेत्" न, अचैतन्यस्याप्येवरूपत्वात्, चेतनादन्यत् स्वभावान्तरमेव ह्यचेतनमित्युच्यते। "चैतन्यनिवृत्तिमात्रमेवेह विवक्षितम्, तच्च सम्भवत्येवेति चेत्", न तत्राप्यसुतत्वनिवृत्तिमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्।

अवस्तुभूत अलीक के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का व्यवहार सम्भव नहीं इस तथ्य को स्पष्ट करने के उद्देश्य से नैयायिक एक नयी बात को प्रश्नोत्तर के द्वारा प्रस्तुत करते हैं। वे पूछते हैं कि अलीक में निषेधव्यवहार–बौद्धों के मतानुसार-सम्भव हो तो विधिव्यवहार घटित होने में भी क्या हर्ज है ? प्रमाणाभाव दोनों बातों के लिये समान है। अतः अप्रामाणिकता विधिव्यवहार में बाधक नहीं कही जा सकती। इस पर बौद्ध 'वन्ध्यासुत' जैसे अलीक का उदाहरण ले कर प्रतिवाद करते हैं कि वन्ध्यासुत अवक्ता है याने वक्ता नहीं है इस बात के लिये प्रमाण वन्ध्यासुत का अचेतनत्व या चेतन न होना यही है किन्तु उसे वक्ता सिद्ध करना हो तो उसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता क्यों कि वन्ध्यासुत में कोई विध्यात्मक धर्म नहीं है। किन्तु क्या यह बात सच है ? वन्ध्यासुत कम से कम सुत तो है ! वन्ध्यासुत को सुत न कहा जाय तो यह वदतो व्याघात हो जायगा। यदि कहें कि यह केवल शब्द है, वास्तव में वन्ध्यासुत सुत हो ही नहीं सकता तो अचैतन्य के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। वन्ध्यासुत परमार्थतः अचेतन है ही नहीं। चैतन्य से भिन्न अचैतन्यरूप विध्यात्मक स्वभाव–विशेष ही अचैतन्य है। अतः वन्ध्यासुत में ऐसे विध्यात्मक स्वभाव के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। लेकिन अचैतन्य को चैतन्यनिवृत्तिरूप मान लिया जाय तो वन्ध्यासुत में चैतन्य का पर्युदास या निषेध ही उसे अचेतन कहने का अर्थ होगा और उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। किंतु तब सुतत्व का अर्थ असुतत्व–निवृत्ति या निषेध ही किया जाय तो वन्ध्यासुत को वक्ता सिद्ध करने में भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

मू. "असुतत्वनिवृत्तिमात्रस्य स्वरूपेण कृतिज्ञप्त्योरसामर्थ्ये समर्थमर्थान्तरमध्यवसेयमनन्तर्भाव्य कुतो हेतुत्वमिति चेत्" न, अचैतन्येऽप्यस्य न्यायस्य समानत्वात्। "व्यावृत्तिरूपमपि तदेव गमकं यदतस्मादेव, यथा शिंशपात्वम्, वन्ध्यासुत-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्त्वसुतादिव घटादे : सुतादपि देवदत्तादेर्व्यावर्तते, अतो न हेतुरिति चेत्" नन्वचैतन्यमेवरूपं एव, नहि वन्ध्यासुतश्चेतनादिव देवदत्तादेरचेतनादपि काष्ठादेर्न व्यावर्तते ।

उपरोक्त तर्क का प्रतिवाद करते हुए बौद्ध कहते हैं कि सुतत्व असुतत्व निवृत्तिरूप ही हो तो वह अभावरूप होने के कारण न किसी कृति के लिये न ज्ञान के लिये ही अपेक्षित होगा । अतः ऐसे अवस्तुभूत अभाव की हेतुता से कुछ सिद्ध नहीं होगा । किसी भी साध्य की सिद्धि के लिये वस्तुभूत धर्म की साधनता आवश्यक है । नैयायिक का इस पर प्रत्युत्तर यह है कि अचैतन्य भी ( जिसके द्वारा वन्ध्यासुत को अवक्ता सिद्ध किया जा रहा है ) अभावरूप होने के कारण असाधक ही होगा । इसपर बौद्ध पुनः प्रतिवाद करते हैं कि व्यावृत्तिरूप धर्म भी साधक हो सकता है यदि वह साध्य–विपक्ष मात्र से व्यावृत्त हो । बौद्ध-मत में सभी धर्म अन्यव्यावृत्तिरूप ही होते हैं । अतः शिंशपात्व जैसे धर्म अशिंशपा-व्यावृत्ति रूप ही हैं । किन्तु ये धर्म विपक्ष से ही व्यावृत्त होते हैं, सपक्ष से नहीं । वन्ध्यासुतत्वरूप धर्म ऐसा नहीं है । वह सुत से जैसे व्यावृत्त है वैसे ही असुत से भी व्यावृत्त है क्यों कि देवदत्तादि व्यक्ति सुत होते हुए भी वन्ध्यासुत नहीं हैं । नैयायिक का इस प्रतिवाद पर प्रत्याक्षेप सरल है । जैसे वन्ध्यासुत का सुतत्व साधक नहीं हो सकता वैसे ही उसका अचैतन्य भी साधक नहीं हो सकता । यह अचैतन्य जैसे चेतन देवदत्तादि व्यक्तियों से व्यावृत्त है वैसे ही अचेतन काष्ठादि से भी व्यावृत्त है । ( अतः वह अवस्तुभूत है ) ।

मू. " वक्तृत्वं वस्त्वेकनियतो धर्मः स कथमवस्तुनि साध्यो विरोधादिति चेत् " स पुनरयं विरोधः कुतः प्रमाणात् सिद्धः—किं वक्तृत्वविविक्तस्यावस्तुनो नियमेनोपलम्भात् आहोस्विद्वस्तुविविक्तस्य वक्तृत्वस्यानुपलम्भादिति । तावदवस्तु केनापि प्रमाणेनोपलम्भगोचरः, तथात्वे वा नावस्तु । नाप्युत्तरः, समानत्वात्, नहि वक्तृत्वमिव अवक्तृत्वमपि वस्तुविविक्तं कस्यचित्प्रमाणस्य विषयः ।

अलीक वन्ध्यासुत में ' अवक्तृत्व ' सिद्ध किया जा सकता है, वक्तृत्व नहीं इस विचार के समर्थनार्थ बौद्ध एक नया तर्क अब प्रस्तुत करते हैं । वे कहते हैं ' वक्तृत्व ' एक वस्तुमात्रनिष्ठ धर्म है, वह अवस्तु में यदि रह ही नहीं सकता तो उसे कैसे सिद्ध किया जा सकता है? उत्तर देते हुए नैयायिक प्रतिप्रश्न करते हैं कि वक्तृत्व को अवस्तु सिद्ध करने के प्रयास में जो विरोध प्रकट होता माना जाता है उसके लिये प्रमाण क्या है ? क्या वक्तृत्व-रहित अवस्तु नियमतः उपलब्ध होते रहना या वस्तुविरहित वक्तृत्व कभी उपलब्ध न होना यह उक्त प्रमाण है ? इनमें से प्रथम विकल्प इसलिये स्वीकार्य नहीं है कि अवस्तु का किसी भी परिस्थिति में उपलम्भ सम्भव नहीं । और यदि सम्भव हुआ तो अवस्तु को वस्तु ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मानना पड़ जायगा। दूसरा विकल्प भी अग्राह्य है क्यों कि केवल अनुपलम्भ से कोई बात सिद्ध नहीं होती। जो बात वक्तृत्व को लागू होती है वही अवक्तृत्व को भी लागू की जा सकती है। जैसे वस्तुविरहित वक्तृत्व कहीं उपलब्ध न होने से अवस्तु में उसकी सिद्धि सम्भव नहीं वैसे ही वस्तुविरहित अवक्तृत्व भी कभी सिद्ध नहीं हो सकता। अतः वन्ध्यासुत में वक्तृत्व–साधन जिस तर्क से असंभव सिद्ध होता है उसी प्रकार के तर्क से वन्ध्यासुत में अवक्तृसाधन भी असंभव सिद्ध हो जाता है।

मू. "तद्विविक्तविकल्पमात्रं तावदस्तीति चेत्"। तत्संसृष्टविकल्पनेऽपि को वारयिता ? "ननु वक्तृत्वं वचनं प्रति कर्तृत्वम्, तत्कथमवस्तुनि, तस्य सर्वसामर्थ्य-विरहलक्षणत्वादिति चेत्"। अवक्तृत्वमपि कथन्तत्र तस्य वचेनतरकर्तृत्वलक्षणत्वा-दिति। "सर्वसामर्थ्यविरहो वचनसामर्थ्यविरहो न विरुद्ध इति चेत्"। अथ सर्वसामर्थ्यविरहो वन्ध्यासुतस्य कुतः प्रमाणात् सिद्ध :। "अवस्तुत्वादेवेति चेत्" नन्वेतदपि कुतः सिद्धम्। "सर्वसामर्थ्यविरहादिति चेत्" सोऽयमितस्ततः केवलैर्वचनैर्नीर्धनाधमर्णिक इव साधून् भ्रामयन् परस्पराश्रयदोषमपि न पश्यति।

ऊपर अवक्तृत्व साधन भी असम्भव है यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया। उसके सम्बन्ध में बौद्ध प्रत्याक्षेप करते हैं कि 'वन्ध्यासुत वक्ता नहीं है' ऐसा अवस्तु सम्बन्धी वस्तु विविक्त अवक्तृत्वग्रहण या विकल्प सम्भव क्यों न माना जाय ? उसपर प्रतिबन्दी के रूप में नैयायिक कहते हैं कि 'वन्ध्यासुत वक्ता है' ऐसा अवस्तु-संसृष्ट वक्तृत्व विकल्प भी सम्भव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यदि कहा जाय कि वक्तृत्व का अर्थ वचन सम्बन्धी कर्तृत्व है और यह सर्वसामर्थ्यविरहित वन्ध्यासुत जैसे अवस्तु में नहीं रह सकता तो प्रतिबन्दी के रूप में 'अवक्तृत्व भी–जो वचनेतर कर्तृत्व रूप है–अवस्तु में कैसे सम्भव है ?' यह प्रश्न किया जा सकता है। कोई यदि इसपर प्रत्याक्षेप करे कि 'जिस (अवस्तु) में कोई सामर्थ्य नहीं उसमें वचनसामर्थ्य भी कैसे होगा' अतः उसे अवक्ता मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये तो यह पूछा जा सकता है कि अवस्तु में सर्व सामर्थ्याभाव किस प्रमाण से सिद्ध होगा ? यदि कहें कि अवस्तु होने से ही यह बात सिद्ध है तो उसपर प्रश्न होगा कि यही बात कैसे सिद्ध हुई ? 'सर्वसामर्थ्य-विरहित होने से वन्ध्यासुत की अवस्तुता सिद्ध हुई' ऐसा इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय तो स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न होता है। अतः अवस्तु में अवक्तृत्व सिद्ध करना उतना ही कठिन है जितना वक्तृत्व सिद्ध करना। किन्तु निर्धन कर्ज-दार के समान बौद्ध अन्योन्याश्रय दोष की उपेक्षा कर जानकार लोगों को सम्भ्रम में डालते रहते हैं।

मू. "क्रमयोगपद्यविरहादिति चेत्" न तद्विरहसिद्धावपि प्रमाणानुयोगस्या-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



नुवृत्ते : सुतत्वे च परामृष्यमाणे तदविनाभूतसकलवक्तृत्वादिधर्मप्रसक्तौ कुतः क्रमयौगपद्यविरहसाधनस्यावकाशः, कुतस्तरां चावस्तुत्वसाधनस्य, कुतस्तमां चावक्तृत्वादिसाधनाम् । तस्मात् प्रमाणमेव सीमा व्यवहारसाधनस्य, तदतिक्रमे त्वनियम एवेति ।

अवस्तु का अवस्तुत्व क्रमयौगपद्याभाव के द्वारा सिद्ध हो सकता है ऐसा बौद्ध पुनः प्रतिवाद कर रहे हैं । क्रमशः अथवा युगपद् कार्योत्पाद न करने के कारण वन्ध्यासुत सर्वसामर्थ्य रहित है ऐसा बौद्ध का तर्क है । इस पर नैयायिक कहते हैं कि क्रमयौगपद्याभाव सिद्ध करने के लिए भी प्रमाण की आवश्यकता है क्योंकि क्रमयौगपद्याभाव के द्वारा सर्वसामर्थ्याभाव, सर्वसामर्थ्यभाव के द्वारा वस्तुत्वाभाव और वस्तुत्वाभाव के द्वारा पुनः क्रमयौगपद्याभाव इस क्रम से साध्यसाधन चलेगा तो चक्रकानवस्थादोष अनुमान में उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा । यही नहीं, क्रमयौगपद्याभाव अवस्तु में सिद्ध करने का अवसर ही नहीं आ पायेगा । कारण यह है कि वन्ध्यासुत में सुतत्व का परामर्श कर उसके द्वारा वक्तृत्व, क्रमयौगपद्य तथा वस्तुत्व आदि धर्मों को एक बारगी ही सिद्ध कर लिया जाय तो क्रमयौगपद्याभाव, वस्तुत्वाभाव या वक्तृत्वाभाव वन्ध्यासुत में सिद्ध करने का प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होगा । पहले क्रमयौगपद्याभाव सिद्ध हो तभी बाद में क्रमशः ये बातें सिद्ध हो जायेंगी । अतः विधिव्यवहार हो या निषेधव्यवहार, वह प्रामाणिक वस्तु के सम्बन्ध में ही घटित होता है ऐसा मानना होगा । प्रमाण की सीमा का व्यवहार अतिक्रमण करे तो कोई व्यवस्था ही नहीं रह पायेगी यह बात स्वीकार करना आवश्यक है ।

मू. नह्यप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौरः कृष्णो चेति वैयात्यं विना प्रश्नः । तत्रापि यद्येकोऽप्रतीतपरामर्शविषय एवोत्तरं ददाति 'गौर' इति, अपरोऽपि किं न दद्यात् 'कृष्ण' इति । न चैवंसति कदाचिदर्थसिद्धिः, प्रमाणाभावविरोधयोरुभयत्रापि तुल्यत्वादिति ।

अप्रमाणिक बात के सम्बन्ध में प्रश्न तथा उत्तर दोनों ही अप्रामाणिक होते हैं यह तथ्य एक उदाहरण के द्वारा अब स्पष्ट किया जा रहा है । जैसे देवदत्त नामक किसी व्यक्ति का पता ही न हो तो 'वह गोरा है या काला' ऐसा प्रश्न कोई करे तो वह उस व्यक्ति की धृष्टता का ही द्योतक होगा । यदि एक व्यक्ति यह प्रश्न सुनकर किस के बारे में प्रश्न है यह न जानते हुए उत्तर दे कि 'वह गोरा नहीं' तो दूसरा यह भी उत्तर दे सकता है कि 'वह काला नहीं ।' इस प्रकार से प्रश्नोत्तरों से कोई बात प्रस्थापित नहीं हो सकती । प्रमाणाभाव तथा स्ववचनविरोध ये दोष दोनों ही उत्तरों में समान रूप से विद्यमान हैं ।

मू. 'नन्वप्रतीते व्यवहाराभाव इति युक्तम्, कूर्मरोमादयस्तु प्रतीयन्त एव, नह्येते विकल्पाः कञ्चिदर्थभेदमनुल्लिख्यन्त एवोत्पद्यन्ते, नच प्रमाणास्पदमेव व्यव-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हारास्पदमिति।' तन्न युक्तम्, तथाहि शशविषाणमिति ज्ञानमन्यथाख्यातिर्वा स्यात्, असत्ख्यातिर्वा ? न तावदाद्यस्ते रोचते, तथा सति किञ्चिदारोप्यं किञ्चिदारोप्यविषय इति स्यात्, तथाचारोपविषयस्तत्रैवास्ति आरोपणीयस्त्वन्यत्रेति जितं नैयायिकैः। नापि द्वितीयः, कारणानुपपत्तेः, इन्द्रियस्य ज्ञानजनने विषयाधिपत्येनैव व्यापारात् लिङ्गशब्दाभासयोरप्यन्यथाख्यातिमात्रजनकत्वात्, अपहस्तितस्वार्थयोश्चासत्ख्यातिजनकत्वे शशविषाणादिशब्दात् कूर्मरोमादिविकल्पानामप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् नियामकाभावात्।

बौद्ध पुनः प्रश्न करते हैं कि प्रमाणविषय ही व्यवहार्य होता है ऐसा क्यों समझा जाय ? व्यवहार के लिए व्यवहारविषय की प्रतीति (प्रामाणिक या अप्रामाणिक) ही पर्याप्त क्यों न मानी जाय ? कूर्मरोमादि सत् न होने पर भी प्रतीतिविषय तो हैं ही। शशशृंग, कूर्मरोम आदि विषयक विकल्प किसी अर्थ का आकलन किये बिना ही उत्पन्न होते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः अप्रामाणिक को भी व्यवहार्य मानना पड़ता है। नैयायिक इस प्रश्न का एक प्रतिप्रश्न के द्वारा इस प्रकार उत्तर देते हैं। वे पूछते हैं कि 'शशशृंग' शब्द सूनने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अन्यथाख्याति रूप है या असत्ख्याति रूप ? इनमें प्रथम पक्ष बौद्धों को स्वीकार्य नहीं होगा। अन्यथाख्याति में आरोप्य और आरोप विषय ये दोनों सत्य और विभिन्न स्थानीय होते हैं। शृङ्ग में शशीयत्व का आरोप शशशृंग विषयक अन्ययाख्याति में अभिप्रेत हो तो शृंग और शशीयत्व इन दोनों को विभिन्न स्थानों में विद्यमान और सत्य मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में अलीक की सत्ता या व्यवहार्यता मानने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। यदि उक्त ज्ञान को असत्ख्याति रूप मानें तो उसका कारण प्रस्तुत प्रसंग में उपस्थित न होने से वह उत्पन्न ही नहीं हो पायेगा। ज्ञान के कारण इन्द्रियविषय सन्निकर्ष, हेतु तथा शब्द हैं। इनमें पहला असत्ख्याति का उत्पादक नहीं हो सकता। इन्द्रिय विद्यमान विषय के साहचर्य से ही उसके ज्ञान को उत्पन्न करता है। यदि विषय ही असत् हो तो ज्ञान किनका होगा ? हेतु और शब्द के द्वारा जो ज्ञान होता है वह भ्रांत होने पर भी अन्यथाख्याति रूप ही होगा। अतः इन प्रमाणों का भी विषय असत् नहीं हो सकता। यदि ये प्रमाण अपने अपने विषय का परित्याग कर असत् विषय का भी ज्ञापन करने लग जायें तो 'शशशृंग' जैसे शब्द से 'कूर्मरोम' का भी बोध हो सकना चाहिए (क्यों कि शब्द और अर्थ तथा हेतु और साध्य का सम्बन्ध ज्ञान के लिय तब आवश्यक नहीं रह जाएगा)।

आचार्य एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

—नारायणशास्त्री द्राविड़

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# 'सर्जन' का अभिप्राय

संगीत की धुन, कविता, चित्र, मूर्ति, भवन– और यहाँ तक कि फिल्म– के प्रसंग में 'बनाने' और 'निर्माण करने' जैसे क्रियापदों का प्रयोग व्यापक रूप से होने के कारण इस प्रयोग की सार्थकता पर विचार करने की कोई आवश्यकता अब तक शायद अनुभव नहीं की गई है। विभिन्न कलाओं के सन्दर्भ में 'बनाने' या 'निर्माण करने' का आशय एक ही नहीं है– संगीत की धुन से लेकर स्थापत्य और फिल्म-निर्माण तक इन शब्दों से अलग-अलग तरह के कर्मों का बोध होता है; फिर भी उन सब के लिए एक ही क्रियापद का प्रयोग यह संकेत अवश्य करता है कि ऊपर से भिन्न प्रतीत होनेवाले ये क्रिया-व्यापार किसी सूक्ष्म धरातल पर अभिन्न हैं।

परस्पर भिन्न प्रतीत होनेवाले इन क्रिया-व्यापारों की आधारभूत एकता का भाव पूर्व से लेकर पश्चिम तक के मनीषियों को हुआ है। ११०० ई. के लगभग मम्मट ने कवि-भारती के साथ 'निर्मितिमादधती' का प्रयोग किया था।[1] इधर सी. एस. लीविस ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि 'पोइम' की व्युत्पत्ति जिस 'पोइमा' (P O I E M A) शब्द से हुई है और उसका अर्थ ही 'निर्मित वस्तु' होता है।[2] काव्य-हेतुओं पर विचार करते समय अभिनव गुप्त ने प्रतिभा को 'अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा' कह कर परिभाषित किया था।

जिस-जिस माध्यम का प्रयोग कला की सृष्टि के लिए होता है, उसी का उपयोग कला-सर्जन से भिन्न कार्य के लिए भी होता है, लेकिन उस स्थिति में निर्माण' शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं होता। भाषा का प्रयोग साहित्य-रचना के लिए कम, ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों के प्रेषण और दैनिक व्यवहार के लिए अधिक होता है, फिर भी साहित्य में भाषा 'निर्माण' के काम आती है जब कि अन्य क्षेत्रों में उससे कोई 'निर्माण' नहीं किया जाता। शायद इसीलिए कुछ कला-चिन्तक साहित्य को ज्ञान-विज्ञान-विद्या-से अलग रखना चाहते हैं। आर्किबाल्ड मैक्लीश की प्रसिद्ध उक्ति– 'कविता का होना प्रयोजनीय है, उसका अर्थ नहीं'[3]— के आशय की व्याख्या करते हुए सी. एस. लीविस ने कहा है कि संस्कारी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



पाठक साहित्य को ज्ञान-ग्राहक रूप में नहीं, एक निर्मिति, एक रचना, एक सृष्टि के रूप में लेता है। उसके लिए साहित्यिक कृतियाँ 'कौशलपूर्वक बनाई गई संश्लिष्ट वस्तुएँ हैं।[४]

यह अकारण नहीं है कि वाग्देवी सरस्वती के विग्रह की कल्पना करते समय उसके एक हाथ में वीणा और दूसरे में पुस्तक रखी गई है। वीणा कला की प्रतीक है और पुस्तक ज्ञान की। पुस्तक वीणा का स्थान नहीं ले सकती। इसी प्रकार वीणा पुस्तक की स्थानापन्न नहीं हो सकती। जो लोग कला को ज्ञान के साधन के रूप में देखते हैं वे वीणा से पुस्तक का काम लेने का प्रयत्न करते हैं। यह स्थिति 'निर्माण' की अवमानना की सूचक है। लेकिन, मूल्य-विपर्यय की यही स्थिति निर्माण की मूल्य प्रतिष्ठा की आवश्यकता भी उत्पन्न करती है।

: १ :

फिर भी सही बात यह है कि कलाओं के स्वधर्म की पहिचान के लिए 'निर्माण' शब्द बहुत काम का नहीं है। ज्ञान के साधन-रूप में कलाओं का 'उपयोग' करने के विरुद्ध कलाओं की अपनी विशिष्टता तो इस शब्द से प्रकट होती है, किन्तु उनके उत्कर्ष का भान यह शब्द नहीं करा सकता। यह शब्द 'कौशल' और 'उत्पादन' के अनुषंगों से इतना अधिक जुड़ा हुआ है कि कलाकृति-विशेष में रचनाकार की प्रतिभा के उन्मेषक की अपूर्वता उससे प्रकट नहीं हो सकती। यह शब्द इतना बहिर्मुखी और समूहधर्मी है कि कलाकृति की आंतरिक उद्भावना और नितांत निजी उत्कर्ष प्रकट नहीं हो सकता। यह शब्द छन्द-रचना और डॉक्युमेण्टरी फिल्मों से काव्य-रचना और कला-फिल्मों की भिन्नता को सामने नहीं ला सकता। फिर कला के क्षेत्र में 'निर्माण' की प्रतिष्ठा का रहस्य क्या है? इसके पीछे कई कारण हो सकते हैं। पहला कारण, शायद यह है कि प्रकृति-सौन्दर्य से कला-सौन्दर्य की अलग पहिचान 'निर्माण' के सम्बन्ध से की गई है। डेविट एच. पार्कर के कथन से यही प्रकट होता है. 'कलाकृति मानवनिर्मित होती है, तारों या वृक्षों के समान 'दी हुई वस्तु' नहीं होती।'[५] निर्माण का प्राथमिक सम्बन्ध माध्यम के प्रयोग से होता है, जिसकी अंतिम परिणति शिल्प पर अधिकार के रूप में होती है। ऊपरी तल पर 'कला-वस्तु' की प्रतीति शिल्प में होती है। ऐसी स्थिति में 'कला' केवल निर्माण में दिखलाई देती है। शायद इसीलिए प्राचीन यूनानियों को 'कला' और 'कारीगरी' में भेद दिखलाई नहीं दिया। दोनों को वे 'टेक्नी' कहते थे।[६] प्राचीन भारतीय ग्रंथों में उपलब्ध कला-सूचियों में भी यह भेद नहीं किया गया है– उनमें 'कला' और 'कारीगरी' दोनों तरह की चीजें सम्मिलित हैं।[७] जैसा कि डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, भारत के सांस्कृतिक इतिहास में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



एक ऐसा भी समय आया था जब 'कला' का अर्थ कौशल हो गया था।[८] कला और कारीगरी के बीच की रेखा इस प्रकार धुँधला जाने से कला के क्षेत्र में निर्माण की प्रतिष्ठा का रहस्य खुल जाता है।

लेकिन, 'कला' और 'कारीगरी' का भेद दृष्टिपथ में न रह जाने से कला मूल्यों की समझ में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। वस्तुतः प्रकृति-सौन्दर्य से कला-सौन्दर्य के अलगाने में जिस प्रकार 'निर्माण' की भूमिका महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार 'कारीगरी' से कला को अलग करके पहिचानने में 'सर्जन' की भूमिका निर्णायक है। 'कला' में 'निर्माण' या 'निर्मिति' अंतर्भूत है और इस दृष्टि से 'शिल्प' 'कला' का अपना एक अविभाज्य अंग है, लेकिन 'कला' 'शिल्प' में निहित नहीं है।— इसीलिए मात्र 'निर्माण' कला के लिए पर्याप्त नहीं है। 'निर्माण' कोई भी सिद्धहस्त व्यक्ति कर सकता है, जब कि 'सर्जन' के लिए हाथ के सधाव के साथ उद्भावना- शक्ति भी अपेक्षित है। वह केवल अभ्यास से अर्जित नहीं की जा सकती। कलाकार केवल गढ़ता नहीं, उपजाता है। इसीलिए वह विधाता—स्रष्टा—है; अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः। कलाकार और विधाता की समान भूमिका पर डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने **कालिदास की लालित्य योजना** में अच्छी तरह प्रकाश डाला है। विधाता के साथ कलाकार की तुलना द्विवेदीजी ने कलाकार को सम्मान देने के लिए नहीं, कला-सर्जना की व्याख्या के लिए की है। कालिदास ने अपने पात्रों के रूप-सौन्दर्य की चर्चा विधाता के कर्तृत्व के रूप में की है और द्विवेदीजी को उसमें कलाकार के कर्तृत्व के बखान की गुंजाइश दिखलाई दे गई है। विधाता के कर्तृत्व में कलाकार की कार्यप्रणाली के दर्शन करते हुए द्विवेदीजी ने बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं, लेकिन कहीं-कहीं उनकी पकड़, कुछ शिथिल हो गई है। **अभिज्ञान शाकुंतलम्** में शकुन्तला की रूप-सृष्टि के प्रसंग में कालिदास ने एक बहुत महत्त्व-पूर्ण बात कही है: "चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगादोच्चयेन मनसा विधिना कलासु।" इस उक्ति में मानस-सृष्टि के साथ 'परिकल्पित' शब्द आया है, जिसे लक्ष्य कर द्विवेदीजी ने लिखा है: "वस्तुतः कल्प पहले होता है, सृष्टि बाद में"।[९] कालिदास के शब्दों पर ध्यान दिया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना और सर्जन को कल्प और सृष्टि की पूर्वापरता का रूप द्विवेदीजी ने अपनी ओर से दिया है; कालिदास का मंतव्य यह नहीं है। कल्पना और सर्जन में पूर्वापरता हो ही नहीं सकती क्योंकि कल्पना सर्जना का एक अंतरंग अंग है। कालिदास की इस उक्ति का महत्त्व इस बात में निहित है कि इसमें 'परिकल्पित' शब्द में कल्पना-व्यापार का जो स्पष्ट उल्लेख किया गया है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य-चर्चा में विरल है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



'कल्पना' शब्द का प्रयोग भले ही विरल रहा हो, कल्पना-व्यापार से भारतीय मनीषा के परिचय के अनेक प्रमाण प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं। समाधिस्थ वाल्मीकि द्वारा रामकथा के हस्तामलकवत् दर्शन का वर्णन रामायण के उपक्रम में उपलब्ध है। इस प्रसंग में 'सम्प्रपश्यति', 'अन्ववैक्षत', 'पश्यति' जैसे क्रियापदों के साथ 'दृष्ट्वा' जैसी पूर्वकालिक क्रिया का भी प्रयोग हुआ है। मानस-साक्षात्कार की इस क्रिया के साथ एकाग्र चित्त की निर्विकारता सूचित करने के लिए रामायण में 'धर्मेण', 'धर्मवीर्येण', 'तत्त्वतो', 'योगमास्थितो' जैसे पदों का प्रयोग हुआ है। इसी अभिप्राय की अभिव्यक्ति के लिए आगे चल कर कालिदास ने 'सत्त्वयोगात्' पद का प्रयोग किया है। तुलसीदास ने यही बात विस्तार से कही है। उनकी उक्ति में मन की निर्मलता और कल्पनाशक्ति के प्रयोग का उल्लेख परस्पर सम्पृक्त है :

जथा सुअंजन अंजि दृग्-साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैलबन भूतल भूरि निधान॥
गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग्दोष-बिभंजन।
तेहिकरि बिमल बिबेक बिलोचन। बखउँ रामचरित भव मोचन॥

वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास तक ने निर्मल चित्त के साक्षात्कारों के रूप में सर्जन की बात कही है, लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मानस-साक्षात्कार अथवा कल्पनाशीलता सर्जन का पर्याय है अथवा मानस-साक्षात्कार हो चुकने के बाद उनके शरीरण या देहापन का कार्य सम्पन्न होता है।

: २ :

सही बात यह है कि मानस-साक्षात्कारों का सिलसिला आरम्भ होते ही उनके देहापन की स्थिति आ जाती है। देहापन के साथ-साथ जैसे-जैसे रचना आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे साक्षात्कार आगे बढ़ते हैं। गजानन माधव मुक्तिबोध ने अपने अनुभव के आधार पर लिखा है कि आरम्भ में कलाकार को साक्षात्कारों का बहुत सीमित प्रकाश उपलब्ध होता है। वह रचनापथ पर उसी प्रकार आगे बढ़ता है जैसे कोई व्यक्ति अँधेरी रात में हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन लेकर चलता हो। उसके बढ़ते जाने के साथ ही प्रकाश भी आगे बढ़ता है। उसे पूरा रास्ता पहलेसे दिखलाई नहीं देता। इसलिए "कोई भी रचनाकार यह जानता है कि रचना बढ़ते जाने के मार्ग का नक्शा रचना के पूर्व नहीं बनाया जा सकता और यदि बनाया गया तो वह यथातथ्य नहीं हो सकता।"[१०] फिर भी साक्षात्कारों के एक क्रम के रूप में रचना आगे बढ़ती है, इस नाते कवि को द्रष्टा कहा गया है।

कवि के साक्षात्कार अनेक बार एक विस्फोट अथवा अप्रतिहत प्रवाह के रूप में प्रकट होते हैं। इस स्थिति में कलाकार उन्हीं के वश में होकर रह जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है। इस आविष्ट मनःस्थिति को लक्ष्य कर वह पागलों की कोटि में भी रख दिया जाता है। शेक्सपियर जैसे महान् रचनाकार और फ्रायड जैसे महान् मनोविश्लेषक ने निस्संकोच भाव से ऐसा माना है। शेक्सपियर के विचारानुसार पागल, प्रेमी और कवि तीनों कोटियों के प्राणी कल्पनाजीवी होते हैं। फ्रायड का कहना है कि पागल और कवि के बीच थोड़ा सा फ़र्क रह जाता है। वास्तविकता यह है कि जिस सर्जनात्मक अंतःप्रेरणा के फलस्वरूप कवि द्रष्टा और ऋषि कहा जाता है, उसी के नाते वह पागल के निकट भी पहुँचा दिया गया है।

यह सही है कि कलाकार अनेक बार सर्जनात्मक अंतःप्रेरणा के क्षणों में रचना करता है, लेकिन रचना के लिए वह अपने आप में पर्याप्त नहीं होती। फ्रायड ने अचेतन मन के साक्षात्कारों अथवा दिवास्वप्नों के नाते कवि को पागल के निकट रखते हुए भी यह स्वीकार किया है कि 'विशदन' की प्रक्रिया कवि की रचना को पागल के दिवास्वप्नों से अलग कर उन्हें रसनीय बनाती है। फ्रायड के अपने प्रयोजन के लिए 'विशदन' की व्याख्या की आवश्यकता नहीं थी—इसलिए इस सम्बन्ध में हमें उनसे अधिक प्रकाश नहीं मिलता; लेकिन कला-चिंतकों ने इस समस्या पर विचार अवश्य किया है। विन्सेण्ट टॉमस ने बतलाया है कि "सर्जनात्मक कला के लिए अंतःप्रेरणा (इन्स्पिरेशन) की आवश्यकता है। यह चीज़ कौशल या विचारशीलता की देन नहीं होती; लेकिन इसका मतलब यह यह नहीं है कि अंतःप्रेरणा या सर्जनात्मक आवेश को रचना में परिणत करते समय वह अपने कौशल या विचारशीलता का उपयोग करने की स्थिति में नहीं रह जाता। यह कहना ग़लत होगा कि 'प्रेरित' या आविष्ट रचनाकार में आलोचनात्मक नियंत्रण रह ही नहीं जाता और वह अभिधार्थ में पागल होता है।"[११] 'प्रेरित' अथवा आविष्ट अवस्था में रचना अप्रतिहत वेग के साथ होती है, लेकिन उस अवस्था में भी समीक्षात्मक नियंत्रण भीतर-ही-भीतर अपना कार्य करता है। होता यह है कि उस स्थिति में अंतःप्रेरणा और विशदन के क्षण एक-दूसरे में समा जाते हैं।[१२] यही कारण है कि कलाकार अपनी रचना में स्वप्नों को अंकित करते हुए भी स्वप्नाविष्ट नहीं होता। जैसा कि चार्ल्स लैम्ब ने लिखा है, सच्चा कवि सजगतापूर्वक स्वप्न देखता है।[१३] रचना में रचयिता के अवचेतन की अभिव्यक्ति अनेक बार होती है, लेकिन विवशभाव से नहीं। कलाकार अवचेतन से प्राप्त सामग्री का उपयोग सजगतापूर्वक करता है और इस सजगता में उसके संस्कारी रचनाशील मन की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है इसलिए रचना में व्यक्त अचेतन आवेग, मानसिक रोगी की बहक, विभ्रम, सन्निपात, छायामास और अर्रबर्र नहीं हुआ करते। इसीलिए वे संदृष्टि या विजन की कोटि में रखे जा सकते है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हो सकता है कि रचना के क्षणों में साक्षात्कारों का वेग इतना प्रबल हो जाए कि कलाकार उसे सम्हाल ही न पाए। ऐसी स्थिति में रचना में बिगाड़ आ सकता है; लेकिन सधा हुआ कलाकार साक्षात्कारों के वेग से जूझ कर उन्हें अपने काबू में रखने का प्रयत्न करता है। साक्षात्कारों को अनभीष्ट दिशा में जाने से रोककर उनके प्रवाह को निर्दिष्ट दिशा में ले चलने के लिए वह सचेष्ट रहता है। रचना-प्रक्रिया का यह अंग 'आलोचनात्मक नियंत्रण' कहा जाता है।

इसीलिए कला-सर्जना को मानसिक रोग का लक्षण मानना आपत्तिजनक है। फ्रायड ने जब ऐसा किया तो युंग ने उनका विरोध करते हुए लिखा: "गद्य और पद्य, दोनों में ऐसी रचनाएँ भी होती हैं जो पूर्णतया लेखक के मंतव्य को लेकर कुछ-न-कुछ प्रभाव डालने की दिशा में अग्रसर होती हैं। ऐसी अवस्था में किसी प्रभाव पर बल देते हुए और किसी प्रभाव में संशोधन करते हुए, इसमें कुछ जोड़ते हुए और उसमें से कुछ घटाते हुए, यहाँ एक रंग और वहाँ दूसरा भरते हुए, उनके सम्भवित प्रभावों को बड़ी सावधानी से तौलते हुए और सुंदर रूप तथा शैली के नियमों का सतत ध्यान रखते हुए साहित्यकार अव्यवहित और सोद्देश्य योजना के अनुसार सामग्री का प्रयोग करता है।" १४

## ३

कलाकृति चेतन मन की सृष्टि हो या अचेतन मन की अभिव्यक्ति, सर्जन हर हालत में सूझों का एक अनुक्रम होता है। इस अनुक्रम को सँवारने में पारस्परिक संगति और अन्विति के बोध की भूमिका निर्णायक होती है जब कलाकार पहले से तय प्रतिपाद्य को ध्यान में रखकर रचना करता है तब उसकी सूझों के अनुक्रम की संगति और अन्विति का बोध उसीसे अनुशासित होता है। जब वह सीधे किसी सूझ से प्रेरित होकर रचना आरम्भ करता है, तब उसकी एक सूझ उसे दूसरी की ओर और दूसरी तीसरी की ओर ले चलती है। ऐसा होने पर रचना की यात्रा अनेक बार अनुषंगों के पथ पर होती है। कलाकार अपनी कृति में इन अनुषंगों को प्रायः एक व्यवस्था प्रदान करके प्रस्तुत करता है; किन्तु ऐसी भी कृतियाँ हैं जिनमें अनुषंगों का सिलसिला चेतना के मुक्त प्रवाह के रूप में रचनाशील मन की स्वच्छन्द गति को अपने भीतर धारण किये हुए प्रतीत होता हैं। फिर भी सच्चाई यह है कि अनुषंगों की निश्शृंखल निरन्तरता रचनासार के चेतन प्रयोजन और प्रेषणीयता के लक्ष्य से निर्दिष्ट होकर ही रचना में स्थान पाती है। रचना में अनुषंगों की निर्बन्धता एकदम नहीं होती हो, ऐसा नहीं है; लेकिन उसकी एक सीमा अवश्य है। जिस सीमा तक मुक्त अनुषंग रचना की आवयविक समग्रता में खप सकते हैं, उसी सीमा तक वे सर्जन के लिए उपयोगी हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



सकते हैं। रचना की दिशा निर्दिष्ट करने का कार्य— और इस प्रकार उसकी आवयविक समग्रता का भान– स्वयं सूफों के अनुक्रम में संगति की चेतना से उत्पन्न होता है और उसका बीज रचना को आरम्भ करनेवाली सूफ में ही निहित रहता है।[१५]

स्पष्ट है कि कलाकार सूफों में खो नहीं जाता, वह उनको निरुपादित करता है। इसीलिए सर्जन निष्क्रिय दिवास्वप्न दर्शन के विपरीत एक सक्रिय कर्म होता है। कलाकार की सूझों की शृंखला अंतःप्रेरित और सुविचारित दोनों प्रकार की हो सकती है, यहाँ तक कि वह किसी विचारधारा से निर्दिष्ट और उसकी पोषक भी हो सकती है। हर हालत में कलाकार की सूफ **एक साथ दो काम** करती है: एक ओर वह कलाकार को अंतर्दृष्टि— प्रत्यक्ष के मर्म में पैठने की क्षमता— प्रदान करती है तो दूसरी ओर उसे उन साक्षात्कारों में रमाती है जो अंतर्दृष्टि की देह बनकर उसे प्रत्यक्षीकरण विषय बनाती हैं। इस प्रकार **आलोकन और प्रत्यक्षीकरण की सम्मिलित प्रक्रिया** सर्जन का अपरिहार्य अंग है। यही कलाकार की कल्पनाशीलता कहलाती है।

: ४ :

अपनी इसी शक्ति के बल पर रचनाकार यथार्थ में पैठता है, लेकिन सर्जन सदैव यथार्थाभिमुख नहीं होता। यथार्थाभिमुखता कला का स्वधर्म भी नहीं है। इसके अतिरिक्त, यथार्थ के साथ सब कलाओं का सम्बन्ध भी एक ही तरह का नहीं होता। कलाकार जब यथार्थ के प्रति निष्ठावान् होता है तब भी यथार्थ का प्रत्यंकन उसे संतुष्ट नहीं कर सकता। यथार्थ कलाकार की कल्पना से उद्भासित होकर ही सर्जन के किसी काम का होता हैं। तभी उसे अर्थवत्ता प्राप्त होती है। इसी अर्थ में कलाकार यथार्थ को **अर्जित और अर्थापित** करता है। यही कारण है कि रचनागत यथार्थ वस्तु-जगत् की तुलना में अतिरंजित होनेपर भी कृति 'यथार्थवादी' मान ली जाती है। प्रेमचंद की कहानी 'कफ़न' हो या राही मासूम रज़ा का उपन्यास **कटरा बी आरज़ू**, रचना प्रत्यंकन से बँधी नहीं रही है; रचनाकार ने अपनी यथार्थ को अपनी कल्पना में ढालकर उसे एक ऐसी दीप्ति दी है जो उसके अपने भीतर नहीं थी। जहाँ यथार्थ कलाकार की कल्पनाशीलता से वंचित रह जाता है, वहाँ यथार्थवाद अकारथ हो जाता है।

ऐसी भी कृतियाँ होती हैं जो रचना-बाह्य यथार्थ की कसौटी पर परखी जाने पर झूठी सिद्ध होती हैं। 'प्रसाद' की 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' जैसी कहानियाँ तथा जैनेन्द्रकुमार के **त्यागपत्र** जैसे उपन्यास में यथार्थ को अंकित करने का कोई मोह दिखलाई नहीं देता। फिर भी, इन रचनाओं में जीवन का जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



साक्षात्कार होता है, उसकी अपनी एक रचनागत संगति है, जो रचनाकार की अपनी कल्पनाशीलता-सूझ-की देन, उसके अपने मन की उपज है।

साहित्य और समाज का सम्बन्ध भी लेखक की कल्पनाशीलता के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। जब तक सामाजिक समस्याएँ कलाकार की कल्पना में समा नहीं जातीं, जीवन-जगत् सम्बन्धी उसके विचार जब तक उसकी कल्पना में ढल नहीं जाते, तब तक उनकी कलात्मक परिणति नहीं हो सकती। यही कारण है कि **रामचरितमानस** में कलियुग-वर्णन के बहाने समसामयिक सामाजिक स्थिति का जो वर्णन किया गया है, वह **कवितावली** में किए गए वर्णन की तुलना में बहुत हल्का —अकलात्मक—लगता है। विचारों की कलात्मक परिणति की दृष्टि से **रामचरितमानस** और **विनयपत्रिका** की तुलना अर्थपूर्ण हो सकती है। पहली कृति में अधिकांश स्थलों पर विचार सर्जनात्मक कल्पना में घुल नहीं पाए हैं— रचना में उनकी स्वतंत्र सत्ता बनी रही है; जब कि दूसरी कृति में विचार प्रायः कवि के भावोद्गार में समा गए हैं। सूरदास और मीरां की कला तो इस दृष्टि से और भी उत्कर्ष पर दिखलाई देती है। इस कवियों के विचार कल्पना में इस तरह रमे हुए हैं कि समझने के लिए उन्हें खींचकर रचना से बाहर निकालना पड़ता है। प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएं तो प्रायः विचारनिरपेक्ष होती हैं; लेकिन मानव-विषयक रचनाओं की कलात्मक मूल्यवत्ता भी विचारों की मूल्यवत्ता पर निर्भर नहीं होती। संस्कृति भी कला में तभी महत्त्वपूर्ण हो सकती है जब वह रचनाकार की सर्जनात्मक कल्पना में रम जाए, अन्यथा नहीं। शायद इसी अभिप्राय से मॉल्कम ब्रेडबरी ने लिखा है कि साहित्यकार की 'कल्पनात्मक अंतर्दृष्टि उन विषयों का **जीवन्त निरूपण** करती है जिनकी व्याख्या एवं खोज समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा दूसरी विद्याएँ अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित, किन्तु **अल्पसर्जनात्मक ढंग से** करती हैं। यह वस्तुतः एक परोक्ष साक्ष्य होता है; साहित्य फोटोग्राफ के अर्थ में जीवन की प्रतिच्छवि नहीं हुआ करता— वह **स्वयं संघटित जीवन** होता है ..।[१६] सर्जनात्मक परिणति से वंचित रह जाने पर विचार रचना के कलात्मक उत्कर्ष का मार्ग किस तरह अवरुद्ध कर देते हैं, यह देखने के लिए सुमित्रानंदन पंत के **लोकायतन** का उदाहरण पर्याप्त है। सर्जन के इस मर्म को जो नहीं समझते वे ही कालिदास के काव्य-वैभव से संतुष्ट होने के स्थान पर उनकी रचनाओं में विचारों की खोज की आवश्यकता अनुभव करते हैं।

: ५ :

इसमें संदेह नहीं कि कला अनेक बार विषयाभिमुख होती है। विशेष रूप से साहित्य, चित्रकला और मूर्तिकला विषयाभिमुख कलाएँ हैं। फिर भी कला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



विषय की वशवर्ती कभी नहीं होती। वर्ण्य विषय जब रचनाकार के मानस में उतरता है तो उसकी अपनी सत्ता बहुत-कुछ तिरोहित हो जाती है। एरिक न्यूटन ने अपनी पुस्तक सौन्दर्य का तात्पर्य [१७] में सर्जन के दौरान विषय से रचना की क्रमिक मुक्ति की प्रक्रिया पर प्याज की परतों के सादृश्य से प्रकाश डाला है। न्यूटन के अनुसार पहली परत वर्ण्य की अपनी वस्तुसत्ता है; दूसरी परत कलाकार द्वारा उसके पक्ष-विशेष का चमन; तीसरी परत उस पक्ष-विशेष में कलाकार की चेतना का इस प्रकार रम जाना है कि वर्ण्य की वस्तु-सत्ता कलाकार की रीझ में तिरोहित हो जाए- वर्ण्य के पक्ष-विशेष के प्रति कलाकार की अनुरक्ति में वर्ण्य का अपना स्वरूप खो जाता है और कलाकार की चेतना- जिसने वर्ण्य को छा लिया है— सर्जन का प्रमुख उपादान बन जाती है; चौथी परत वर्ण्य की सत्ता से कलाकार की चेतना का सर्वथा मुक्त हो जाना है- यह परत अपनी रुचि के अनुसार कुछ ऐसा गढ़ना है जिसमें 'दृश्य जगत् के निरूपण' की चिंता अप्रासंगिक हो जाती है; पाँचवी तथा अंतिम परत माध्यम के साथ कलाकार की रचनाशील चेतना— जो उसकी कल्पना का ही पर्याय है— की अंतःक्रिया है।[१८]

मुक्तिबोध ने भी यह माना है कि कल्पना- उनके अपने शब्दों में 'फेंटेसी' -अनुभव की कन्या होते हुए भी उससे स्वतंत्र होती है और उसकी बदौलत अनुभव अपने कसकते दुखते हुए मूलों से अलग" हो जाता है।[१९] जहाँ एरिक न्यूटन ने कल्पना को प्याज की तीन मध्यवर्ती परतों के सादृश्य में उपस्थित किया है, वहाँ मुक्तिबोध ने कल्पना के उक्त तीनों चरणों को सम्मिलित रूप से रचना का 'दूसरा क्षण' कहा है। पहला क्षण संवेदनाघात का है, जो दूसरे क्षण में बहुत संशोधित-परिवर्तित हो जाता हैं। तीसरा क्षण माध्यम में कल्पना के ढलने का है। जिस प्रकार संवेदनाघात-प्रेरित कल्पना मूल संवेदना में बहुत अंशों में फेरबदल कर देती है, उसी प्रकार माध्यम में उसे उतारने के लिए कलाकार को जो संघर्ष करना पड़ता है, उसके कारण माध्यम में उतरते-उतरते कल्पना-चित्रों में भारी परिवर्तन हो जाता है।[२०]

कल्पना और माध्यम के मध्य सहकार की साधना अनेक बार दोनों के मध्य तनावों का सामना करती है, लेकिन अंततः तनावों के परिहार के साथ दोनों के परस्पर विलय में सर्जन सम्पन्न होता है। इस दृष्टि से सर्जन एक गतिशील संश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसमें 'यथार्थ,' 'अनुभव,' 'जीवन' या प्रतिपाद्य विषय केवल कच्चा माल होता है। कलाकार जिस विषय को लेकर रचना आरम्भ करता है, कृति रची जाने के दौरान उसमें कितने ही अवांतर अनुषंग घूस आते हैं और उनमें से कुछ इतने प्रबल होते हैं कि रचना के मूल विषय को एक ओर करके रचना में केंद्रीय स्थान स्वयं हथिया लेते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकार का अपना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उद्देश्य अवांतर अनुषंगों से पराभूत होकर रह जाता है और रचनाकार जो कहना चाहता था, रचना उससे भिन्न बात कह जाती है। शायद ऐसे ही किसी अनुभव को लक्ष्य कर तुलसीदासने लिखा था : "लिखत सुधाकर गा लिखि राहू"। मोहन राकेश आधे अधूरे में चले थे 'हर आदमी जैसे एक आदमी' के अधूरेपन को उधाड़ने, लेकिन नाटक पूरा होते-होते लिख गए एक खास तरह के 'घर' की कहानी।

इससे यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि रचनाकार भले ही अपने अचेतन आवेगों का दास न हो; उसकी रचना जिस रास्ते आगे बढ़ती है वह उसके अनुषंगों की आंतरिक संगति से निर्धारित होता है। कलाकार रचना के साथ मनमानी नहीं कर सकता है तो रचना भ्रष्ट हो जाएगी। कथा-साहित्य या नाटक में जब कोई चरित्र उदित होता है तो उसे उसी दिशा में विकसित होना पड़ता है जो उसके उदय के साथ न्याय कर सके। जब कोई पात्र लेखक के हाथ की कठपुतली बन कर रह जाता है तो रचना की कलात्मकता बाधित होती है।

: ६ :

कलाकार की चेतना में विषय के घुलने की पराकाष्ठा अमूर्तन के रूप में सामने आती है। अमूर्तन केवल चित्रकला में नहीं, अन्य कलाओं में भी होता है– यहाँ तक कि साहित्य में भी, जहाँ माध्यम की अर्थमयता के कारण अमूर्तता की प्रक्रिया बहुत कठिन है, अमूर्त कला के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। शमशेर की 'टूटी हुई बिखरी हुई' जैसी कविता और विपिनकुमार अग्रवाल का लोटन जैसा नाटक साहित्यिक कर्तृत्व की अमूर्तता के उदाहरण हैं।

वस्तु-बोध से इस प्रकार का विचलन एक नया अनुभव है, फिर भी यह कोई ऐसी घटना नहीं है जिसकी थोड़ी बहुत जानकारी पुराने साहित्यकारों को न रही हो। वर्ण्य विषय की अपनी सत्ता से छूट लेने की प्रवृत्ति को हजारीप्रसाद द्विवेदीने, कालिदास का सहारा लेकर, 'अन्यथाकरण' कहा है। उन्होंने लिखा है : "मनुष्य जो-कुछ भी रचता है, उसके लिए वह बाह्य जगत् की वास्तविकता से ही मसाला संग्रह करता है। पर इसे ज्यों का त्यों वह ले नहीं सकता। उसे चार आयामों के जगत् को तीन, दो या एक में बदलना पड़ता है। वह कुछ न कुछ छोड़ने को बाह्य सत्ता को बदलता है, 'अन्यथा' बनता है। इसीलिए उसके इस प्रयत्न को 'अन्यथाकरण' कहते हैं।"[२१] द्विवेदीजी के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्जन के लिए कलाकार को अन्यथाकरण को सायास साधना होता है; जबकि अन्यथाकरण, जैसा कि एरिक न्यूटन ने बतलाया है, विषय से कलाकार की चेतना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



के मुक्त होने की प्रक्रिया में स्वतः घटित होता है। भिन्न-भिन्न कलाओं और कला-कृतियों में, माध्यम की प्रकृति और रचनाकार की प्रवृत्ति के अनुसार, ' अन्यथा-करण ' की मात्रा और प्रकृति अलग-अलग होती है।

कलाओं में अर्थ-सम्बद्धता बहुत-कुछ उनकी अन्यथाकरण-सम्बन्धी क्षमता और प्रवृत्ति पर निर्भर रहती है। साहित्य में रचना की अर्थ-निरपेक्षता, शायद, अकल्पनीय है क्योंकि उसका माध्यम ही शब्दार्थ की अविच्छेद्यता लिए हुए होता हैं। अन्यथाकरण और अमूर्तन के बावजूद साहित्य-कृति अपने भीतर अर्थ लिए रहती है। शमशेर की ' सींग और नाखून ' तथा ' शिला का खून पीती थी ' जैसी रचनाएँ इसका प्रमाण हैं, लेकिन चित्र, मूर्ति और संगीत अपनी संरचना के अतिरिक्त किसी अभिप्राय के वाहक हों, यह आवश्यक नहीं है। कला जितने अंशों में अर्थ-सम्बद्धता से मुक्त हो सकती है, उतने ही अंशों में वह बाह्य-संदर्भों से भी निरपेक्ष रह सकती है। संगीत चूँकि मात्र ध्वनि-संरचना है, इसलिए उसके लिए बाह्यार्थ-बोध अप्रासंगिक है। इसलिए, अर्थमुक्ति की दृष्टि से, वह शुद्ध कला का उदाहरण होने के नाते अन्य कलाओं के लिए आदर्श है। चूँकि साहित्य में प्रत्यंकन और अमूर्त अंकन दोनों तरह की कृतियाँ होती हैं, इसलिए बाह्य संदर्भों से उसका सम्बन्ध सदा एकही तरह का नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए धर्मवीर भारती की कनुप्रिया में राधाकृष्ण की प्रणय-कथा बाह्यापरक रूप में प्रस्तुत की गई है, इसलिए उसमें बाह्य संदर्भों की अवमानता उस समय खटकती है जब राधाकृष्ण की केलि समुद्र के किनारे बतलाई जाती है। इसके विपरीत लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक सब रंग मोहभंग में कृष्ण द्वारा कॉलबेल बजाई जाना और दुर्योधन द्वारा उन्हें 'कम इन' कहकर बुलाया जाना नहीं अखरता तो इसका कारण इस नाटक की प्रत्यंकन-विमुखता है। इससे स्पष्ट है कि बाह्य संदर्भों का महत्त्व रचना के अपने स्वरूप की समग्रता– उसकी आंतरिक संरचना-से जुड़ा हुआ है।

चित्र-रचना में प्रतिनिधान से लेकर प्रभावांकन और बिम्बसृष्टि तक की विभिन्न कोटियाँ इसीलिए समान सम्मान की अधिकारिणी हैं। कल्पना की अपनी प्रकृति से किसी चित्र की कोटि निर्धारित होती है। इसलिए चित्रकला के क्षेत्र में –तथा उसके प्रभाव से अन्य कलाओं के क्षेत्र में भी– समय-समय पर जिन कला–आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ है, वे सभी कल्पना की अलग-अलग भूमिकाओं के प्रति आग्रह से उत्पन्न हुए हैं।

हिन्दी कविता में मैथिलीशरण गुप्त की बहिर्मुखी इतिवृत्तात्मकता से लेकर प्रसाद की भावप्रवण लाक्षणिकतामूलक विचारपुष्ट अंतर्मुखता और मुक्तिबोध की तर्कातीत स्वप्नाविष्ट-जैसी बहिर्मुखता-संश्लेषी अन्तर्मुख आलोचनशील रचना-रुचि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



तथा अज्ञेय की मंद मंथर-संयत संवदना-संस्पृष्ट सुकोमल अभिव्यक्ति तक सर्जन के जो विभिन्न रूप दिखलाई देते हैं, वे वस्तुतः कल्पना के विभिन्न प्रकारों की देन हैं।

सर्जनात्मक कल्पना के कुछ मोटे-मोटे प्रकार गिनाए जा सकते हैं, लेकिन कल्पना का अपना वैशिष्ट्य रचनाकार के अपने व्यक्तित्व की विशिष्टता पर रहता है। आवश्यक नहीं है कि किसी रचनाकार के सम्पूर्ण कृतित्व में आरम्भ से अंत तक कल्पना की एक ही प्रकार की भूमिका रहे। इसके विपरीत अधिक सम्भव यह है कि कलाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व के उदयकाल में कल्पना की जो भंगिमा रही हो, वह अंत तक बहुत-कुछ बदल जाए; फिर भी उस विकासक्रम में एक सूत्रबद्धता रहती है और वही कलाकार का सर्जनात्मक व्यक्तित्व निर्धारित करती है।

कलाकार के रचनाशील जीवन में कल्पना की तरह माध्यम के साथ बरताव का भी विकास हो सकता है। अवश्यक नहीं है कि उसकी सर्जनात्मक कल्पना और माध्यम के बीच का रिश्ता सदा एक ही तरह का रहे। 'रचनाशील अंतः-प्रकृति का विकास' एक व्यापक अवधारणा है, जिसमें कल्पना, माध्यम के साथ बर्ताव, इन दोनों के आपसी सम्बन्ध और इन तीनों पक्षों की अंतस्सम्बद्धता का विकास सम्मिलित है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। अज्ञेय ने पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह के आवेश में वर्ण्य की भद्रता का उल्लंघन करते हुए 'मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त... ..' जैसी पंक्ति की रचना की। यह पंक्ति सुरुचि की प्रचलित धारणा के प्रति विद्रोह के साथ संवेदना के आभिजात्य से मुक्ति की ओर उनकी कल्पना के प्रमाण की द्योतक है; फिर भी उनकी भाषा में आभिजात्य जमा हुआ है। इस प्रकार कल्पना और माध्यम के साथ बरताव की गति परस्पर विरोधी दिशाओं में है। आगे चल कर अज्ञेय की सर्जनात्मक कल्पना ने रूढ़ि-भंजन के आवेश से मुक्त होकर जब अपनी एक पहिचान कायम की तो उसमें संयम के साथ उनकी भाषा में लोकोन्मुखता का समावेश हुआ जो अंततः सहज प्रसन्न अभिव्यक्ति में परिणत हो गया। इससे कल्पना तथा भाषा के मध्य, आगे चलकर, एक ऐसी अनुकूलता उत्पन्न हुई जिसमें द्वैध का अवसान हो गया। अज्ञेय के सर्जनात्मक व्यक्तित्व का विकास उक्त तीनों पक्षों के विकास को अपने भीतर समेटे हुए है।

: ७ :

इस प्रकार 'सर्जन' अंततः कल्पना और माध्यम की अंतःक्रिया रह जाता है। ऐसी स्थिति में कलाकृति रचनाकार की उस साधना को सामने लाती है जो उसने कल्पना और माध्यम के तनावों में से रास्ता बनाकर दोनों के पारस्परिक विलय के लिए की थी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



कल्पना की प्रकृति निर्धारित करने और कल्पना-साक्षात्कारों के उद्गम के सम्बन्ध से भावबोध का स्थान कला में महत्वपूर्ण है। इस उद्गम की समझ और व्याख्या अपने-आप में रोचक, और महत्वपूर्ण भी हो सकती है। लेकिन, रचनागत भावबोध के परे जाकर अनुभव के स्रोतों और उसकी प्रमाणिकता को कला-चर्चा में सम्मिलित करने से रचना के उत्कर्ष या अपकर्ष की समझ में कोई सहायता नहीं मिलती। कारण यह है कि कलात्मकता अनुभव में नहीं, उद्भावना में रहती है। कल्पना और माध्यम की अंतःक्रिया में व्यक्त होकर वही 'सर्जन' कहलाती है।

अनुभव के स्थान पर उद्भावना का प्रासंगिक मानने का अर्थ है कच्चे माल के स्थान पर रचना के महत्व की प्रतिष्ठा। उद्भावना में अनुभव ढलता है, इसलिए वह उपेक्षणीय नहीं है; लेकिन उसका विचार उसी सीमा तक उचित है, जिस सीमा तक वह रचना में 'भावबोध' बनकर व्यक्त होता है। इसी प्रकार समाज-दृष्टि, मनोविज्ञान आदि उसी सीमा तक कलाकृति के मूल्यांकन के लिए प्रासंगिक हो सकते हैं जिस सीमा तक वे सर्जनात्मक कल्पना में रमकर उसके पोषक बने हों। रचना के बाहर से 'अनुभव' या 'ज्ञान' की कसौटी लेकर कलाकृति के मूल्यांकन का प्रयत्न करना कला-विषयक समझ का अभाव ही प्रकट करता है।

हिन्दी-विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर

—जगदीश शर्मा

## टिप्पणियाँ

१. नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतंत्रताम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ —काव्य प्रकाश ॥ १।१
२. एन एक्सपेरिमेण्ट इन क्रिटिसिज्म पृ. ८२, (१९६१)।
३. ए पोइम शुड नॉट मीन, बट बी
४. एन एक्सपेरिमेण्ट इन क्रिटिसिज़्म, पृ. ८२
५. द्रष्टव्य— मारिस वाईत्ज— सम्पादित पुस्तक प्रॉब्लम्स इन एस्थेटिक्स में डेविड एच. पार्कर का लेख— 'द नेचर आफ आर्ट' पृ. ६५
६. वही, पृ. ६२
७. द्रष्टव्य— डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद पृ. १८.
८. वही पृ. १८.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



९. कालिदास की लालित्य–योजना, पृष्ठ ७०
१०. नई कविता का आत्मसंघर्ष, पृ. २७.
११. मारिस वाइत्ज़ द्वारा सम्पादित प्रॉब्लम्स इन एस्थेस्टिक्स में विन्सेन्ट टॉमस का लेख 'क्रिएटिविटी इन आर्ट, पृष्ठ ३८३
१२. वहीं, पृ. ३८२
१३. वहीं, पृ. ३८१
१४. सी. जी. युंग, कन्ट्रीब्युशंस टु अनेलेटिक साइकॉलॉजी, पृ. २३४–३५
१५. द्रष्टव्य– मॉरिस वाइत्ज़ द्वारा सम्पादित प्रॉब्लम्स इन एस्थेटिक्स में एम. सी. बीअर्डस्ले का लेख 'ऑन क्रिएशन ऑफ आर्ट'
१६. आलोचना, नवाङ्क २५
१७. सार-संक्षेप के साथ अनुवाद : रामकीर्ति शुक्ल
१८. सौन्दर्य का तात्पर्य, पृ, २१ से २४
१९. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. १९
२०. वहीं, 'तीसरा क्षण', पूरा निबन्ध पठनीय है।
२१. कालिदास की लालित्य-योजना, पृ. ८७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# ग्रन्थ-समीक्षा

Viyappa, I., ' G. W. F. Hegel's Concept of Indian Philosophy, Gregorian University Press, Rome, 1980. pp. xi + 295. Obtainable from Gujarat Sahitya Prakash, Anand, Keda Dt Rs. 50.

प्रस्तुत शोध-प्रबंध भारतीय दर्शन से सीधा संबंध नहीं रखता है, वरन्-लेखक के शब्दों में-उसका विषय है " हेगल द्वारा प्रतिपादित हिंदू धर्म की व्याख्या और उसका मूल्यांकन" ( पृ० ५ ) । अतः निबंध वास्तव में पाश्चात्य दर्शन के इतिहास से संबंध रखता है । शोध-प्रबंध में प्रयुक्त प्रणाली इस प्रकार है : लेखक हेगल की रचनाओं में से अधिक उपयुक्त पाठों को चुनकर उनकी व्याख्या विविध संदर्भ में करते हैं, अर्थात् पहले हेगल के अपने दर्शन का संदर्भ, और दूसरे हेगल को उपलब्ध भारत विषयक स्रोतों की दृष्टि से ।

प्रथम अध्याय इन्हीं स्रोतों का विवेचन करता है । " प्राचीन " एवं " अर्वाचीन " स्रोतों का जो विभाजन यहाँ मिलता है, उसे स्वयं हेगल ने पहले किया था । तथा-कथित " अर्वाचीन स्रोतों " से तात्पर्य है वे लेख जिनकी रचना हिंदू दर्शन के वैज्ञानिक अनुसंधान के युग से लेकर ही होने लगी, अर्थात् विल्यिम जोन्स ( मृत १७९४ ई० ) के काल से लेकर । इन "अर्वाचीन" लेखों के फलस्वरूप " प्राचीन " लेखों से उत्पन्न एक मिथ्या धारणा दूर की है : जबकि प्राचीन काल से भारतीय प्रथा की प्रशंसा की गयी थी, अब से हेगल के अनुसार उसकी यह ख्याति निराधार दिखाई पड़ी। जो भी हो, वर्तमान अनुसंधान से यह स्पष्ट हो जाता है कि हेगल को भारतीय दर्शन विषयक विस्तृत जानकारी प्राप्त थी । उन्हें परिचित विद्वानों में से अधिक प्रसिद्ध नाम निम्मलिखित हैं : अंकेतिल दुपेरीन, अब्बे दुबायस, कोलब्रुक, दोनों श्लेगल नामक विद्वान् भाई, इत्यादि । यह स्पष्ट है कि हम आज हेगल पर इसलिए दोष नहीं लगा सकते हैं क्योंकि वह बाद में प्रकाशित अध्ययनों से परिचित नहीं



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



थे। शोध-प्रबंध की ग्रंथ-सूची से यह प्रतीत होता है कि हेगल को कितनी भारत-विषयक रचनाएं-या तो परोक्ष या अपरोक्ष रूप से-मालूम थीं : सूची में उनका अनुक्रम ३४ नंबर से २०६ तक फैल जाता है।

अगले दो अध्यायों में लेखक हेगल के मारतीय दर्शन विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण पाठों का विश्लेषण करते हैं। अध्याय २ में इस प्रकार के निम्म-लिखित दो पाठ मिलते हैं : पहला, ५७३ नंबर की " बाह्य टिप्पणी " ( esoteric note ) जो " Encyclopaedia of Philosophical Sciences" दूसरे प्रकाशन से लेकर ) में पाया जा सकता है; दूसरा, वोन हुम्बोल्द, ( von Humboldt ) के भगद्गीता विषयक निबंध के विषय में हेगल की समीक्षा। उपर्युक्त टिप्पणी का विषय है दर्शन एवं धर्म का संबंध एक-दो उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करना और विशेष रूपसे एक ऐसी कसौटी प्रस्तुत करना जिसकी सहायता से सर्वेश्वरवादी दर्शन को पहचाना जा सकता है। इस उद्देश्य से हेगल भगवद्गीता के अनुसार श्रीकृष्ण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने " गीता के अनेक महत्त्वपूर्ण अध्यायों को ध्यानपूर्वक पढ़ा था " ( पृ० ९३ )। हेगल इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गीता का दृष्टिकोण सर्वेश्वरवादी नहीं है। कारण, जो गीता में दो " समष्टियाँ " मिलती हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण की और विश्व की, वे परस्पर विभिन्न ही हैं। किंतु, हेगल के अनुसार 'गीता के भगवान् में' " निरपेक्ष आत्मा का दार्शनिक रूप ' नहीं दिखाई देता है ( पृ० ९३ )। ब्रम्ह-प्रत्यय की भी यही अपूर्णता है। यह सच है कि ब्रम्ह-प्रत्यय श्रीकृष्ण की काव्यमय धारणा की अपेक्षा अधिक विकसित है, लेकिन ब्रम्ह को इसलिए निरपेक्ष आत्मा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि हेगल के अनुसार उनमें मानव और विश्व के मूर्त मूल्यों का समावेश नहीं किया गया है।

अध्याय ३ में हेगल की मरणोत्तर रचनाओंमें से लिये हुए कुछ पाठों का विश्लेषण किया गया है। यह सर्वज्ञात बात है कि इन रचनाओं में हेगल का कला-दर्शन, धर्म-दर्शन और इतिहास-दर्शन प्रतिपादित किया गया है। अपने धर्म-दर्शन के संदर्भ में हेगल भारतीय धर्म को " कल्पना के धर्म " ( Religion of Fantasy ) के गौण स्तर पर रखते हैं। वहाँ भी हेगल हिंदू धार्मिक भावना की प्रशंसा करते हैं और इसे उच्च भी मानते हैं। हेगल इसलिए हिंदू धर्म की कुछ उपेक्षा करने को बाध्य थे क्योंकि वह किसी भी संस्कृति के धर्म और दर्शन को उसके ऐतिहासिक और राजनैतिक परिस्थितियों से अविच्छेद रूप से सम्बद्ध मानते हैं। हेगल के युग में, अर्थात् १९ वीं शताब्दी में, भारत स्वाधीन राष्ट्र नहीं रहा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अपने अनुसन्धान से लेखक इस मुख्य निष्कर्ष को निकालते हैं, अर्थात् कि हेगल भारतीय दर्शन पर 'परम प्रत्यय' (Absolute Idea) की अपनी धारणा आरोपित करते हैं। लेखक यह भी स्वीकार करते हैं कि हेगल द्वारा प्रस्तुत भारतीय दर्शन की व्याख्या सामान्य रूप से संगत ही है। भूमिका में लेखक ने इस बात के विषय में संदेह उठाया था कि हेगल का भारतीय दर्शन पर दृष्टिकोण तो असंगत नहीं है (पृ. २)। उसकी आलोचना करने पर भी स्वयं हेगल पर भारतीय दर्शन का बहुत प्रभाव पड़ा, विशेषकर कला, धर्म और दर्शन विषयक उनके चिंतन पर।

प्रस्तुत अध्ययन की एक उत्कृष्टता यह है कि लेखक बिलकुल वैज्ञानिक रीति से हेगल-पाठों का विश्लेषण करते हैं, अर्थात् इन्हें हेगल-दर्शन एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखते हैं। यद्यपि भारतीय दर्शन के प्रति हेगल का दृष्टिकोण काफी आलोचनात्मक है, लेखक हेगल के प्रति सदा निष्पक्ष रहते हैं। आज हमें हेगल की अपेक्षा भारतीय दर्शन विषयक बहुत अधिक जानकारी प्राप्त है; तो भारतीय दार्शनिकों का यह कर्तव्य है कि वे हेगल की अपेक्षा उसकी अधिक संतोषजनक व्याख्या प्रतिपादित करें। यह सच है कि इस व्याख्या का अनिवार्य दृष्टिकोण हेगल-दर्शन का सन्दर्भ नहीं है; दूसरी ओर हेगल-दर्शन आज तक मूल्यवान् और अंतर्दृष्टि-सम्पन्न भी बना रहा है। हमारी इस भावी व्याख्या की पृष्ठभूमि को डॉ. वियागप्पा का शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करता है।

–योहान फाइस

रांची

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



: २ :

**श्री ज्ञानेश्वरी (हिन्दी काव्यानुवाद)** – रच. डॉ. सौ. उर्मिला जामदार; प्रका० – डॉ. सौ. उर्मिला जामदार, त्रिवेणी मॅटर्निटी होम, गोल बाज़ार, जबलपुर ४८२००२; पृ. २०+९०८; अजिल्द; मूल्य– १० रु.

श्री ज्ञानेश्वरी अथवा 'भावार्थ दीपिका' महाराष्ट्र के महान् संत श्री ज्ञानेश्वर महाराज (१३ वीं शती वि०) के द्वारा 'श्रीमद्भगवद्गीता' पर लिखा गया ओवीबद्ध काव्यानुवाद मात्र नहीं है उस पर सुविस्तृत मौलिक काव्यरूप व्याख्या है। महाराज श्री ने अपने जीवन के २१ वर्ष के अल्पकाल में ही जो चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे उनमें 'भावार्थ दीपिका' अपने चिंतन, गहन अनुभव की अभिव्यक्ति और काव्यसौन्दर्य के कारण सन्तों, दार्शनिक तत्त्वज्ञों और काव्य-रसिकों, सभी के बीच समान रूप से समादृत रही है। इसकी इसी गरिमा के कारण इसका नाम 'ज्ञानेश्वरी' ही अधिक प्रसिद्ध हुआ। संत ज्ञानेश्वर जी को प्रतिभा का यह चरम विकास है, शिखर है। उनके अन्य ग्रन्थ है– अनुभवामृत, चांगदेव पासष्टि तथा हरिपाठ, जो भक्तों और ज्ञानियों के बीच आज तक आदर पाते आ रहे हैं। ज्ञानेश्वरी में एक साथ कर्म, ज्ञान, भक्ति और क्रियायोग का विशद व्याख्यानपूर्वक समाहार हुआ है। ऐसे महान् और अद्भुत ग्रन्थ का देश-विदेश की समस्त भाषाओं में अनुवाद होना उपयोगी होगा। डॉ. सौ. उर्मिला जामदार स्वयं एक तत्पर समाज-सेविका हैं और बहुमुखी सेवा-कार्य तथा सांस्कृतिक योजनाओं में व्यस्त है। प्रस्तुत अनुवाद उनके उसी कार्यकलाप का सहज परिणाम है। हिन्दी में उनके इस काव्यानुसाद के पूर्व १९७३ ई. में सन्त साहित्य सदन, मसूरी (उ. प्र.) से लगभग रायल आकार में १२०० पृष्ठों में श्री बाबुराव कुमठेकर कृत सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी का ओवीबद्ध काव्यानुवाद प्रकाशित हो चुका है। उसके पूर्व कुछ अन्य अनुवाद भी हिन्दी भाषा में हुए हैं।

निश्चय ही इतने बृहदाकार, तत्त्वज्ञान-विवेचन से पूर्ण और काव्यमय ग्रन्थ का किसी अन्य भाषा में काव्यानुवाद करना बड़ा ही निष्ठा और साहस का काम है। एक प्रकार से दुस्साध्य भी है। विशेषतः यह कठिनाई तब और भी बढ़ जाती है जब मूल ग्रन्थ प्राचीन भाषा में हो और अनुवाद एक ऐसे छंद में किया जाय जिससे अनुवाद की भाषा का साहित्य और उसका साहित्यकार परिचित नहीं है। ऐसे समय उस छन्द के स्वास्थ्य के विषय में भी शंका बनी रहती है। इस बात को ध्यान में रखा जाय तो इन अनुवादों का सच्चा महत्त्व आँकने में सहायता मिल सकती है।

**परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क २, मार्च १९८२**

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



सौ. जामदार ने उक्त अनुवाद में अभी मूल मराठी ज्ञानेश्वरी के मंगलाचरण, श्री सरस्वती तथा गुरवन्दना, गीता महात्म्य और ६, ९ तथा १२ वें अध्याय एवं पसायदान अंश का ही अनुवाद किया है। भविष्य में सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी के अनुवाद को प्रस्तुत करने का उनका प्रयास है। प्रस्तुत अनुवाद महाराज साखरे द्वारा प्रणीत 'सार्थ सटीक ज्ञानेश्वरी' को आधार मानकर किया गया है। अनुवाद की शब्दावली को मूल का अनुगामी रखते हुए अनुवादिका ने बहुत से स्थानों पर मूल मराठी शब्दों का ही प्रयोग कर दिया है। ऐसे प्रयोगों का हिन्दी में प्रचलन न होने के कारण पाठक को अर्थ ग्रहण और सहज आस्वाद में कठिनाई का अनुभव होता है। अर्थबोध के लिए, इसीलिए, आवश्यक टिप्पणियाँ दी गयी हैं। मराठी के मूल शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ अनुवादिका की एक कठिनाई हिन्दी भाषाधिकार की भी है। खड़ी बोली का स्वभाव ओवी जैसे बन्धे हुए छन्द में अपनी पूर्णता के साथ व्यक्त नहीं हो पाता; अतएव अनेक बार अनुवाद में ब्रजभाषा जैसे रूपों को ग्रहण करने की आवश्यकता हुई है। एक ही वाक्य में खड़ी और ब्रजी का मेल अटपटा-सा लगता है। कहत, भजिजे, होइजे, सन्तोषत, अलंकारत, तहाँ जैसे प्रयोग इसी स्थिति के सूचक हैं और मूल शब्दों के रूप जिव्हार, सखोल, राणीव, कोंम जैसे शब्द प्रयोगों में दिखायी देते हैं। इनमें से बहुत-सों को हिन्दी शब्दों में व्यक्त करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए थी। अनुवाद में सीधे-सादे अकारांत शब्दों का ऊकारांत रूप में प्रस्तुत कर देने से भी भाषा की सहजता को हानि पहुँची है। यथा, सागरू, अत्यादरू, आधारू साधारु आदि। लाघव के अनुरोध से 'वन्दी' (वन्दना की) और देखा (देखें) जैसे प्रयोग भी आ गये हैं। यद्यपि मूल के अर्थ की स्पष्टता में अनुवाद सहायक है और कई बार मूल हिन्दी के प्रयोग बड़े अर्थ-व्यंजक रूप में प्रस्तुत हुए हैं, तथापि कुछ ऐसे स्थल भी रह गये हैं या तो मूल के अर्थ या भाव से हट गये हैं या अधिक स्पष्टता की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरण के लिए मंगलाचरण के छन्द सं. ४ में 'स्मृति-रूपी' के स्थान पर 'स्मृति एवं,' 'लावण्य की खान' के स्थान पर 'लावण्य लाघव' पद का प्रयोग यथार्थ को वहन नहीं करता। मिलाइये,

स्मृति एवं अवयव। देखो आंगिक भाव। पूर्ण लावण्य लाघव। अर्थ शोभा ॥४॥(हिन्दी)

० ० ०

स्मृती तेचि अवयव। देखा आंगीक भाव। तेथ लावण्याची ठेव। अर्थ शोभा॥ (मराठी) इसी प्रकार छन्द सं. ६ में मराठी से सीधे 'पदबंध नागर' पद का प्रयोग कर दिया गया है। 'नागर' शब्द सुन्दरार्थक मानकर प्रयुक्त है जब कि हिन्दी में उसका यह अर्थ गृहीत नहीं है। अस्तु।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



डॉ. जामदार के इस अनुवाद के द्वारा हिन्दी पाठकों को ज्ञानेश्वरी के ज्ञान का एक अलभ्य लाभ प्राप्त होगा और वे मूल मराठी ज्ञानेश्वरी के समीप पहुँचने का आनंद लाभ भी करेंगे। इस दुहरे लाभ और, अनुवाद की कठिनाई होनेपर भी, यथासम्भव अर्थ पर अनुवाद करने के लिए सौ. जामदार बधाई की पात्र हैं। हम आशा करते हैं कि भविष्य में वे सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी का अनुवाद और अच्छे रूप में प्रस्तुत कर सकेंगी।

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय

—आनन्दप्रकाश दीक्षित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



: ३ :

डॉ. सीताराम झा, **भारतीय समाज का स्वरूप**, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, १९७४, पृष्ठ २०४, मूल्य ८-०० रुपये.

देश में स्वातन्त्र्योत्तर काल से जहाँ शिक्षा के व्यापक प्रसार की आयोजनाएँ क्रियान्वित की गई हैं, वहीं राष्ट्रीय पुनर्जागरण के सन्दर्भ में विश्वविद्यालयों सहित शिक्षा के सभी स्तरों पर भारतीय भाषाओं के प्रति आग्रह बढ़ा है। सहजता और सुगमता के साथ २ अभिव्यक्ति की प्रभावपूर्णता व स्वतःस्फूर्तता से माध्यम के रूप में मातृभाषाओं का प्रचलन दिन-प्रतिदिन विकसित हो रहा है। किन्तु स्वभाविक है कि उत्क्रांति के वर्तमान प्रथम चरण में भारतीय भाषाओं में लिखे गये मौलिक साहित्य का कोष बहुत कम है। विश्वविद्यालयों के स्तर पर और विज्ञान के क्षेत्र में इस प्रकार का अभाव विशेष है। भारत सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ. झा की एक ऐसी ही कृति है जो भारत सरकार के शिक्षा एवं समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित है। ग्रन्थ का महत्व विश्वविद्यालय-स्तर के विद्यार्थियों के लिए है।

प्रस्तुत पुस्तक का केन्द्र संस्कृति, भाषा और कला के साथ भारतीय समाज व्यवस्था की गवेषणात्मक विवेचना है। समाज व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ण, जाति, आश्रम, पारिवारिक, सामाजिक, राज्य और आर्थिक संगठन तथा धर्म सम्मिलित हैं। विस्तृत शोध के माध्यम से लेखक ने भारतीय संस्थाओं के मूल, विकास तथा स्वरूप को प्रदर्शित किया है। मूल को प्राप्त करने के निमित्त लेखक ने यत्र-तत्र भाषा वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया है। इस प्रकार से साहित्य और समाज-विज्ञान को जोड़नेवाला लेखक का प्रयास, हिन्दी भाषा में समाज-विज्ञान के मौलिक लेखन में एक महत्वपूर्ण योगदान है। यह ग्रन्थ साहित्य तथा समाज-विज्ञान के अध्येताओं और अनुसंधाताओं के लिए एक उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ है।

लेखक के अनुसार भारतीय सामाजिक विचारधारा का विश्लेषण तीन रूपों में किया जा सकता है-

१. भारतीयतावादी
२. भारतीयता-विरोधवादी और
३. सामंजस्यवादी



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



एक ओर जहाँ भारतीयतावाद पारम्परिक शुद्धतावादी दृष्टिकोण के पूर्ण-रूपेण अनुसरण के प्रति आग्रही है, भारतीयताविरोधवाद वैज्ञानिक-औद्योगिक विकास के परिप्रेक्ष्य में परम्पराओं को पूर्णतः विच्छिन्न कर देता है। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, गांधी और अरविन्द के आन्दोलन समन्वयवादी हैं जो प्राचीन और नवीन में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयास हैं।

हिन्दी के मौलिक लेखन के रूप में 'भारतीय समाज का स्वरूप' एक उत्कृष्ट रचना है जो लेखक के विशाल अध्ययन और परिश्रम का प्रयास है। ग्रन्थ की भाषा विशेष रूप से सराहनीय है। भाषा संस्कृतनिष्ठ, सुन्दर और प्रवाहपूर्ण है। समाजशास्त्रीय अवधारणाओं के प्रस्तुतीकरण में भी भाषा ताजी, सहज और स्वभाविक रूप से आती है। लेखक ने अपने सामाजिक दर्शन की रचना में पुरातन भारतीय साहित्य, वेद, पुराण, मनुस्मृति आदि तथा आधुनिक पाश्चात्य साहित्य दोनों से लाभ उठाया है। इससे वेदों, पुराणों, रामचरितमानस.....और आधुनिक समाजशास्त्रियों, दुर्खीम, मार्क्स, घुर्ये, कर्वे... .. आदि के सन्दर्भ साथ-२ चलते दीखते हैं।

तदापि सामाजिक परिवर्तन प्रस्तुत पुस्तक का एक कमजोर पक्ष है। वेद-कालीन भारतीय समाज से आधुनिक भारतीय समाज तक के परिवर्तन के कारणों और स्वरूप पर लेखक कोई प्रकाश नहीं डाल पाता। साथ ही ऐतिहासिक सन्दर्भ में विदेशियों के आक्रमणों, आगमन, मिश्रण से जनित सामाजिक परिवर्तनों का उल्लेख भी पुस्तक में नहीं है। भारत में रहनेवाले गैर हिन्दू समाज के वर्णन को अधूरा छोड़ देती है। वर्तमान भारत की सामाजिक स्थिति को समझने के लिए 'वेस्टर्नाइजेसन' तथा 'संस्कृताइजेसन' दो महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रियायें हैं। लेखक ने इसका कहीं भी जिक्र नहीं किया है। अनेक स्थानों पर लेखक का रवैया पक्षपातपूर्ण और प्रतिक्रियावादी है। उदाहरणार्थ 'वर्ण' के सम्बन्ध में लिखते हुए लेखक का कथन है–

...वैसे आधुनिक काल में अध्ययन सभी वर्णों के लोगों द्वारा होने लगा है, पर इतना स्पष्ट है कि ब्राह्मण जिस तीव्रता और शुद्धता से विद्या पढ़ाता है और उसमें निपुणता प्राप्त करता है, वह अन्य वर्णों से प्रायः सम्भव नहीं हो पाता। यही कारण है कि आज विद्या के बदले अविद्या का ही अधिक प्रचार-प्रसार हो रहा है। फिर भी अपनी साधना और योग्यता के आधार पर ब्राह्मण का स्थान तो आज भी सर्वोपरि है ही (पृ० ११)।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



यत्र-तत्र पश्चिमी विद्वानों के उद्धरण जो मूल अंग्रेजी में, बिना उनके अनुवाद के, दिये गये हैं, खटकते हैं। हिन्दी माध्यम के विद्यार्थी के लिए उनका अनुवाद तो अपेक्षित है ही।

पुस्तक का मूल्य (८–०० रु.) काफी कम है जिससे विश्वविद्यालय के छात्र खरीद सकते हैं।

– ए. के. शर्मा

आई. आई. टी.
कानपुर (उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२४) **डॉ. मीना केळकर**
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–७.

२५) **श्री. शारदाप्रसाद द्विवेदी**
हिन्दी साहित्य संसद्
मिमानी स्ट्रीट, बम्बई-४०००१९.

२६) **डॉ. शारदाप्रसाद शर्मा**
शर्मा सदन
लक्ष्मीनारायण लेन, माटुंगा (पूर्व)
बम्बई–४०४०१९

२७) **डॉ. कामिल बुल्के**
मनरेसा हाऊस
पो. बॉक्स् २, रांची–८३४००१

२८) **डॉ. नितीन जे. व्यास**
पेन्टर तानाजी लेन
सिद्धनाथ रोड, मार्केट के पीछे
वडोदरा–३९०००१

२९) **डॉ. नन्दकिशोर आचार्य**
सुथारों की बड़ी गुवाड
बीकानेर (राजस्थान)

# साभार अभिस्वीकृति

युवाचार्य महाप्रज्ञ; **सम्बोधि**; जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज.) १९८१; पृ. ३०+४६०; सजिल्द,वरुपये ६०–००

अमरसिंह सपट 'अमर'; **मंजु**; गोपाल पोहेकर, मानव मन्दिर रोड, बम्बई, १९८१; पृ. ६५

हसमुख पारेख; **हीरा के प्रति**; वोरा अैण्ड कंपनी पब्लिशर्श, बम्बई, ४००००२; १९८१; पृ. १४+२१८; सजिल्द, रुपये २५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'परामर्श' (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण

## फॉर्म 4 (नियम 8 देखिए)

| | |
|---|---|
| १. प्रकाशन स्थान | : दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७ |
| २. प्रकाशन अवधि | : त्रैमासिक |
| ३. मुद्रक का नाम पता और राष्ट्रीयता | : डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७, भारतीय |
| ४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता | : डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे<br>: दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७, भारतीय |
| ५. संपादक का नाम, पता और राष्ट्रीयता | : डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७ भारतीय |
| ६. उन व्यक्तियों। संस्थाओं के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों। | : दर्शन और हिंदी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना–४११००७, प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अंमलनेर, जि. जलगाँव (महाराष्ट्र) |

मैं सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

–सुरेन्द्र बारलिंगे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

---

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

---

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

---

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श ( हिन्दी )


| | | |
|---|---|---|
| छाया राय | "शुभ" तथा "गुड" तुलनात्मक अर्थ-विवेचन | ९ |
| उर्मिला चतुर्वेदी | औपनिषद् परंपरा में योग | ९ |
| रेनू खन्ना | हॉब्स् : स्वार्थवादी अथवा उपयोगितावादी ? | ११ |
| सागरमल जैन | सत्ता कितनी वाच्य और कितनी अवाच्य ? : जैन दर्शन के सम्बन्ध में | ११ |
| गोरखनाथ मिश्र | संघटनावाद का सत्ताशास्त्रीय मूल्यांकन | १२ |
| अशोक भाटिया | रीतिकालीन रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य में शृंगार-वर्णन | १३ |
| यशदेव शल्य | कला-सर्जन | १४ |
| नारायणशास्त्री द्राविड | आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (६) | १५ |
| जगदीश शर्मा | 'सर्जन' का अभिप्राय | १५ |
| | ग्रंथ-समीक्षाएँ | १७ |


RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श

( हिन्दी )

खण्ड ३ अंक ३

जून १९८२

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श ( हिन्दी )

※ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका
※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ※ राजेन्द्र प्रसाद ※ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ※ रमाकान्त सिनारी ※ विजयकुमार भारद्वाज ※ शारदा जैन संगमलाल पांडे ※ आर्. बालसुब्रमणियन् ※ अशोक रा. केळकर ※ के. जे. शहा ※ नारायणशास्त्री द्राविड ※ के. सच्चिदानंद मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन गुप्ता ※ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

| | | |
|---|---|---|
| ( १ ) | संस्थाओं के लिए | रु. १६-०० |
| ( २ ) | व्यक्तियों के लिए | रु. १२-०० |
| ( ३ ) | छात्रों के लिए | रु. ०८-०० |
| | एक प्रति | रु. ०५-०० |

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा दर्शनों की दृष्टि में 'प्रवृत्ति'

## (१)

भारतीय दर्शन में आध्यात्मिकता की उपलब्धि तथा परिपुष्टि साधन में नैतिकता की गुरुत्वपूर्ण भूमिका है। सत्यानुसन्धान की अन्तर्दृष्टि एवं नैतिक जीवन एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दार्शनिक तत्त्वानुसन्धान तथा नैतिक साधना में कोई विरोध नहीं है। नैतिक जीवन के लिए चित्तशुद्धि आवश्यक है। और चित्तशुद्धि के लिए विषयगत कर्तव्य कर्म के साथ विषयीगत (व्यक्तिगत) मनस्तात्त्विक-नैतिकता की भी आवश्यकता है। कर्तव्य में 'प्रवृत्ति' विषयक आलोचना से नीतिशास्त्र का मनस्तात्त्विक प्रयोजन स्पष्ट होता है।

## (२)

न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रवृत्ति का मनस्तात्त्विक विश्लेषण सूक्ष्मरूप से किया गया है। नैयायिकों ने अपनी सुविधा और असुविधा का विचार करके आत्मकेन्द्रित दृष्टि से कर्तव्य कर्म का विवेचन किया है। इसलिए उनकी दृष्टि विषयीगत है। आत्मधर्म प्रयत्न को उन्होंने प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा जीवनयोनि प्रयत्न के भेद से तीन वर्गों में विभक्त किया है। इष्टसाधनता के ज्ञान से प्रवृत्ति और अनिष्टसाधनता के ज्ञान से निवृत्ति होती है। इसलिए प्रवृत्ति क्रियात्मक इच्छा है, जिसके अनुसार इष्ट का चुनाव किया जाता है। निवृत्ति निषेधात्मक क्रिया है, जिसके द्वारा अनिष्ट का परित्याग किया जाता है। जीवनयोनि प्रयत्न स्वतः प्रत्येक जीव में जीवन पर्यन्त चलता रहता है। यह प्रयत्न जीवन के स्वाभाविक प्राणसंचार का जनक होने से केवल इन्द्रिय घटित साधारण कर्म से सम्बन्ध रखता है।[1] अतः यह स्वेच्छाधीन प्रयत्न नहीं है। मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा के इसमें काम न करने से ऐसी क्रिया में नैतिक दायित्व भी कम हो जाता है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ३, जून, १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



न्यायमत के अनुसार इच्छा-द्वेष से प्रेरित प्रवृत्ति और निवृत्ति ही स्वेच्छाधीन प्रयत्न है। क्योंकि शरीर विधारण के साथ इनमें हितप्राप्ति और अहितपरिहार जैसे निश्चित लक्ष्य के प्रकट होने से इनका सम्बन्ध मनुष्य की ऐच्छिक क्रियाओं से है, जिन्हें वह जानबूझ कर निर्णय करके करता है। इच्छा में स्वातंत्र्य का बोध नैतिक दायित्व की दृष्टि से सब से अधिक महत्व का है। न्यायमत में इष्ट साधनता ज्ञान से इच्छा की उत्पत्ति होती है और इच्छा से प्रवृत्ति होती है। इसलिए, इच्छा मानसिक शक्ति है। प्रवृत्ति की उत्पत्ति में पहले सुखादि फल के ज्ञान से फल की इच्छा होती है। तब उसके उपाय में इष्ट साधनता का ज्ञान होता है। उसके बाद उपाय में इच्छा या 'चिकीर्षा' होते हुए उसमें प्रवृत्ति या 'कृति' आ जाती है। चिकीर्षा किसी कार्य सम्पन्न करने की वह इच्छा है जिसके बारे में यह ज्ञान प्राप्त हो चुका है कि उसे किया जा सकता है। न्याय की परिभाषा में इसको 'कृति-साध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यविषयिनीच्छा' कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि चिकीर्षा वह इच्छा है जिसका प्रकार (रूप) स्वेच्छा से किया जानेवाले कार्य द्वारा स्थिर होता है। प्रवृत्ति से शारीरिक चेष्टा होने के कारण न्यायदर्शन में प्रवृत्ति धर्माधर्म की जननी, शरीर-इन्द्रिय और मन की शुभाशुभचेष्टा जैसी है?[२] अपने हित-अहित से युक्त होने से वह कर्तव्य कर्म है और इसलिए वह नैतिक कर्म भी होता है।

नैयायिकों ने वेदविहितकर्म को नैतिक कर्म माना है। नैतिक कर्म होने के कारण वह भी स्वेच्छाधीन है। इसलिए विधिवाक्य सुनने पर तुरंत प्रवृत्ति नहीं होती। पहले हित-अहित प्राप्ति परिहार आदि फल का विचार आता है। और तब प्रवृत्ति होती है। नहीं तो धर्माधर्म का विवेक निश्चय करना कठिन हो जाता है।[३] भले और बुरे के ग्रहण और त्याग की चेष्टा से कर्तव्य निर्णय होने के कारण परप्रेरणाजन्य प्रवृत्ति में भी अपनी प्रीति की तरह स्वार्थ सम्भावना प्रकट होती है।[४] न्यायमतानुसार, विफल कर्म के अनुष्ठान में कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए यह कहना यथार्थ है कि न्यायमत में फल का ही प्रेरकत्व है, आदेश या विधी का नहीं[५]। वेद मेरे इष्ट के साधन हैं इस युक्ति से नैयायिकों ने वेद विधि को स्वीकार किया और स्वर्गादि फल का ज्ञापक होने से विधिवाक्य की प्रयोजनीयता मानी है।

न्यायमत के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि नैयायिकों ने 'चिकीर्षा' (करने की इच्छा) कृतिसाध्यताज्ञान (यह मेरे द्वारा सम्पादन करने योग्य है इसका ज्ञान) इष्टसाधनताज्ञान (यह मेरे अभिमत लक्ष्य पर पहुँचाने वाला है इसका ज्ञान) और उपादान के प्रत्यक्ष को प्रवृत्ति के चार हेतु माने हैं[६]। ये सब ही प्रवृत्ति के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



लिए अपरिहार्य हैं। इसलिए जहाँ 'कृतिसाध्यताज्ञान' नहीं रहता है वहाँ चिकीर्षा और इष्टसाधनता ज्ञान रहते हुए भी प्रवृत्ति का बोध होता है। और विफल कर्म में चिकीर्षा और कृतिसाध्यताज्ञान होने पर भी इष्टसाधनताज्ञान के अभाव से प्रवृत्ति नहीं होती। यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि इष्टसाधनताज्ञान को नैयायिकों ने बलवदनिष्ट की अननुबन्धि बताया है। इसका अर्थ यह है कि इष्टसाधनताज्ञान से प्रबलतर बुराई या विपत्ति का जनक कोई ज्ञान न रहे।

प्रभाकर मीमांसक के मतानुसार साध्यता और साधनता का एक साथ एक वस्तु में रहना असंभव होने के कारण इष्टसाधनताज्ञान से उत्पन्न 'कार्यताज्ञान' या 'कृतिसाध्यताज्ञान' प्रवृत्ति का हेतु होता है। यहाँ कालभेद होने से दोनों की साध्यता और साधनता सम्भव है। लेकिन न्यायमत में इसका समर्थन नहीं है। उनके मत से साध्यत्व और साधनत्व के एक ही काल में एक ही वस्तु में रहने में कठिनाई होते हुए यद्यपि कालभेद को स्वीकार करना है, फिर भिन्न भिन्न काल में उनका रहना सम्भव होने से उनका ज्ञान एक ही समय में हो सकता है। इसलिए प्रबलतरविपत्ति का अजनक इष्टसाधनता विषयक कृतिसाध्यताज्ञान को नैयायिकों ने प्रवृत्ति का हेतु माना है, जो लाघव ही है।[७] प्रकृतस्थल में, चिकीर्षा आदि सब हेतु के मूल में ही इष्टसाधनताज्ञान पाया जाता है। जिसका अर्थ 'इदानीन्तन' या इस काल की सापेक्षता में समझना है। क्योंकि जहाँ उस समय की इष्टसाधनता नहीं है वहाँ प्रवृत्ति भी नहीं होती।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि हर काम में इष्टसाधनता बुद्धि रहने से जिसका करना नैतिकदृष्टि से अपराध माना गया है, उसमें कैसे प्रवृत्ति होती है? न्यायमतानुसार अनैतिक कर्म में भी स्वाभाविक अनिष्टसाधनताज्ञान अन्तर्हित हो कर समयानुकूल इष्टसाधनता प्रकट होती है।

न्यायमत में, इष्टसाधनताज्ञान को प्रवर्तक मानने से, वेदविधि में भी इष्ट-साधनताज्ञान से प्रवृत्ति होती है।[८] इसलिए वहाँ फल का उल्लेख नहीं हुआ, वहाँ भी 'विश्वजित न्याय' से स्वर्गादि फल की कल्पना की गयी है। नित्य कर्म में भी फल की कामना को स्वीकार करना है, नहीं तो इष्टसाधनताज्ञान के अभाव से प्रवृत्ति की उत्पत्ति बाधित होती है। इसलिए नित्यकर्म में अर्थवाद-वाक्य के फल को रात्रिसत्र न्याय से फल समझना है। 'न कलंजे भक्षयेत्' आदि निषेध स्थलों में इष्टसाधनता तथा कृतिसाध्यता की विध्यर्थता बाधित होती है। क्योंकि, कलंज-भक्षण तृप्ति रूप में इष्ट का साधन होने से उसका निषेध बाधित होता है। प्राचीन न्यायमत में, इसलिए इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व और बलवदनिष्ट के अननुबन्धित्व में अलग अलग शक्ति स्वीकार की गयी है। और आवश्यकतानुसार उनमें से किसी को विध्यर्थ माना गया है।[९]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उदयनाचार्य के मत में आप्त का अभिप्राय विध्यर्थ है।[१०] यद्यपि 'आद्य प्रवृत्तिरिच्छैव' इस नियम के अनुसार इच्छा ही आदि प्रवृत्ति है, लेकिन विध्यर्थ निर्णय में विधिजन्य ज्ञान से प्रवृत्ति होती है और यह प्रवृत्ति कृति रूप है। कृति इच्छा (चिकीर्षा) से होती है और जिससे वह इच्छा होती है वह ज्ञान है। क्योंकि 'इदं मदिष्टसाधनम्' यह मेरा इष्टसाधन है और 'इदंमत्कृतिसाध्यम्' यह मेरी कृति से साध्य है – इस प्रकार का ज्ञान चिकीर्षा को उत्पन्न करता है। इस ज्ञान का विषय इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व ही प्राचीन मत में विध्यर्थ है। और उदयनाचार्य के मतानुसार इष्टसाधनता का अनुमापक आप्ताभिप्राय विध्यर्थ है (न्या. कु. ५/६)। प्रवृत्ति-निवृत्ति के विषय में वक्ता का अभिप्राय लिंगादि विधि प्रत्ययों से अभिधेय होता है। आप्ताभिप्राय से यागादि प्रवृत्ति विषय में याग करने वाले की इष्टसाधनता अनुमेय है।

वस्तुतः इच्छा और अभिप्राय समानार्थक है। इच्छा के मूल में इष्टसाधनता ज्ञान है और आप्ताभिप्राय इष्टसाधनता का अनुमापक है। इसलिए आप्त के अभिप्राय को विध्यर्थ कहना और इष्टसाधनता को विध्यर्थ कहना सम्पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। केवल विशेषता यही है कि इष्टसाधनताज्ञान अन्वय और व्यतिरेक से प्रवृत्ति के प्रति साक्षात् कारण है और आप्ताभिप्राय परंपरा संबंध से कारण है। फिर, आप्ताभिप्राय को विध्यर्थ मानने से कुछ विपत्तियां प्रकट होती हैं। संसार में जितने कार्य होते हैं वे सब ईश्वर की इच्छा से ही होते हैं, इसलिए ईश्वर की इच्छा के सर्व विषय होने से निषेधस्थलों में आप्ताभिप्रायरूप ईश्वरेच्छा की विध्यर्थता का बाध हो जाता है। और बलवदनिष्ट की अननुबंधित इच्छा को वाच्यार्थ मानने में गौरव होगा। इसलिए इष्टसाधनता को विध्यर्थ मानना ही अधिक अच्छा है।[११]

न्यायमत की पर्यालोचना से यह स्पष्ट है आत्मकेन्द्रित दृष्टि से कर्तव्य का विचार होने से प्रवृत्ति में फल की ही कारणता है। केवल श्रेयःसाधन होने से किसी को प्रवर्तक नहीं माना जा सकता। क्योंकि कोई विषय श्रेय का साधन होते हुए भी जब प्रार्थित नहीं होता तब उसमें प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। मीमांसा में प्रार्थित होने पर भी अनिश्चित विषय में प्रवृत्ति बाधित होते हुए श्रेयःसाधनत्व का ज्ञान प्रवर्तक होता है। न्यायमत में जहां श्रेयःसाधनता का ज्ञान और फल की इच्छा एक साथ होती है वहां इच्छा को ही प्रवर्तक मानना है। कारण इच्छा से ही कर्म में प्रवृत्ति होती है। इस इच्छा का कार्य प्रत्यय या प्रवृत्ति है। अतः विषय के ग्रहण में श्रेयःसाधनता कारण होने पर भी प्रवृत्ति में कारण नहीं होती। न्यायमत में विधि अपनी महिमा से प्रेरक नहीं बनती और साध्य साधन संबंध के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अवबोध से उसके प्रवर्तकत्व किया जाने से वस्तुतः फल को ही प्रवर्तक माना जा सकता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन का यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सुखवाद से मिलता जुलता है, जिसके अनुसार कर्तव्य को कर्ता के स्वार्थ (इष्ट) से अलग नहीं किया जा सकता है। और यह स्वार्थ मानव जीवन के परमार्थ के समकक्ष हो सकता है।

## (३)

पूर्वमीमांसा दर्शन में कर्तव्यकर्म का विवेचन विधिकेन्द्रित है। यहां अपनी सुविधा या असुविधा का कोई भी प्रसंग नहीं है, इसलिए मीमांसा मत विषयगत है। कर्तव्य कर्म पर सर्वाधिक गुरुत्व देते हुए उन्होंने प्रवृत्ति का विचार किया है। भाट्टमत में भी प्रतिपादित हुआ है कि मनुष्य की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है, कभी स्वेच्छा से और कभी परप्रेरणा से।[१२] स्वेच्छाजन्या प्रवृत्ति में इष्टसाधनता का ज्ञान प्रवृत्ति का जनक होता है। इसको नैतिक कर्म नहीं कहा जा सकता। मीमांसा की दृष्टि में केवल वैदिक कर्म ही नैतिक कर्म है, जिसमें परप्रेरणाजन्या प्रवृत्ति होते हुए प्रवर्तना ज्ञान प्रवर्तक होती है। वैदिक कर्म को उन्होंने इष्ट का साधन जैसे करणीय नहीं माना, परन्तु उसको अवश्य कर्तव्य रूप में निर्देशित किया है।

'प्रवर्तना' प्रवृत्त करनेवाले पुरुष में स्थित व्यापार विशेष को कहते हैं। इसलिए वह प्रवृत्ति का विषय है। इसका दूसरा नाम है 'शाब्दीभावना'। अभिधायकत्व संबंध से वह शब्दनिष्ठ है और उसका शक्तिग्रह विधि–नियंत्रण आदि अनुशासन से होता है। जहां चेतन पुरुष प्रवर्तक होता है वहां उसमें स्थित इच्छा प्रवर्तना के रूप मे दिखाई पड़ती है। अपौरुषेय वैदिक वाक्य में कोई वक्ता न होने से ही अचेतन शब्दनिष्ठ 'अभिधा' के रूप में प्रवर्तना रहती है। इसलिए, आचार्य के अनुशासन से जैसे शिष्य की प्रवृत्ति होती है, उस तरह 'अभिधा' के ज्ञान से वेदविधि में प्रवृत्ति होती है। मीमांसा परिभाषा में इसको 'भावना' कहा जाता है। भाट्टमत में विधि से उसी भावना की सूचना होने से भावनात्मक विधि प्रवर्तक है।

'भावना' का अर्थ जो उत्पन्न होनेवाला है उसकी उत्पत्ति के लिए उत्पादन करनेवाले पुरुष का व्यापार या प्रयत्न है।[१३] इसलिए पुरुष की क्रिया मात्र 'भावना' नहीं। परन्तु प्रत्ययों से प्रतीयमान समयानुसार आगे और पीछे अनुष्ठित यागादिकर्म से भिन्न पुरुष का प्रयत्न ही केवल 'भावना' है। कुमारिल भट्ट ने भावना के दो भेद माने हैं, जिसको 'शब्दभावना' और 'अर्थभावना' नाम से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



कहते हैं। शब्दभावना पुरुष को प्रेरणा देनेवाला विधि होते हुए शब्दनिष्ठ प्रयोजक व्यापार है, जिसमें प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार में शक्ति है। 'अर्थभावना' पुरुष की प्रवृत्ति है, जिसको शब्दभावना का साध्य माना गया है। यागादि कर्म से स्वर्गादि फल प्राप्त होता है। यागकर्ता याग से उस फल की उत्पत्ति का अनुकूल व्यापार करता है, नहीं तो फल की उत्पत्ति नहीं होगी। इसलिए फल की उत्पत्ति के अनुकूल पुरुष-व्यापार को अर्थभावना कहते हैं। विधि वाक्य सुनने पर 'यागादि कर्म का अनुष्ठान करना कर्तव्य है' इस बोध के साथ यागादि कर्म में 'मै प्रेरित हुआ हूं' यह बोध भी होता है।

दोनों भावना में एक है पुरुष का बाहर का व्यापार, दूसरा अन्तर का। शब्द व्यापार पुरुष व्यापार को प्रेरित करता है। अतः विधिवाक्य सुनने के बाद यज्ञादि कर्म का अनुष्ठाता, अनुष्ठान करनेवाला, कर्म की प्रशस्तता जानकर लिंगादि प्रत्यय के ज्ञान से यागादि कर्म को कर्तव्य रूप से ग्रहण कर के यज्ञ के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है और उनसे प्रयाज आदि अंगयाग को उपाय कर के यागादि करण से फल के उत्पादन में कोशिश की जाती है।

इससे यह स्पष्ट है कि भाट्टमीमांसक ने अभीष्ट फल के लिए भावनातत्त्व को स्वीकार किया है। भावना से जो फल सम्पादित होता है वह यागकर्ता के इष्ट का सहायक होता है। इस मत की विशेषता यह है कि फल से अभिप्राय का निर्धारण होने से विधि के प्रेरकत्व का फल नहीं प्रतिपादित किया जा सकता। कर्म का ज्ञान कर्ता के इष्ट का साधन होते हुए कर्म का प्रेरक बनता है। इसलिए जो इष्ट के अनुकूल होता है उसका ही अनुष्ठान करना है। फल कर्म का प्रवर्तक होते हुए भी विधेय न होने से विधि फलशून्य होता है। फल को छोड़ कर विधि अपने ही प्रेरणात्मक होता है।

न्यायमत के साथ भाट्टमत का भेद यह है कि न्यायमत में फल की धारणा के बिना विधि प्रवर्तित नहीं हो सकता है। और इष्ट अनिष्ट का भेद अर्थहीन हो जाता है। फिर भाट्टमत में फल की धारणा होने से भी फल-विधि के साथ नैतिक भाव से युक्त नहीं रहता है। अधिक तो न्याय मत में इष्ट के रूप में फल विधि का विषयगत सामर्थ्य निर्दिष्ट किया जाता है, लेकिन कर्ता की कामना के बारे में कुछ नहीं बताया। भाट्टमत में कर्म के मनस्तात्त्विक अभिप्राय के रूप में फल रहता है। कर्ता में उसकी कर्तव्यविधायकता तथा क्षमता के बारे में कुछ नहीं बताया। कर्ता की कामना पर निर्भर करते हुए विधि पुरुष को अपने अधिकार में ले जाता है। क्योंकि स्वर्गादि फल की कामना करने से ही विधि का प्रयोजन सिद्ध होता है। विशेष यह है कि यहां भी विधि की कर्तव्य-विधायकता फल पर निर्भर नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है। नित्य-नैमित्तिक कर्म में प्रत्यवाय (पाप) के अभाव के रूप में फलकामना की जाती है। इस कर्म में मनुष्य सारी जिन्दगी भर नियुक्त होते हुए भी फल के लिए नहीं रहता है। परन्तु, नियुक्त पुरुष होने के कारण वह कर्म कर जाता है। इस-लिए नित्य-नैमित्तिक कर्म में फल कर्तव्यविधायक न होकर अनुष्ठान करने वाले का अभिप्राय बन कर रहता है। अतः भाट्टसिद्धान्त के अनुसार फल के विना विधि के नहीं रहने से भी फल से वह प्रेरकत्व तथा अनुज्ञाबोधकत्व नहीं पाया जाता है। विधि की प्रेरणा फलनिरपेक्ष होने से उसकी क्षमता स्वतः और स्वनिर्भर होती है। फल विधि में अनुषंगिक विषय है। विधि का मुख्य व्यापार कर्तव्यविधायकता ही है। [१४]

भाट्टमत की तरह प्रभाकर मीमांसा में फलकल्पना नहीं है। कोई भी उद्देश्य तथा फल के विना 'कार्यताज्ञान' 'प्रेरणा' अथवा 'नियोग' से ही प्रवृत्ति होती है।

प्रभाकरमत में कार्यताज्ञान (इस बात की चेतना कि कुछ करना है) चिकीर्षा के साथ सहकारी कारण बन कर मनुष्य में प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। प्रवृत्ति से चेष्टा (कार्य के लिए प्रयास) और चेष्टा से क्रिया (वास्तविक कार्य) की उत्पत्ति होती है। अतः प्रवृत्ति के धारावाहिक क्रम में पहले कार्यता-ज्ञान होता है। उसके बाद 'कृतिसाध्यताज्ञान' होता है। यह मेरी कृति (प्रयत्न) से साध्य है इसको जानने से कार्य करने की इच्छा (चिकीर्षा) होती है। उसके बाद प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति से शारीरिक चेष्टा होने के बाद वास्तविक क्रिया की उत्पत्ति होती है। [१५]

विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि प्रभाकर कथित 'कार्यताज्ञान' और 'कृतिसाध्यताज्ञान' समानार्थक है। कृतिसाध्यताज्ञान से चिकीर्षा की उत्पत्ति होती है। याग करनेवाला जब तक कार्य की धारणा के साथ अपने को अभिन्न नहीं समझता है तबतक कर्मानुष्ठान की इच्छा भी नहीं हो सकती। इसलिए कृति-साध्यताज्ञान चिकीर्षा में और चिकीर्षा के द्वारा प्रवृत्ति में हेतु बन जाता है। प्रभाकर के मत में सब प्रवृत्ति में कार्यताज्ञान अनुगत रहता है, लेकिन इष्टसाधनता ज्ञान कभी भी नहीं रहता। इसलिए कार्यताज्ञान को प्रवृत्ति का हेतु समझना लाघव है। [१६] इष्टसाधनताज्ञान को हेतु मानने से कृति की असाध्य कर्म में भी इष्टसाधनता रहने से प्रवृत्ति हो जायगी।

प्रभाकर के मत में कृतिसाध्य जो कोई कर्म होता है उसमें ही प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए जहाँ तक कार्यताज्ञान का संबंध है, वहाँ 'यह कुछ करना है' केवल चेतना नहीं है, किन्तु कार्य के प्रतिसन्धान और कर्ता के तादात्म्य (स्व-विशेषण)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



से उत्पन्न चेतना है। केवल चेतना सूचना मात्र है। इससे यह आवश्यक नहीं कि सूचना प्राप्त मनुष्य ही कार्य में प्रवृत्त हो जाय। जब साध्य कार्य के साथ कर्ता का तादात्म्य होता है, तब कार्यताज्ञान प्रेरक हो जाता है। जिससे इच्छा और चुनाव उत्पन्न होते हैं। कर्म करनेवाला पुरुष जब कर्म, चेतना तथा धारणा का अपने व्यवहार में प्रयोग करता है तब काम्यकर्म में कामना और नित्य-नैमित्तिक कर्म में शौचादि पुरुष का स्वाभिमत धर्म (स्वविशेषण) बन जाते हैं। इन कामना और शौचादि के संबंधज्ञान से उत्पन्न निश्चित कार्यताज्ञान को प्रभाकर ने 'स्वविशेषणवत्ता प्रतिसन्धानजन्य कार्यताज्ञान' कह कर प्रवृत्ति का हेतु बताया है।[१७]

न्यायमत में यद्यपि बलवदनिष्ट का अननुबन्धि इष्टसाधन विषयक कार्यता-ज्ञान की कल्पना हुई है, परन्तु प्रभाकर ने केवल स्वविशेषणवत्ता प्रतिसन्धान जन्य कार्यताज्ञान को हेतु माना है। पुरुष का विशेषण होनेवाली कामना से ही बलवदनिष्ट की अननुबन्धि इष्टसाधनता ज्ञान के द्वारा कार्यताज्ञान का अनुमान हो कर प्रवृत्ति हो जाती है।

कार्यता-ज्ञान दो प्रकार का होता है। (मया इदं कर्तुं शक्यते) मुझसे यह किया जा सकता है, यह एक रूप का ज्ञान है। (मया इदं अवश्यं कर्तव्यम्) यह मुझसे अवश्य किया जाना चाहिए, यह कार्य का दूसरा रूप है।[१८] भाट्टमत में पहला ज्ञान 'पदार्थनिष्ठ योग्यता' का ज्ञान है, प्रवृत्ति के लिए कारण नहीं। दूसरा ज्ञान अपने इष्टसाधनत्व और बलवदनिष्ट का अननुबन्धित्व के ज्ञान से उत्पन्न होने से चिकीर्षा के द्वारा प्रवृत्ति का कारण है। प्रभाकर के मत में पहला ज्ञान कृति-साध्यता ज्ञान से अभिन्न है और कृतिसाध्यताज्ञान चिकीर्षा के अन्तर्गत होने से प्रवृत्ति का हेतु बन सकता है। प्रभाकर जब द्वितीय ज्ञान का ग्रहण करता है तब इष्टसाधनता आदि ज्ञान के बिना ही अवश्य कर्तव्य अर्थ प्रकट होता है। चिकीर्षा से प्रवृत्ति होने से इष्टसाधनता की आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ पुरुष विशेषण रूप में कार्यता ज्ञान को हेतु मानने से यह स्पष्ट है कि प्रवृत्ति का यथार्थ अभिप्राय तथा उद्देश्य सुख जैसे बाहर का कुछ नहीं है, लेकिन कुछ करने से सम्पर्कित पुरुष के लिए ही प्रवृत्ति होती है और तब नित्यनैमित्तिक तथा काम्य कर्म से भी श्रेयः की प्राप्ति होती है। नित्यनैमित्तिक कर्म में यद्यपि करनेवाले का सुख तथा फलेच्छा की आवश्यकता नहीं परन्तु काम्य कर्म में वह अत्यावश्यक कारण होता है। प्रभाकर के सिद्धान्त में काम्यकर्म का भी असली उद्देश बाहर के सुख के लिए द्रष्टार्थविषयक कामना नहीं परन्तु इच्छा से अभिन्न या विशेषित स्वयं पुरुष को प्रतिपादन करना ही मुख्य उद्देश्य है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रवृत्ति का उत्पादन करना विधि का कार्य है। प्रभाकर के अनुसार जिस विषय में मनुष्य की स्वतः प्रवृत्ति है वहां विधि निष्प्रयोजन है। क्योंकि जिसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति है वह अप्राप्त नहीं होता। इसलिए वह फल विधेय नहीं। वैदिक प्रयोग सुनकर जब प्रवृत्ति होती है, तब 'यह कर्म अवश्य करणीय है', इस तरह साध्य के रूप में कर्म का ज्ञान होता है। लौकिक प्रयोग में वक्ता का आदेश और वैदिक प्रयोग में वैदिक शब्द आदेश के जैसे प्रवर्तक होने से यह स्पष्ट है कि आवश्यकता का भाव सर्वत्र हो सकता है। इच्छा जैसा ईप्सित कर्म में प्रतिष्ठित होता है। विधिवाक्य की प्रेरणात्मक शक्ति भी उस तरह चेतना में नियुक्त होती है।

वैदिक शब्द की प्रेरणात्मक शक्ति को पारिभाषिक शब्द में 'प्रेरणा' भी कहते हैं। यह प्रेरणा दैहिक तथा मानसिक शक्ति की तरह नहीं है। इसको विधि के रूप में नियम का प्रकाशक कोई असाधारण अनुभव समझना है। वैदिक आदेश में यह प्रेरणा कर्तृत्वविधायक एक 'आत्माकूतविशेष' होने से आत्मा की तरह स्वप्रकाश और 'स्वसंवेद्य' होती है।[१९] भाट्ट सम्मत भावना से यह भिन्न है। प्रभाकर ने इसलिए दो प्रकार की भावना को स्वीकार नहीं किया। उसके मत में विधिवाक्य को सुनने से विधि की अनुगत अर्थभावना तथा पुरुषप्रवृत्ति का ही केवल ज्ञान होता है। अर्थभावना का उपादान इस विधि को प्रभाकर ने नियोगात्मक कहा है। जो नहीं है उसको उत्पादन करने से भावना प्रवृत्ति के कारण को निश्चित करती है। 'नियोग' ऐसा नहीं। वह प्रतिष्ठित सत्य है। इसलिए नियोग का उत्पादन नहीं हो सकता। नियोग प्रवृत्ति में केवल प्रेरणा स्वरूप होते हुए कर्तव्यविधायक हो कर नियम का प्रकाश करता है। नियोग में इसलिए भावना की तरह क्रिया-कर्तृसम्बन्ध न होकर प्रेष्य-प्रेष-सम्बन्ध होता है। प्रेरक और प्रेरित में, आदेश और आदिष्ट में जो संबंध होता है वह क्रिया-कर्तृसम्बन्ध से अलग है। 'मैं इस क्रिया में प्रेरित हूँ' इस से प्रेरणा तथा प्रवर्तना को जान कर क्रिया में प्रवृत्ति होती है। अतः विधिवाक्य से प्राप्त पहले अर्थ को 'प्रैष' 'प्रेरणा' अथवा 'नियोग' ही कहना है।

प्रभाकर के सिद्धान्त में नियोगात्मक होने से विधि स्वतः प्रवर्तना रूप होती है। इसलिए विधि स्वयं ही अनुष्ठेय है। कोई बाह्यफल को लक्ष्य न कर के विधि अपने में ही फल बन जाता है। इसलिए प्रभाकर के अनुसार आज्ञा (प्रेरणा) और अनुष्ठेय एक ही वस्तु हैं। विधि का प्रवर्तकत्व अनुष्ठान करनेवाले की शक्यता को निर्दिष्ट करता है। इसलिए कहा है :–

"प्रवर्तना रूपो हि विधिः। अर्थात् समवहित साधनशक्ति बोधयति।
प्रवर्तना च अशक्य विषये न सम्भवति।"[२०]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



साधारण विचार में यह प्रेरणा आती नहीं। विधि की प्रेरणा मनुष्य को ऐसे उद्‌बोधित कर सकती है कि मनुष्य अपने को किसी भी लौकिक प्रयोजन पर ध्यान न देकर वैदिक कर्म कर जाता है। इसलिए वैदिक कर्म बाध्यतामूलक होता है। जो करना होगा, अर्थात् जिसमें बाध्यता का भाव होता है उसमें ही शक्यता तथा कर सकने का भाव निहित रहता है। वैदिक कर्म करना होगा इसलिए उसको करना सम्भव है। क्योंकि मनुष्य का असाध्य कर्म में बाध्यता का भाव ही नहीं सकता। जहाँ घटना का वर्णन (statement of fact) होता है, वहाँ भूतार्थ वाक्य होता है। इसमें बाध्यताका भाव नहीं, लेकिन जहाँ मूल्य निर्धारण के लिए सिद्धान्त का वर्णन (statement of judgement of value) है, वहाँ ही बाध्यता का भाव होता है। और इस भाव में सत्य मिथ्या की तरह भला और बुरा का बोध भी होता है।

प्रभाकर के मतानुसार, फल की आकांक्षा के बिना कार्यसम्पादन करना इसलिए सम्भव है कि वहाँ कार्य सम्पादन का अभ्यास व संस्कार रहता है। संस्कार से कर्म करने से जागतिक विषय में अनासक्ति प्रगाढ होती है। और तब परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।[२१]

मीमांसा दर्शन में विधि जिसलिए फल का प्रयोजक न होकर कर्म का प्रवर्तक होता है उसलिए फलाकांक्षा कहीं भी नहीं होती और प्रवर्तना का उत्पादन करना विधि का व्यापार होता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि विधि में अगर फलाकांक्षा न हों तो जिस जिस स्थल में फल का उल्लेख नहीं उस स्थल में 'विश्वजित् न्याय' से स्वर्गादि फल की कल्पना होती है। और अधिकारानुबन्ध का उल्लेख न होने पर भी उसकी कल्पना होती है, नहीं तो विधि का विधित्व नष्ट हो जाता है। मीमांसा सिद्धान्त में अधिकारानुबन्ध की कल्पना यागोपयोगी प्रासंगिक व्यापार है। फल-कल्पना उसके साथ अभिन्न नहीं है। विधिवाक्य वस्तुतः अधिकारानुबन्ध और फल के द्वारा अवछिन्न 'नियोग' का ज्ञापक है।

## (४)

न्याय-वैशेषिक और मीमांसा मत की इस आलोचना से स्पष्ट है कि न्याय-मत में प्रयोजन या फल को अधिकार कर के प्रवृत्ति होने से अभीष्ट फल को ही प्रवर्तक मानना है। मीमांसा मत में प्रवृत्ति में फलसाधनता ज्ञान की कारणता नहीं है। विधि साक्षात् सम्बन्ध में प्रवर्तक होते हुए कर्तव्यविधायकता विधि का व्यापार है।

वस्तुतः न्यायमत में प्रेरणा के मूल में युक्तिवाद ही है। वहाँ कोई नैतिक दृष्टि नहीं रहती। परिणामदर्शी होने के कारण न्यायवैशैषिक दर्शन में केवल वैदिक कर्म को अवश्यकरणीय जैसे नहीं माना गया। परन्तु जो कुछ कर्म करने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है, उस सब को स्वाभाविक बुद्धि से युक्ति के द्वारा करणीय जैसे माना गया है।

पूर्वमीमांसा दर्शन सम्पूर्ण रूप से वेदानुगत है। युक्तिवाद पर निर्भर न कर यह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है। इसलिए अदृष्टार्थक वैदिककर्म को ही मीमांसक ने नैतिक-कर्तव्य कर्म माने हैं। इस दर्शन में वेदविहित कर्तव्य कर्म का जिस तरह समर्थन हुआ है, उससे प्रकृत नैतिक जीवन के साथ साधारण लौकिक जीवन का विच्छेद हो चुका है। मीमांसा मत में लौकिक कर्म में केवल अनिश्चित या आपेक्षिक वैधता रहती है। और वैदिक कर्म की वैधता संशय के अतीत और निरपेक्ष होती है। इसलिए उससे गठित हुई नैतिकता स्वतंत्र गुरुत्व की होती है। वेद विहित कर्तव्यकर्म के अनुष्ठान पर मीमांसक ने असाधारण बल देने का कारण वह हो सकता है कि इस दर्शन में प्रधान प्रतिपाद्य विषय है धर्म। इसको उन्होंने विषयगत कहा है। वेद निर्व्यतिरेक चिरन्तन नियम का प्रकाशक होते हुए वेद विहित कर्म कर्तव्य रूप है और इसके अनुष्ठान को धर्म माना गया है। इसलिए वेदविहित कर्म ही केवल नैतिक कर्म है।

न्यायमत में ज्ञान से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। जिस मिथ्याज्ञान से संसार में दुःख आदि होता है, तत्त्वज्ञान से उसका नाश करना न्यायदर्शन का लक्ष्य है। मिथ्या ज्ञान से दोष (राग-द्वेष-मोह) की उत्पत्ति होते हुए उससे फिर प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। प्रवृत्ति के द्वारा मनुष्य कर्म करता है। अतः मीमांसक की तरह नैयायिक ने प्रवृत्ति अथवा प्रयत्न अथवा कर्म को श्रेष्ठ नहीं माना। ज्ञान को श्रेष्ठ मानने से न्याय दर्शन की नैतिकता बुद्धिवृत्ति संक्रान्त होती है।

प्रवृत्ति-विषयक इस आलोचना से यह स्पष्ट है कि कर्तव्य कर्म के निर्धारण में कर्तृगत मनस्तात्त्विक नैतिकता कभी युक्तिवाद के आकार में कभी नीतिवाद के आकार में अपरिहार्य होती है।

– माया दास

दर्शन विभाग
विश्वभारती
शान्तिनिकेतन (प. बंगाल)

## टिप्पणियाँ

१) भाषापरिच्छेद, पृ. ५५६
वैशेषिक सूत्र में प्रयत्न को जीवनपूर्वक और इच्छाद्वेष पूर्वक कहा गया है।

२) न्यायसूत्र १/१/१७

३) न्यायमंजरी, पृ. ३२९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



४) न्यायमंजरी, पृ. ३३१
५) न्यायमंजरी पृ. ३२६
६) भाषापरिच्छेद, पृ. ५५७, ५७५
७) भाषापरिच्छेद, पृ. ५६०-६१
८) भाषापरिच्छेद, पृ. ५६४
९) न्यायकुसुमांजलि, पंचम स्तबक, पृ. २०७
१०) न्यायकुसुमांजलि, पंचम स्तबक, पृ. १८४-१८५
११) न्यायकुसुमांजलि, ५। १४ टीका, पृ. २०७
१२) न्यायकुसुमांजलि, पंचम स्तबक, पृ. २०२
१३) अर्थसंग्रह
१४) S. K. Maitra, The Ethics of the Hindus, pp. 126-128, 135-136
१५) भाषापरिच्छेद, पृ. ५५७
१६) भाट्टचिन्तामणि; S. K. Maitra, The Ethics of the Hindus p. 36
१७) भाषापरिच्छेद, पृ. ५५८
१८) भाट्टचिन्तामणि; S. K. Maitra, The Ethics of the Hindus p. 36
१९) न्यायमंजरी, पृ. ३२०
२०) शास्त्रदीपिका
२१) न्यायमंजरी, पृ. ३०३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (७)

मू. स हि सङ्केतो वा स्यात् शब्दस्वाभाव्यं वा। आद्यस्तावत्संकेतविषया प्रतीतेरेव पराहतः। तत एव तत्प्रतीताविततरेतराश्रयत्वम्। पदसङ्केतबलेनैव प्रतीतौ स्वार्थापरित्यागात्, तथा चानन्विताः पदार्थाः एवान्विततया परिस्फुरन्तीति विपरीताख्यातिरेवानुवर्तते, स्वार्थपरित्यागे तु पुनरप्यनियमः, असामयिकार्थ-प्रत्ययनात्। शब्दस्वाभाव्यात्तु नियमे व्युत्पन्नवदव्युत्पन्नस्यापि तथाविधप्रसङ्गोदया-दिति।

पिछले परिच्छेद में, कोई नियामक न होने से, 'कूर्म-रोम' शब्द से शश-विषाण के बोध की आपत्ति संभव पायी गई। अब इस आपत्ति के निवारणार्थ शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध का नियामक जो संकेत उसकी चर्चा की जा रही है। शब्दार्थ संबंध का नियमन दो तरह से हो सकता है। एक संकेत के द्वारा। दूसरा, शब्द के स्वाभाविक धर्म के द्वारा। इनमें से प्रथम पक्ष स्वीकारार्ह नहीं क्यों कि 'कूर्मरोम' जैसे शब्दों में उनके सङ्केत का विषय अर्थ 'कूर्मरोम' असत् है। अतः वहाँ सङ्केत निर्माण की संभावना ही नहीं रह जाती। यदि कहा जाय कि प्रथम शब्द से अर्थ का ज्ञान या प्रतीति होती है, तदनंतर उसके संबंध में संकेतग्रह होता है तो अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। क्यों कि पद से अर्थ की प्रतीति कैसे होती है इस बात के स्पष्टीकरण के लिए भी संकेत की ही शरण लेनी पडती है। पद-संकेतों द्वारा ही पदसमुदाय के अर्थ का निश्चय किया जाय तो एकेक पद अलग अलग प्रथम उपस्थित हो कर तदनंतर उनमें अन्वय या संबंध की प्रतीति होगी। 'शशशृंग' जैसे शब्द में शशीयत्व और शृंग इनकी अलग अलग उपस्थिति हो कर बाद में इनमें अविद्यमान संबंध का भान होगा। यह 'अन्यथाख्याति' ही होगी। यदि प्रत्येक पद का अर्थ उपस्थित हुए बिना ही समस्त पद का अर्थ प्रतीत होता है ऐसा समझा जाय तो असंकेतित अर्थ का भी पद से ग्रहण होने लगेगा। उस परिस्थिती में शब्दार्थ-निर्धारण के लिए कोई नियम नहीं रह जायगा। संकेत के बिना ही 'शशशृंगा'दि शब्दों से उनके विशेष स्वभाव या



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्वरूप के कारण ही 'शशशृंग' जैसे असदर्थ की प्रतीति मानी जाय तो शब्दार्थ न जाननेवाला व्यक्ति भी ये शब्द सुनकर उनके अर्थ अपने आप समझ लेगा।

मू. "वासनाविशेषादिति चेत्"। अथासदुल्लेखिनः प्रत्ययस्य वासनैव कारणम्, उत वासनापि । न तावदाद्यः शशविषाणादिप्रत्ययानां सदातनत्वप्रसङ्गात् । "कदाचित्प्रबोधात् कदाचिदिति चेत्" । न प्रबोधोऽपि सहकार्यन्तरंवा अतिशय-परम्परापरिपाको वा । आद्ये वासनैवेति पक्षानुपपत्तिः ।

द्वितीयेऽपि यद्यर्थान्तरप्रत्यासत्तेः, तदा पूर्ववत् स्वसन्ततिमात्राधीनत्वे तु बाह्य-वादव्याघातः, नीलादिबुद्धीनामपि वासनापरिपाकादेवोत्पादात् । वासनापीति पक्षे तु तदन्योपि हेतुः कश्चिद्वक्तव्यः, स च विचार्यमाणः पूर्वन्यायं नातिवर्तत इति ।

किसी अनादि वासना के कारण 'शशशृंग' जैसे शब्दों के अलीकार्थ का नियमन होता है ऐसा कहा जाय तो प्रश्न उठता है कि अलीकार्थ-प्रत्यय जो होता है उसका कारण वासना ही है या वासना भी ? केवल वासना को कारण कहें तो यह प्रत्यय सदैव घटित होना चाहिए । इसपर यदि प्रतिवाद किया जाय कि वासना का उब्दोध यदा-कदाचित् ही होता है अतः असदर्थबोध भी सार्वकालिक नहीं होगा तो यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि वासना का उब्दोध वासना से भिन्न कारण से है या वासना-विशेष की परंपरा का परिपाक मात्र है; इनमें पहला विकल्प केवल वासना से अलीक-प्रत्यय होता है इस उक्त पक्ष से संगत नहीं है (वासना से भिन्न उसके उब्दोध को इस विकल्प में कारण मान लिया गया है।) दूसरा विकल्प स्वीकार करने पर भी, वासना-विशेष का परिपाक किसी अन्य कारण के उपस्थित होने से ही घटित होता है ऐसा मानने पर (केवल वासना से अलीक प्रत्यय होने की बात करनेवाला) उपरोक्त पक्ष पुनः असंगत हो जायगा । अपने ही जैसी पूर्वपूर्ववत् वासनाओं से उत्तरोत्तर वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, वासनाओं के बाहर उनका कोई कारण नहीं ऐसा कहें तो बाह्यार्थवाद का ही परित्याग कर देना पड़ेगा । नील पीतादि ज्ञान वासना-विशेष के परिपाक से अपने आप उत्पन्न होते हैं, उनके अतिरिक्त उनका कोई विषय नहीं होता ऐसा मानने से भी काम चल सकता है । केवल वासना कारण न हो कर वासना भी कारण है इस उपरोक्त द्वितीय विकल्प का पुरस्कार किया जाय तो वासना से भिन्न कोई कारण अलीका-नुभव के लिए बतलाना पडेगा । किन्तु पीछे बतला ही दिया गया है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि के द्वारा अलीकानुभव असंभव है ।

मू. न च शशविषाणादिशब्दानामसदर्थैः सह सम्बन्धावगमोऽपि । तथाहि – परबुद्धीनामनुल्लेखात् तद्विषयस्याप्यनुल्लेख एव । न चार्थक्रियाविशेषोऽप्यस्ति, यतो विषयविशेषमुन्नीय तत्र सङ्केतो गृह्यताम् । न च सङ्केतयितुरेव वचनात् तदवगतिः, तद्विषयाणां सर्वेषां वचनानामप्रतीतविषयत्वेनागृहीतसमयतया अप्रतिपादकत्वात् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उक्त तथ्य को ही पुनः अधिक कारणों के साथ प्रस्थापित किया जा रहा है। 'शशशृंगा 'दि शब्दों का सुननेवालों को भले ही संकेतज्ञान न हो लेकिन उनके प्रयोगकर्ताओं को तो वह होगा ही। अतः उसी की सहायता से इन शब्दों का प्रयोग चल पड़ेगा ऐसा माननें में क्या आपत्ति है? उत्तर के रूप में नैयायिक कहते हैं कि प्रयोक्ता की बुद्धि का श्रोता को पता नहीं रह सकता जिससे उसके संकेत-ग्रह का आधार ले कर वह भी शब्दप्रयोग यथावत् कर पाये। इतर शब्दों के संकेत्य का ज्ञान जैसे उनके प्रयोक्ताओं के व्यवहार को देखकर हुआ करता है वैसे 'शशशृंग' जैसे शब्दों के बारे में घटित नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा कोई व्यवहार ही नहीं है जिसे इन शब्दों के प्रयोग से संचालित समझा जाय। यदि कहें कि संकेतयिता व्यक्ति 'ऐसे ऐसे वस्तु का इस पद से निर्देश होता है' इस प्रकार के वाक्यों से शशशृंग शब्द का संकेत निर्धारण करेगा जिसका श्रोता आकलन करेगा तो उसमें कठिनाई यह है कि ऐसे शब्द जिनके द्वारा संकेतग्रहण संभाव्य है उनका भी अर्थ अज्ञात ही रहेगा। उन सभी का संबंध अलीक से होने के कारण उनके विषय अज्ञात ही रहेंगे।

मू. "न च शशविषाणादिशब्दमुच्चारयतः कश्चिदभिप्रायो वृत्त इति तद्विषयोऽस्य वाच्य इति सुग्रहः समय इति वाच्यम्"। न ह्येवमाकारः समयग्रहः, 'गां बधाने 'त्युक्ते अप्रीतशब्दार्थस्याप्याभिप्रायमात्रप्रतीतौ समयग्रहप्रसङ्गात्। "न च विशेषान्तरविनाकृतः कल्पनामात्रविषयोऽस्य वाच्य इति साम्प्रतम्"। घटकूर्मरोमादीनामपि तदर्थत्वप्रसङ्गात्।

पुनः पूर्व परिच्छेद में बतायी बात को ही अन्य सदृश तर्कों से विशद कर प्रतिपादन करते हैं। 'शशशृंग' जैसे शब्दों के प्रयोक्ता का कोई अभिप्राय या तात्पर्य होगा ही जिसे जान कर श्रोता उनके संकेत्य का आकलन कर सकता है ऐसा यदि प्रतिवाद किया जाय तो उस पर प्रत्युत्तर सीधा है। तात्पर्य–ज्ञान के आधार पर संकेतज्ञान नहीं हुआ करता। यदि यह सम्भव होता तो 'गाय बांधो' ऐसे वाक्य के उच्चारण का तात्पर्य मात्र जान कर और इस वाक्य-घटक प्रत्येक शब्द के अर्थ की उपस्थिति के बिना प्रत्येक शब्द के संकेत्य का ज्ञान असम्भव है। यदि कहें कि 'शशशृंगा 'दि शब्दों का वाच्य कोई निरुपाख्य तथा कल्पनामात्र विषय वस्तु होती है ऐसा जानकर संकेत-ग्रह संभव है तो उसमें कठिनाई यह है कि तब 'शशशृंग' शब्द का कूर्मरोम या कोई भी अलीक (जैसे बौद्धमतानुसार स्थिर वस्तु) अर्थ हो सकेगा। ऐसा मान लेने से 'शशशृंग' और 'कूर्मरोम' इन अर्थों में कोई अन्तर नहीं रह जायगा।

मू. "न च सर्वे प्रतिपत्तारः स्वस्ववासनयाऽसदर्थशब्दसम्बन्धप्रतिपत्तिभाज इति साम्प्रतम्"। परस्परवार्तानभिज्ञतया अपरार्थत्वप्रसगङ्गात्, न हि स्वयंकृतं समय-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



ग्राहयित्वा परो व्यवहारयितुं शक्यते। न च व्यवहारोपदेशावन्तरेण ग्राहयितुमपि। न च 'गां बधाने'तिवत् शशविषाणपदार्थे व्यवहारः, न चायमसावश्य इतिवदुपदेशः, न च यथा गौस्तथा गवय इतिवदुपलक्षणातिदेशः, न चेह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीतिवत्प्रसिद्धपदसामान्याधिकरण्यम्।

कह सकते हैं कि 'शशशृंग' शब्द के सभी प्रयोक्ता लोग अपनी अलग अलग वासना से उसके अर्थ की उपस्थिति के द्वारा संकेत का आकलन शायद कर लें। लेकिन इससे केवल प्रयोक्ताओं का काम चल सकता है, श्रोताओं को– जिन्हें संकेत ज्ञान नहीं है– कोई लाभ नहीं होगा। उन्हें प्रयोक्ता ही संकेत-ग्रहण करा सकेंगे। एक व्यक्ति अपने लिये संकेत निर्माण कर उसे दूसरे को समझाये बिना उस शब्द का सर्वसाधारण प्रयोग नहीं चला सकता। और शब्द-व्यवहार या उसके उपदेश के बिना शब्द-संकेत को दूसरे को समझाना भी संभव नहीं है। 'गाय-बांधो' ऐसा कोई व्यवहार 'शशशृंग' शब्द को प्रयोग में ला कर किया जाना संभव नहीं। 'शशशृंग' के संबंध में किसी भी प्रकार की क्रिया की कल्पना नहीं की जा सकती। 'यह घोडा है' ऐसा संमुख उपस्थित वस्तु के संबंध में जैसे उपदेश किया जाता है वैसा उपदेश भी शशशृंग के बारे में संभव नहीं। उपमान को काम में ला कर 'जैसे गाय होती है वैसे ही गवा होता है' इस सादृश्य-मूलक ज्ञान में एक वस्तु के सादृश्य का दूसरी वस्तु के ज्ञापन के लिये उपदेश किया जाता है वैसा उपदेश भी शशशृंग के संबंध में संभव नहीं। शशशृंग का किसी के साथ सादृश्य नहीं है। अनुमान से भी कुछ शब्दों में संकेत-ग्रहण होता है, जैसे 'इस विकसित कमलपुष्प के भीतर संचित मकरन्द का मधुकर पान करता है' इस वाक्य में 'मधुकर' शब्द का अर्थबोध वाक्यगत अन्य प्रसिद्धार्थक शब्दों के साहचर्य से हुआ करता है। इस प्रकार से भी अर्थबोध शशशृंग शब्द के संबंध में कल्पनार्ह नहीं है।

मू. तदमूः शशविषाणादिकल्पनाः नासत्ख्यातिरूपा', तथात्वे कारणाभावात्, मूकस्वप्नवदसांव्यावहारिकत्वप्रसङ्गात् च। तस्मादन्यथाख्यातिरूपा एवेति नैतदनुरोधेनाप्यवस्तुनो निषेधव्यवहारगोचरत्वमिति। भवतु वाऽसत्ख्यातिः, तथापि न ततो व्यतिरेकः प्रामाणिकः,

अबतक के वादविवाद का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि शशशृंग जैसे विकल्प असत्-ख्यातिरूप नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा मानने के लिये कोई कारण नहीं है। यदि वे असत्ख्यातिरूप होते तो गूंगे के सपनों जैसा इनका स्वरूप होता। जैसे गूंगा अपने सपनों का वर्णन नहीं कर सकता वैसे ही अपनी अपनी वासना से प्रेरित हो कर 'शशशृंग' जैसे शब्दों का प्रयोग करनेवाले दूसरों को अपना प्रयोग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



नहीं समझा पा सकते। अतः इन विकल्पों को अन्यथाख्यातिरूप ही मानना पडेगा। इस कारण, अलीक को निषेध-व्यवहार का विषय भी मानना उचित नहीं है।

इस पर बौद्धों के अनुसार यह प्रत्याक्षेप सम्भव है कि जैसे नैयायिक मत में भी भ्रान्ति में आरोप्य तथा आरोपणीय ये दोनों सत् होने पर भी इनका सम्बन्ध असत् होता है (यह 'अभ्युपगमवाद' है। वस्तुस्थिति बिलकुल ऐसी ही नहीं।) वैसे ही अलीक आश्रय में सत्वाभाव तथा क्षणिकत्वाभाव की व्याप्ति का ज्ञान संभाव्य माना जा सकता है।

मू. तथाहि– कोऽयं व्यतिरेको नाम ? यद्यतो व्यतिरिच्यते तस्य तत्राभावो वा, तदभावस्वभावत्वं वा ? तत्र न तावत् क्रमयौगपद्ययोः शशविषाणे अभावः प्रमाणगोचरः, वृक्षरहितभूभृत्कटकवत् क्रमयौगपद्यरहितस्य शशविषाणस्य प्रमाण-गोचरत्वात्।

उक्त प्रत्याक्षेप का उत्तर देने के उद्देश्य से संभाव्य दो विकल्पों को प्रस्तुत करते हैं। क्रमयौगपद्यव्यतिरेक के द्वारा सत्वविरहितत्व स्थिर में बौद्ध सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उन्हें क्रमयौगपद्य के व्यतिरेक का स्वरूप स्पष्ट करना चाहिए। यह व्यतिरेक 'जो जहाँ नहीं वहाँ उसका अभाव विद्यमान होना' इस स्वरूप का होगा या उस (अधिकरण) वस्तु का ही अभावरूपत्व होगा। इनमें से प्रथम विकल्प अस्वीकार्य है क्योंकि शशशृंग में क्रमयौगपद्य का अभाव किसी प्रमाण से ज्ञेय नहीं। जैसे वृक्षरहित पर्वतादि का ज्ञान देखते ही हो जाता है वैसे क्रमयौग-पद्यरहित शशशृंग का ज्ञान किसी तरह नहीं हो सकता।

मू. नापि क्रमयौगपद्याभावरूपत्वं शशविषाणस्य प्रमाणिकम्, घटाभाववच्छ-शविषाणस्य प्रमाणेनानुपलम्भत्वात्। "घटाभावोऽपि न प्रमाणगोचर इति चेत्" न, तस्य तद्विविक्तेतरस्वभावस्यापि प्रमाणत एव सिद्धेः, असिद्धौ वा तत्रापि अव्यवहार एव।

दूसरा विकल्प भी स्वीकारार्ह नहीं। कारण शशशृंग का क्रमयौगपद्याभाव-रूपत्व घटाभाव की तरह शशशृंग प्रमाण के आधार पर अनुपलब्ध होने की वजह से प्रमाणाधारित है ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस पर बौद्ध प्रतिप्रश्न करते हैं कि घटाभाव भी किसी भी प्रमाण के आधार पर उपलब्ध नहीं है ऐसा मानने में क्या कठिनाई है ? उत्तर देते हुए नैयायिक कहते हैं कि बौद्धों के द्वारा उपस्थित किया गया प्रतिप्रश्न ठीक नहीं है। क्योंकि घटाभाव उसके विविक्तेतर–स्वभावस्वरूप है यह प्रमाणतः सिद्ध बात है; अगर ऐसा न होता तो वहाँ भी अव्यवहार ही हो जाता, व्यवहार नहीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मू. " घटस्तावत् स्वाभावविरहस्वभावः प्रमाणसिद्धः, तादूप्येण क्वचिदप्यनुपलम्भात्, एतावतैव तदभावोऽपि घटविरहस्वभावः सिद्ध इति चेत् " । न, घटाभावस्य तदभावविरहस्वभावत्वानभ्युपगमात् । न चान्यस्य स्वभावे प्रमाणगोचरे तदन्योऽपि सिद्धः स्यादतिप्रसङ्गात् ।

इसपर बौद्ध प्रतिवाद करते हैं कि किसी आश्रय–विशेष में ही, व्यतिरेक–ग्रहण होने से ही व्यतिरेक सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं ऐसा समझने की कोई आवश्यकता नहीं है । इसके बिना भी व्यतिरेक-ज्ञान संभव है । जैसे घट का स्वाभाव–विरहात्मक होना प्रमाणसिद्ध है क्योंकि घट घटाभावरूप से कभी ज्ञात नहीं होता । इसी बात पर से घटाभावरूप का भी घट-विरहात्मक होना भी सिद्ध हो जाता है । किन्तु यह बात नैयायिकों को मान्य नहीं । वे घट या किसी वस्तु के स्वभाव को स्वाभावविरहरूप नहीं मानते । घट का अपना स्वभाव इस विरह से भिन्न विध्यात्मक धर्म है । अतः घट के उदाहरण पर से घटाभाव का स्वभाव निर्धारण करना उचित नहीं । वैसे भी यह बात ठीक नहीं । घट और घटाभाव अलग-अलग हैं । इनमें से घट का कोई स्वभाव प्रमाणसिद्ध है इसलिए घटाभाव का भी कोई स्वभाव प्रमाणसिद्ध नहीं माना जा सकता ।

मू. " एवम्भूतावेव घटतद्भावौ यदेकस्य परिच्छित्तिरपरस्य व्यवच्छित्तिरिति चेत् " । न, घटवद्घटाभावस्यापि प्रामाणिकत्वानभ्युपगमे स्वभाववादानवकाशात् । प्रमाणसिद्धे हि वस्तुनि स्वभावावलम्बनम्, न तु स्वभाववादावलम्बनेनैव वस्तुव्यवस्थितिरिति हि भवतामेव तत्र तत्र जयदुन्दुभिः ।

पुनः बौद्ध स्वमतसमर्थनार्थ प्रतिवाद करते हैं कि घट और घटाभाव (उदाहरण के रूप में इनका उल्लेख किया जा रहा है । ) ऐसे ही हैं कि घट का निर्धारण करने मात्र से (अर्थात् घटस्वभाव ही) घटाभाव-व्यवच्छेद (रूप) हो जाता है । घट-स्वभाव के लिए जो प्रमाण है वही घटाभाव-स्वभाव का (प्रस्थापनार्थ) भी प्रमाण हो सकता है । अतः अन्यत्र भी अभाव के प्रस्थापनार्थ प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है । इस पर नैयायिक का प्रत्युत्तर यह है कि जैसे घट प्रमाणसिद्ध वस्तु है वैसे ही घटाभाव भी एक प्रमाणसिद्ध वस्तु होने पर ही उक्त बात सम्भव मानी जा सकती है । प्रमाणसिद्ध वस्तु का ही स्वभाव होना स्वीकार किया जा सकता है । पहले एक काल्पनिक वस्तु का वास्तविक स्वभाव स्वीकार कर तदनन्तर उसकी सत्ता का प्रमाण नहीं ढूंढा जाता । अभाव निःस्वभाव होता है यह तो बौद्धों का ही मत है । अतः जब तक वे क्रमयौगपद्याभाव के लिए स्वतन्त्र प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते तब तक उसकी सत्ता स्वीकार्य नहीं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मू. "तत्किमिदानीं स्वाभावविरहस्वभावो घटः प्रमाणान्नैव सिद्धः ?" तव दृष्टया एवमेतत्, घटो हि यादृक्तादृक्स्वभावस्तावत्प्रमाणपथमवतीर्णः, तस्य तु यदि परमार्थतोऽभावोऽपि कश्चित्स्यात्, स्यात्परमार्थतस्सोऽपि तद्विरहस्वभाव इति तथैव प्रमाणेनावेदितः स्यात् । न चैतदप्यभ्युपगम्यते भवता । तस्माद्घटवत्तदभावस्यापि प्रामाणिकत्वेनैवानयोः परस्परविरहलक्षणव्यतिरेकसिद्धिः अप्रामाणिकत्वे त्वनयोरपि न तथाभाव इति । शशविषाणादिष्वपीयमेव गतिः ।

उक्त प्रत्युत्तर पर प्रतिबन्दि रूप से बौद्ध पूछते हैं कि यदि एक का परिच्छेद तदन्य अभावादि का परिच्छेद न हो तो क्या घट स्वविरहाभावात्मक न होकर स्वविरहात्मक ही हो जाएगा ? नैयायिक उत्तर देते हैं कि उनके अपने मन में यह बात नहीं है । वे वस्तु को स्वाभावाभावात्मक मानते हैं । किन्तु बौद्धों को यह बात स्वीकार्य नहीं हो सकती । घट जैसी वस्तु का, जो भी– अवयविरूप या परमाणुरूप– स्वभाव मात्र बन जाय, घट का अभाव यदि बौद्ध-मत में परमार्थतः कोई वस्तु हो तभी घट वस्तुतः स्वाभावाभावात्मक होगा । और यही बात प्रमाण से भी सिद्ध होगी । किन्तु बौद्ध अभाव को ही वस्तुसत् नहीं मानते । अतः घट के समान घटाभाव की सत्ता के लिए भी स्वतन्त्र प्रमाण होना आवश्यक है । तभी ये दोनों परस्पर-विरहरूप सिद्ध हो सकते हैं । अन्यथा ये न परस्परविरहरूप न सत् ही हो सकते हैं । शशशृंग जैसे अलीक को भी यही बात लागू होती है । यदि वह प्रमाणसिद्ध हो तभी उसमें क्रमयौगपद्याभाव का साधन अनुमान से सम्भव है, अन्यथा नहीं ।

मू. "ननु काल्पनिकरूपसम्पत्तिरेवास्त्वनुमानाङ्गम्" । तन्न, तस्याः सर्वत्र सुलभत्वात् । "ननु पक्षसपक्षविपक्षास्तावद्वस्त्ववस्तुभेदेन द्विरूपाः, तत्र ये कल्पनोपनीतास्तत्र काल्पनिका एव पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकाः, प्रमाणोपनीतेषु तु प्रामाणिका एवेति विभागः । तदिह काल्पनिकान्निरग्नेर्यद्यपि प्रमेयत्वादेर्व्यावृत्तिः काल्पनिकी सिद्धा, तथापि प्रामाणिकाज्जलह्रदादेः प्रामाणिक्येवैषितव्या, सा च न सिद्धेति कुतस्तस्य हेतुत्वम् । एवं प्रामाणिके शब्दे पक्षीकृते प्रामाणिक एव हेतुसद्भावो वक्तव्यः, न चासौ चाक्षुषत्वस्यास्तीति सोऽपि कथं हेतुः ? एवं कृतकत्वस्यापि वस्त्वेकनियतस्य धर्मस्य वास्तव एवान्वयो वक्तव्यः, वस्तुनो विपक्षाच्च वास्तव एव व्यतिरेकः, न च तस्य तौ स्तः, तत्कथमसावपि हेतुरिति ।"

अब एक अन्य प्रकार से बौद्ध व्यतिरेकानुमान को प्रस्थापनार्ह बताते हैं । वे कहते हैं कि सत्वाभाव और क्षणिकत्वाभाव सत् न होने पर भी इनकी कल्पना तो की जा सकती ही है । तो ऐसे काल्पनिक वस्तुओं की सहायता से ही अनुमान क्यों न सम्भव माना जाय ? इसका खण्डन यह है कि काल्पनिक साध्य, हेतु आदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं। इनको अनुमान के लिए उपादेय माना जाय तो 'पर्वत में वन्हि है, क्योंकि वह प्रमेय है', 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह चक्षुरिन्द्रिय-वेद्य है' ऐसे अनुमानों को सव्यभिचार, असिद्ध, विरोधरूप हेत्वाभास के दोषी मानना उचित नहीं होगा। इन्हें और इनके जैसे सभी अनुमानों को सदनुमान मान लेना पड़ेगा। इस पर बौद्ध प्रतिप्रश्न करते हुए कहते हैं कि अनुमान के लिए अपेक्षित पक्ष, सपक्ष, विपक्ष दो प्रकार के माने जा सकते हैं। एक वस्तुरूप और दूसरे अलीक या काल्पनिक। इनमें जो काल्पनिक पक्ष, सपक्षादि हैं उनके संबंध में काल्पनिक ही पक्षसत्व तथा विपक्षव्यावृत्तत्व आवश्यक मानना उचित होगा। केवल वस्तुसत् पक्ष, सपक्षादि के लिए प्रामाणिक सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्तत्व आदि की अपेक्षा होनी चाहिए। अब उक्त अनुमान के उदाहरणों में से 'पर्वत वन्हियुक्त है, क्योंकि वह प्रमेय है' इस अनुमान में प्रमेयत्व रूप हेतु यद्यपि काल्पनिक निरग्नि-स्थानों से व्यावृत्त है और यह व्यावृत्ति भी काल्पनिक है तो भी इस अनुमान के पक्ष, सपक्ष, विपक्ष प्रामाणिक होने से प्रामाणिक विपक्ष जो जलन्हदादि उनसे प्रमेयत्व का व्यावृत्त होना आवश्यक है। किन्तु वह असिद्ध है; अतः प्रमेयत्व उक्त अनुमान में सद्धेतु नहीं होगा। इसी प्रकार वस्तुसत् शब्द को पक्ष कर जो उक्त अनुमान प्रस्तुत किया गया है उसमें भी वस्तुसत् जो चाक्षुषत्वरूप हेतु उसका विद्यमान होना आवश्यक है। वह न होने पर चाक्षुषत्व हेतु हो ही नहीं सकता। अन्तिम अनुमान में, वस्तुसत् में ही विद्यमान जो कृतकत्व रूप हेतु उसकी शब्द में वास्तविक सत्ता और विपक्ष में वास्तविक असत्ता ही उपादेय है। ऐसा इन अनुमानों में उपलब्ध न होने के कारण ही ये हेत्वाभासग्रस्त माने जाते हैं। काल्पनिक पक्षसत्वादि की सहायता से इन अनुमानों के हेतुओं को सद्धेतु नहीं सिद्ध किया जा सकता।

मू. प्रलपितमेतत्। नहि नियामकमन्तरेण सम्पदं प्रति कल्पना त्वरते, विपदं प्रति (तु) विलम्बत इति शक्यं वक्तुम्, तथाच निरग्निकमपि कूर्मरोम सधूमिति कल्पनामात्रेण विपक्षवृत्तित्वात् धूमोऽपि नाग्निं गमयेत्। "वास्तव्यां रूपसम्पत्तौ किमनेन काल्पनिकेन दोषेणेति चेत्"। तर्हि वास्तव्यामसम्पत्तौ किं काल्पनिक्या तयेति समानम्। "विरोधाविरोधौ विशेष इति चेत्" कुत एषः? "उभयोरेकत्र वस्त्ववस्तुत्वात्, अन्यत्रावस्तुत्वादिति चेत्"। तत् किं काल्पनिकोऽपि धूमो वस्तुभूतो येन कूर्मरोम्णस्तेन सह विरोधः स्यात्?

नैयायिक उक्त समर्थन का तिरस्कार कर कहते हैं कि यह केवल अनर्गल प्रलाप है। बिना किसी नियम के अलीक में व्यतिरेक-सिद्धि के लिए काल्पनिक व्यतिरेकों को उपयुक्त मानना और असदनुमान में काल्पनिक बातों को अनुपयुक्त ठहरा देना यह बिलकुल अतार्किक है। दोनों प्रकार के अनुमानों का समानतया ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



विचार करना चाहिए। अन्यथा 'पर्वत में वन्हि है, क्योंकि वहाँ धूम है' इस अनुमान में धूम का वन्हिरहित कूर्मरोम पर काल्पनिक वृत्तित्व होने से काल्पनिक विपक्षसत्वयुक्त यदि हो जाए तो वह अग्नि का गमक नहीं हो पायेगा। यदि कहें कि 'वास्तविक सपक्षसत्वादि धूम में होने पर काल्पनिक रूप (सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्तत्वादि) उनमें न हो तो क्या बिगड़ता है? तो प्रतिबंदि के रूप में यह भी कह सकते हैं कि व्यतिरेकानुमान में वास्तविक रूप न होने पर काल्पनिक रूपों की सत्ता निरर्थक है। इस पर यह प्रत्युत्तर सम्भव है कि असत् कूर्मरोम में सत् धूम की सत्ता-विरोध का कारण होगी, किन्तु असत् शशशृंग में असत् क्रमयौग-पद्याभाव की सत्ता विरोध का कारण नहीं होगी और यही उक्त दो बातों में विभेद है। इस उत्तर पर प्रश्न होगा कि उक्त विभेद का भी आधार क्या है? यदि कहा जाए कि धूमानुमान में धूम सत् है और कूर्मरोम असत् है किन्तु क्षणिकत्वानुमान में व्यतिरेक और उसका आश्रय ये दोनों असत् हैं तो नैयायिक यह प्रतिवाद कर सकते हैं कि काल्पनिक धूम की काल्पनिक कूर्मरोम में सत्ता मान कर उसकी विपक्षसत्ता दिखलायी जाय तो विरोध कहाँ आता है?

—नारायणशास्त्री द्राविड

आचार्य एवं अध्यक्ष,
नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# धार्मिक आस्था एवं इहलौकिक प्रक्रिया

इहलौकिक प्रक्रिया (Process of Secularisation) के उद्भव के परिणाम स्वरूप आधुनिक मानव के धार्मिक जीवन में एक नवीन अनुस्थापन देखा जाता है और फलतः धार्मिक आस्था के प्रति एक बौद्धिक इहलौकिक दृष्टिकोण की संभावना व्यक्त की जाती है। साधारणतया यह स्वीकार कर लिया गया है कि बौद्धिक इहलौकिक प्रवृत्ति या दृष्टिकोण धार्मिक आस्था का विरोधी है। परन्तु सूक्ष्म और गहन चिंतन ही इस बात का स्पष्टीकरण करते हैं कि यह विरोध स्वाभाविक एवं आवश्यक नहीं है। चिन्तन के प्रथम चरण में ही विरोध दीख पड़ता है, परन्तु चिंतन की विकसित अवस्था में विरोध की स्थिति समाप्त हो जाती है। इस निष्कर्ष की स्थापना इहलौकिकता एवं धार्मिक आस्था (Raligious faith) के अर्थ एवं विस्तार की व्याख्या द्वारा दोनों के बीच की समानता एवं भिन्नता के मुख्य तत्त्वों के विश्लेषणाद्वारा एवं दोनों दृष्टिकोणों के बीच परस्पर सहयोग दिखाकर ही की जा सकती है।

'सेक्युलर' शब्द का शाब्दिक अर्थ यह दुनिया या कालिक जगत् होता है। फिर सेक्युलर शब्द, लैटिन शब्द 'सेक्युलम' से निकला है जिसका अर्थ भी यह दुनिया, कालिक जगत्, यह युग है और इस प्रकार यह दूसरी दुनिया, दिव्य जगत्, अलौकिक एवं पवित्र जगत् का ठीक प्रतिकूल है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि इहलौकिकता एक प्रक्रिया है जिसमें जीवन के पवित्र पहलू जिसकी भूत में अलौकिकता के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की जाती थी, आज इसे ऐसी शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में समझा जाता है और इसकी व्याख्या की जाती है जो शक्तियाँ इसी जगत् में निहित हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि इहलौकिक प्रक्रिया अपने उद्देश्य एवं विषय के परिप्रेक्ष्य में अलौकिकता एवं धार्मिकता का विरोधी है। विल्सन कहते हैं: "इहलौकिक प्रक्रिया में यान्त्रिक मूल्यों, बौद्धिक प्रक्रियाओं एवं तकनीकी पद्धतियों की प्रधानता है।"[१] वे पुनः कहते हैं कि इहलौकिक समाज वह है जहाँ "पवित्रता की भावना, जीवन की पवित्रता एवं गहन धार्मिकता अनुपस्थित है।"[२] और इहलौकिकता "एक प्रक्रिया है जिसमें धार्मिक चिन्तन, व्यवहार एव



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



संस्थाएँ सामाजिक महत्व को खो देती हैं।"[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्धिक तत्त्व इहलौकिक प्रक्रिया का सार है।

इहलौकिक प्रक्रिया के अर्थ एवं विस्तार से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो दृष्टिकोण– इहलौकिक एवं धार्मिक– एक दूसरे के विरोधी है। जब कि इहलौकिक प्रक्रिया में बौद्धिक प्रक्रियाओं एवं तकनीकी पद्धतियों पर अधिक बल दिया जाता है वहाँ पर धार्मिक दृष्टिकोण आस्था, दृढ़धारणा एवं पवित्र अवधारणाओं पर अधिक बल देता है। फिर जहाँपर धार्मिक अनुष्ठान, प्रार्थना, प्रभुत्व एवं कर्मकांड धार्मिक निवेश में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं वहाँ पर इहलौकिक दृष्टिकोण प्रत्येक वस्तु को परिप्रश्न एवं समीक्षात्मक परीक्षा के धरातल पर रखता है। इस प्रकार, जहाँ पर धार्मिक जीवन परंपरा से प्रभावित होता है वहाँ पर इहलौकिक जीवन आधुनिकता से प्रभावित है। पुनः इहलौकिक और धार्मिक दृष्टिकोणों में मूल्य की भिन्नता देखी जाती है। इसीलिए इहलौकिक और धार्मिक मूल्यों के बीच लक्ष्य की भी भिन्नता देखी जाती है। उदाहरणास्वरूप, एक आदर्शभूत धार्मिक समाज में अनेक क्रियाएँ अलौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए की जाती हैं। अर्थात् शाश्वत जीवन की प्राप्ति ही लक्ष्य बनता है। परन्तु एक इहलौकिक मनुष्ये के लिए इस प्रकार के शाश्वत मूल्यों की प्राप्ति संभव नहीं है क्यों कि एक इहलौकिक मनुष्य मूल्यों की प्राप्ति के लिए बौद्धिक प्रक्रियाओं एवं तकनीकी पद्धतियों को अपनाता है और इसीलिए उसके मूल्यों को यान्त्रिक मूल्य कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अपने लक्ष्य और विषय के परिप्रेक्ष्य में इहलौकिक प्रक्रिया धार्मिकता विरोधी एवं अलौकिकता विरोधी है जब कि धार्मिक दृष्टिकोण अपने प्रयास में अलौकिकता पर अधिक बल देता है।

परन्तु इहलौकिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण की वास्तविक व्याख्या एवं विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि दोनों दृष्टिकोणों के बीच का भेद वस्तुओं को मात्र दो प्रकार से देखने का भेद है। परन्तु, वास्तवमें, अगर वस्तुओं को दो प्रकार से देखा जाता है तो इससे वस्तुओं के बीच विरोध स्पष्ट नहीं होता बल्कि भिन्नता स्पष्ट होती है। इसी प्रकार, इहलौकिकता और धार्मिकता को एक ही व्यक्ति दो प्रकारसे देखने का हमेशा प्रयास करता आ रहा है। यही कारण है कि दोनों की प्रक्रिया विरोधी दीख पड़ती है। परन्तु, अगर दोनों संप्रत्ययों के सार को एक ही दृष्टि से देखने का प्रयास किया जाय तो दोनों के बीच विरोध नहीं दिखेगा। कारण, दोनों संप्रत्ययों का संबंध मानव जीवन से है जहाँ पर दोनों के परिप्रेक्ष्य में ही मनुष्यका जीवन विकसित होकर पूर्णता की प्राप्ति कर सकता है।

'सेक्युलर' शब्द का अर्थ पवित्रता, अलौकिकता एवं अन्य धार्मिक आस्थाओं का विरोधी है। परन्तु आवश्यक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इहलौकिक प्रक्रिया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



पूर्णतः पवित्रता, अलौकिकता एवं अन्य धार्मिक आस्थाओं का बहिष्कार करती है। इहलौकिक प्रक्रिया का एकमात्र कार्य सिर्फ यही माना जाता है कि यह धार्मिक आस्था, पवित्रता एवं अलौकिकता को परिप्रश्न की कसौटी पर रखती है और फिर इन्हें समीक्षात्मक परीक्षा के लिए तैयार करती है और इस प्रकार यह इनका परिमार्जन करती है। यह पवित्रता के संप्रत्यय की व्याख्या द्वारा ही स्पष्ट होता है।

पवित्रता द्वारा दो प्रकार की सत्यता की अभिव्यक्ति देखी जाती है। प्रथमतः पवित्रता का संबंध जीवन के उस पहलू से होता है जो स्वभावतः अलौकिक होता है तथा जिसके अन्दर परम्परागत रूढ़ाचार एवं मूल्य, जैसे ब्राह्मणों के प्रति सम्मान, ब्राह्मणों की हत्या न करना, आदि आते हैं। इन मूल्यों को बिना किसी परिप्रश्न के अंगीकार कर लिया जाता है। द्वितीयतः, इन रूढ़ाचारों एवं मूल्यों का व्यापक अर्थ कभी-कभी बड़ों, श्रेष्ठों एवं नेताओं के प्रति आदर, राष्ट्रीय ध्वजा एवं राष्ट्रीय गान के प्रति सम्मान, औरतों के उपर मर्दों की श्रेष्ठता, लड़कियों के उपर लड़कों की श्रेष्ठता, आदि भी होते हैं। कभी-कभी जोश में आकर 'इहलौकिक प्रक्रिया दोनों प्रकार की पवित्रता को परिप्रश्न की कसौटी पर रखती है तथा समीक्षात्मक परीक्षा के अनुरूप बनाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इहलौकिक प्रक्रिया पवित्रता को धार्मिक आस्था से बहिष्कार नहीं करती बल्कि यह सिर्फ उस तौर-तरीके पर प्रश्नचिन्ह अंकित करती है जिन तौर-तरीकों को परम्परागत मनुष्य बिना किसी परिप्रश्न एवं समीक्षा के स्वीकार कर बैठे हैं। इसका यह अर्थ होता है कि धार्मिक आस्था के अन्दर के पवित्र तत्त्व का महत्व आधुनिक मानव के जीवन के लिए भी है। ऐसा इसलिए कि मानवता को किसी न किसी प्रकार की पवित्रता की आवश्यकता होती है। मानवता को पवित्र-परम्परा, मूल्य एवं रूढ़ाचार की आवश्यकता होती है जो हमारे व्यवहार एवं सुरक्षा के लिए आदर्शसूचक बनते हैं तथा जो साधारणतया आत्म-सुरक्षा के लिए प्रामाणिक रूप में स्वीकार किये जाते हैं। परन्तु ये पवित्र मूल्य न केवल वृद्धों के जीवन के लिए आवश्यक हैं बल्कि युवकों के लिए भी आवश्यक है। यह संभव है कि इहलौकिक प्रक्रिया के प्रति अधिक जागरूक होने के कारण युवक पवित्र आदर्श एवं प्रतिमान के एक भाग की समाप्ति करने में सक्षम हो सकते हैं, परन्तु आश्चर्य की बात यत है कि वह अपनी सुरक्षा के लिए ही दूसरे पवित्र आदर्श एवं प्रतिमान का सर्जन कर लेता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक आस्था के पवित्र तत्त्व इहलौकिक प्रक्रिया के प्रभाव द्वारा बहिष्कृत नहीं होते। बहिष्करण की प्रक्रिया में इहलौकिक प्रक्रिया की सफलता मात्र इतनी ही मानी जा सकती है कि यह धार्मिक आस्था के अन्दर के अंध-पवित्रता को बहिष्कृत कर पाती है, जैसे, औरतों के उपर मर्दों की प्रभुता, लड़कियों के उपर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



लड़कों की श्रेष्ठता, ब्राह्मणों के प्रति आदर, आदि। परन्तु बहिष्करण की प्रक्रिया में इहलौकिक प्रक्रिया पवित्रता के आवश्यक प्रतिमान जैसे बड़ों के प्रति आदर तथा राष्ट्रीय ध्वजा एवं राष्ट्रीय गान के प्रति सम्मान को बहिष्कृत करने में सर्वथा असफल है। क्योंकि इस प्रकार के पवित्र मूल्य की आवश्यकता इहलौकिक मानव के लिए भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी धार्मिक मानव के लिए। कारण, इस प्रकार के पवित्र मूल्यों के अन्दर जितना धार्मिक मानव अपने को सुरक्षित महसूस करता है उतना ही इहलौकिक मानव भी अपने को सुरक्षित महसूस करता है। अतः आवश्यकता सिर्फ इसी बात की है कि जब भी हम पवित्र मूल्यों के संबंध में बात करें तो इसे एक व्यक्ति की मानवता एवं एक व्यक्ति की स्वतंत्रता से बाहर रखें तथा इन्हें मूल्यांकन एवं समीक्षा के अनुकूल बनायें। इसका यह अर्थ होता है कि हमें पवित्र मूल्यों का न अनुयायी होना चाहिए और न इन्हें अन्ध रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए जैसा कि भूत में स्वीकार कर लिया गया था, बल्कि हमें पवित्र मूल्यों का नायक बनना चाहिए। जिस प्रकार एक नायक अपने साथ के लोगों का दास नहीं होता बल्कि वह अपने साथियों पर नियंत्रण रखता है उसी प्रकार एक धार्मिक व्यक्ति के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वह पवित्र मूल्यों का दास न होकर नियंत्रक बने। अगर धार्मिक आस्था के पवित्र मूल्यों की व्याख्या इस रूप में की जाती है तो फिर एक इहलौकिक व्यक्ति का पवित्र मूल्यों के प्रति दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह समाप्त हो जाते हैं और यहाँ पर मानव का इहलौकिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण एक हो जाते हैं।

इसे दूसरे रूप में भी स्पष्ट किया जा सकता है। इहलौकिक प्रक्रिया पर-म्परागत प्रभुता एवं नेतृत्व को परिप्रश्न की कसौटी पर रखती है, कारण, प्रायः यह समझा जाता है कि प्रभुता एवं नेतृत्व निरपेक्ष होते हैं। यहाँ पर एक व्यक्ति को बिना किसी प्रश्न के अपने नेता के नेतृत्व को स्वीकार करना पड़ता है और जब भी वह अपने नेता के नेतृत्व पर प्रश्न-चिन्ह अंकित करता है तो नेता इस प्रश्न-चिन्ह को अपनी प्रभुता का अपमान समझता है। परन्तु ऐसा समझना प्रभुता एवं नेतृत्व के लिये एक भूल है। ऐसा इसलिए कि एक व्यक्ति अपने नेता के नेतृत्व पर जो प्रश्न-चिन्ह लगाता है वह प्रश्न-चिन्ह उसके नेतृत्व के अपमान का द्योतक नहीं है या वह प्रश्न-चिन्ह उसके लिए चुनौती नहीं है बल्कि वह प्रश्न-चिन्ह एक नये प्रकार का 'प्रभुता–शिष्य संबंध' या 'नेता–अनुयायी संबंध' का द्योतक है। यह संबंध नेता और अनुयायी के बीच एक व्यवहार–प्रतिमान को जन्म देता है। इस प्रकार इहलौकिक प्रक्रिया का उद्देश प्रभुता एवं नेता के व्यवहार–प्रतिमान में परिवर्तन लाना माना जा सकता है न कि प्रभुता और नेतृत्व का बहिष्करण माना जा सकता है। यह प्रभुता और नेतृत्व चाहे राजनैतिक हो या सामाजिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



या धार्मिक या इहलौकिक। आज के आधुनिक मानव को भी अच्छी तरह से रहने और कार्य करने के लिए एक प्रभुता एवं नेतृत्व की आवश्यकता होती है। क्योंकि प्रभुता ही आधुनिक मानव के प्रतिदिन के जीवन और व्यवहार में प्रेरक एवं निदेशक बनती है। हम प्रायः यह कहा करते हैं कि आज नेतृत्व का अभाव है या नेतृत्व-संकट है। यह नेतृत्व-संकट चाहे गिरजाघर का हो या राष्ट्र का हो या किसी शैक्षणिक संस्था के विभाग का हो। एक विभाग के सभी सदस्य शैक्षणिक कार्य करने को इच्छुक हैं, परन्तु एक प्रभुता या एक नेता के अभाव में वे कुछ भी नहीं कर पाते। परन्तु जब विभाग में एक सुयोग्य प्रभुता या नेता उपलब्ध हो जाता है तो उस विभाग के सभी सदस्य सक्रिय हो जाते हैं। यह प्रभुता ऐसी होती है कि इसके समक्ष प्रश्न रखने पर वह प्रसन्न होता है। कभी-कभी तो वह प्रभुता अपने सदस्यों को प्रश्न करने के लिए प्रेरित भी करता है। अतः प्रेरणा एवं निदेशन के लिए एक नेता या प्रभुता की आवश्यकता जीवन के प्रत्येक पहलू के लिए है चाहे वह राजनैतिक जीवन हो या सामाजिक जीवन या धार्मिक जीवन या इहलौकिक जीवन।

अब, अगर इहलौकिक प्रक्रिया धार्मिक आस्था के मौन नियमों को प्रश्नात्मक दृष्टि से देखती है तो इससे धार्मिक आस्था के मौन नियम समाप्त नहीं होते। वास्तविकता तो यह है कि धार्मिक आस्था के मौन नियमों के लिए इहलौकिक प्रश्न आवश्यक हो जाते हैं क्यों कि भूत में ये नियम अपने आप में साध्य माने जाते थे या स्वयंभू माने जाते थे। अतः जब इहलौकिक प्रक्रिया इन मौन नियमों के संबंध में प्रश्न करती है तो यह यही करती है कि क्या मौन नियम अपने आप में शुभ है या वे किसी लक्ष्य का साधन मात्र हैं? यह प्रश्न स्वाभाविक है क्यों कि वास्तविकता यही है कि मौन नियम अपने आप में शुभ नहीं है बल्कि वे किसी लक्ष्य का साधन मात्र हैं। ये नियम साधनमात्र हैं क्यों कि ये शक्ति एवं समुदाय दोनों की प्रार्थना के लिए एक वातावरण का निर्माण करते हैं। फिर मौन नियमों का हमेशा एक उद्देश्य हुआ करता है और वह उद्देश्य एक धार्मिक समाज के लिए होता है। उदाहरण स्वरूप, गिरिजाघर का उद्देश्य मानवता की सेवा है। गिरिजाघर के भी कुछ मौन नियम होते हैं जिनके द्वारा गिरिजाघर के अन्दर प्रार्थना का एक वातावरण तैयार होता है। अतः मौन नियम को अपने आप में एक साध्य नहीं स्वीकारा जा सकता जैसा कि मध्ययुग में स्वीकार किया गया था। परन्तु अगर इहलौकिक प्रक्रिया मौन नियम की व्याख्या इस रूप में करती है तो आज इस व्याख्या से एक धार्मिक व्यक्ति को कोई आपत्ति नहीं होगी।

अंत में, इहलौकिक प्रक्रिया परम्परागत धार्मिक अनुष्ठान को भी परिप्रश्न की कसौटी पर रखता है क्यों कि मध्ययुग में ये धार्मिक अनुष्ठान पवित्र माने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



जाते थे तथा प्रश्न की सीमा से परे समझे जाते थे। धार्मिक अनुष्ठान पवित्र माने जाते थे क्यों कि ये संस्थापकों द्वारा सर्जित माने जाते थे। फिर, धार्मिक अनुष्ठान पवित्र माने जाते थे क्यों कि इन्हें पोप का ही वचन माना जाता था। परिणाम स्वरूप, इन धार्मिक अनुष्ठानों के परिप्रेक्ष्य में अन्याय को भी उचित ठहराया जाता था क्यों कि ऐसी मान्यता थी कि 'श्रेष्ठों की इच्छा ईश्वर की इच्छा होती है'। इहलौकिक प्रक्रिया के लिए इस प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों का बहिष्कार करना आवश्यक एवं स्वाभाविक हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों का बहिष्कार इहलौकिक प्रक्रिया के लिए एक नई बात नहीं कही जा सकती है क्यों कि इन अनुष्ठानों को इहलौकिक प्रक्रिया के बहिष्कार करने के पूर्व ही ईसाई धर्म के नवीन ईश्वरवादियों ने भी परिमार्जित किया था। नवीन ईश्वरवाद के ईसाई विद्वानों ने धार्मिक अनुष्ठानों की व्याख्या के क्रम में एक वैकल्पिक विश्व-दृष्टिकोण ढूंढ़ने का प्रयास किया है जो वैकल्पिक विश्व-दृष्टिकोण इहलौकिक प्रक्रिया के अनुकूल है। धर्म विशेष के अनुष्ठानों द्वारा ही इस प्रयास की व्याख्या की जा सकती है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म का सामूहिक स्वाध्याय लिया जा सकता है। पादचारियों को यह विशेषाधिकार प्राप्त था कि ये ही लोग सामूहिक स्वाध्याय के समय धर्मपत्र एवं दिव्यवार्ता पढ़ने के अधिकारी हैं। परन्तु इहलौकिक प्रक्रिया के उद्भव के साथ ही रोम से एक विधि परिपालन की रचना हुई जिसके द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि एक साधारण मनुष्य या यहाँ तक कि एक औरत भी सामूहिक स्वाध्याय के समय धर्मपत्र एवं दिव्यवार्ता का पठन कर सकती है। इस प्रकार इन ईश्वरवादियों के लिए यह आदर्श बिना कि 'हमें समय के अनुसार चलना चाहिए या परिवर्तित होना चाहिए'। इसका यह अर्थ होता है कि धार्मिक आस्था एवं इहलौकिक प्रक्रिया के बीच अभियोजन का स्थान सुरक्षित है। इसका यह भी अर्थ होता है कि धर्म इहलौकिकता के हस्तक्षेप को स्वीकार करता है तथा उसका स्वागत करता है। फिर नवीन ईश्वरवाद में यह भी कहा गया है कि स्वयं ईश्वर ने यहुदी धर्म के अनेक धार्मिक अनुष्ठान एवं शिक्षा को ढूंढ़ा था जो बौद्धिक या या इहलौकिक मूल्यांकन के लिए खुले थे। ईश्वर ने यहुदी नेताओं को स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'विश्रान्तिवार मनुष्य के लिए बना है न कि मनुष्य विश्रान्तिवार के लिए बना है'। उन्होंने इस बात को तब कहा जब विश्रान्तिवार के अवसर पर गेहूँ को दलने के कारण ईसाई धर्म प्रचारकों की यहुदी नेताओं ने आलोचना की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वयं ईसा ने भी परम्परागत धार्मिक अनुष्ठानों की आलोचना की है जैसा कि उन्होंने यहुदी धर्म के कुछ धार्मिक अनुष्ठानों का विरोध किया है, उदाहरण के लिए भोजन के पहले स्नान करना या बर्तनों को साफ करना, आदि। इससे यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक अनुष्ठान समय और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



आवश्यकता के अनुसार लचीले बनते रहे हैं और इस रूप में इनका इहलौकिक प्रक्रिया के साथ विरोध नहीं दिखाया जा सकता बल्कि धार्मिक अनुष्ठानों का यह लचीला पन इहलौकिकता के साथ समानता को स्पष्ट करता है।

धार्मिक अनुष्ठानों की इहलौकिक व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक अनुष्ठानों को इहलौकिक परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है परन्तु साथ ही साथ यह भी स्पष्ट होता है कि धार्मिक अनुष्ठान मुख्यतः धार्मिक आस्था के ही अंग है। ऐसा इसलिए कि धर्म के समकालीन चिन्तक यह महसुस करते हैं कि अधिकांश धार्मिक अनुष्ठान मध्ययुग के लिए आवश्यक माने गए थे क्योंकि मनुष्य को उस समय मानसिक तन्द्रा से जगाने की आवश्यकता थी और आज भी ये धार्मिक अनुष्ठान प्रतिदिन के काम की अधिकता के कारण आवश्यक दिखते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि हमें धार्मिक अनुष्ठान की आवश्यकता एक प्रकार का विश्राम पाने के लिए है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हमें धार्मिक अनुष्ठानों का पालन अंध रूप से करना चाहिए। यहाँ आवश्यकता इस बात की है कि हम उन धार्मिक अनुष्ठानों को स्वीकार करें जो इहलौकिक प्रक्रिया के अनुकूल हों या जिसका इहलौकिक रूप में मूल्यांकन किया जा सके।

इसप्रकार यह कहा जा सकता है कि जीवन के धार्मिक और इहलौकिक दृष्टिकोण के बीच जितना विरोध दिखाया जाता है वह बहुत कुछ अत्ययुक्ति है। अत्ययुक्ति इसलिए कि धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। दोनों दृष्टिकोणों की व्याख्या से ही यह स्पष्ट होता है। फिर दोनों दृष्टिकोणों के बीच परस्पर सहयोग दिखाकर भी दोनों के विरोध को समाप्त किया जा सकता है। अगर किसी प्रकार की कमी दिखती है तो वह कभी दोनों दृष्टिकोणों में वर्तमान है और अगर दोनों के बीच कुछ गुण पाए जाते हैं तो वे गुण परस्पर सहयोग का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कहा जाता है कि अगर मनुष्य के जीवन और व्यवहार से संबंधित धार्मिक दृष्टिकोण में किसी प्रकार की ज्यादती देखी जाती है तो मनुष्य के जीवन और व्यवहार से संबंधित इहलौकिक दृष्टिकोण में भी ज्यादती देखी जाती है। उदाहरण स्वरूप, इहलौकिक विचार-धारा द्वारा भी जीवन के लिए एक खतरा स्पष्ट दिखता है कि बौद्धिकता पर अधिक बल देने के कारण मानव जीवन उदासीन, यान्त्रिक एवं नीरस हो जाता है क्योंकि जीवन और अनुभूति मानव अनुभूति के दृश्य पहलू तक ही सीमित रहते हैं और इस प्रकार अनुभूति के अबौद्धिक पहलू उपेक्षित हो जाते हैं, इनका निषेध हो जाता है तथा इनका रूप निम्नतर हो जाता है। इसी प्रकार, धार्मिक व्यक्ति की भी यह एक भारी भूल है कि वह इहलौकिकता को मात्र एक विचारधारा या सिद्धान्त या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



दर्शन के रूप में देखता है। वास्तव में, अगर वे इहलौकिकता को इस रूप में समझते हैं तो वे इहलौकिकता की नींदा करते हैं और इस प्रकार वे परम्परा में सीमट जाते हैं। परन्तु वे यह समझ नहीं पाते कि जिस आधार पर वे परम्परा का सहारा लेकर आधुनिकता की नींदा करते हैं, उनकी परम्परा की नींदा भी आधुनिकता का सहारा लेकर की जा सकती है। अतः यहाँ पर मध्यममार्ग यही हो सकता है कि परम्परा और आधुनिकता दोनों को अंगीकार किया जाए। क्योंकि कहा जाता हैं कि शुभ का संचय अच्छा है, परन्तु साथ-ही साथ शुभ की खोज भी अच्छी है। परम्परा शुभ का संचय करती हैं तथा आधुनिकता शुभ की खोज करती है। फिर कहा जाता है कि पराकोटि का संचय अशुभ है तथा पराकोटि की नवीनता की सनक भी अशुभ है क्योंकि दोनों प्रकार के दृष्टिकोण मनुष्य को मानवताशून्य बनाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि धार्मिक आस्था एवं इहलौकिक प्रक्रिया की पराकाष्ठा ही खराब है और इसी पराकाष्ठा के कारण दोनों के बीच विरोध दिखता है। शुद्ध स्वभाव में धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया परस्पर सहयोग के द्योतक हैं।

फिर भूत की वस्तु की सिर्फ यह कह कर नींदा नहीं की जा सकती कि वह भूत की वस्तु है। ऐसा इसलिए कि जो वस्तु भूत की है वह आज भी इहलौकिकतावादी विश्व के किसी-न-किसी भाग में वर्तमान है। इससे यह भी अर्थ नहीं निकलता कि भूत की वस्तु का महत्व दिखा कर इहलौकिकतावादी की बौद्धिकता का हम निरादर करें बल्कि हमें इनकी बौद्धिकता का आदर करना होगा क्योंकि इहलौकिकतावादी और धार्मिक दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है और अपने-अपने क्षेत्र में उनका अपना एक विशेष अधिकार है। परन्तु इस अधिकार से भी इहलोकिक प्रक्रिया और धर्म के बीच विरोध स्पष्ट नहीं होता क्योंकि मानव जीवन और उसके व्यवहार का पूर्ण विकास सिर्फ धार्मिक और इहलौकिक दृष्टिकोण के परस्पर सहयोग द्वारा ही सम्भव है। फिर यह विश्व एक अनेकतावादी विश्व है और यहाँ पर एकमात्र सहारा तर्क, परिप्रश्न और आस्था एवं अभिव्यक्ति द्वारा मूल्यांकन बनते हैं।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि 'ईश्वर-प्रदत्' या 'पूर्वज-प्रदत्' के रूप में परम्परागत रूढ़ाचारों एवं मूल्यों की अन्ध स्वीकृति द्वारा उतना मानवीय ह्रास नहीं होता जितना अज्ञानतावश उन रूढ़ाचारों एवं मूल्यों का अन्ध बहिष्कार द्वारा होता है। इसलिए, जीवन और अनुभूति का प्रतिक्षेपण इस बात को स्पष्ट करता है कि जीवन के लिए जितने अनुभूति और सत्यता के अबौद्धिक आयाम सत्य और महत्वपूर्ण हैं उतना ही बौद्धिक एवं इहलौकिक आयाम सत्य और महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण स्वरूप, पवित्रता दोनों रूपों में– निवेश की अनुभूति, दोष या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



बन्धुत्व की अनुभूति, पृथक्करण– पूर्ण मानव जीवन में आवश्यक तत्त्व हैं। क्योंकि दोनों रूपों में पवित्रता मानवता के आयाम को ग्रहण करती है। इस प्रकार इन्हें अस्वीकार करने का अर्थ मनुष्य को मानवता से दूर ले जाना है तथा उसके लिए समन्वयात्मक आत्म-दर्शन की प्राप्ति भी कठिन हो जाती है।

फिर इहलौकिक प्रक्रिया के प्रभाव में आकर आधुनिक मानव यह कहते हुए परम्परागत प्रतीकवाद को तजता है कि हमें किसी भी पवित्रता, प्रतीकवाद, प्रतीकात्मक वस्त्र एवं जीवन-पद्धति की आवश्यकता नहीं है। यह सत्य है कि अधिकांश परम्परागत पवित्रता हमारे धार्मिक जीवन के लिए अनावश्यक दीखती है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम उन्हें पूर्णतया तज दें। इसलिए यहाँ पर एकमात्र समाधान यही रखा जा सकता है कि धार्मिक आस्था को तजने में समय बरबाद न करें बल्कि उनकी पूर्णव्याख्या अधिकाधिक शक्ति एवं उत्साह से करें तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्य के लिए नई संगति की खोज करें।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि इहलौकिक दृष्टिकोण के स्वभाव में धर्म-विरोधी, चर्च-विरोधी एवं परम्परा-विरोधी गुण सन्निहित नहीं हैं। ऐसा इसलिए कि इहलौकिकता मानव को अपनी स्वतन्त्रता के सबसे ऊँचे स्तर पर रहने का आवाहन करती है और इस रूप में इहलौकिक प्रवृत्ति 'जीवन के पवित्र पहलू' के अस्तित्व का आवश्यक रूप से निषेध नहीं करती क्योंकि इहलौकिक प्रवृत्ति में स्वतन्त्रता, इमानदारी, सत्यनिष्ठा, न्याय एवं मनुष्य का सम्मान निहित हैं। परन्तु, साथ-ही-साथ इहलौकिक प्रवृत्ति जीवन के पवित्र पहलू को मात्र सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं करती है बल्कि इसे समीक्षात्मक परीक्षा की कसौटी पर रखती है। फिर, इहलौकिक दृष्टिकोण मानव जीवन के ऐसे तत्त्वों का निषेध नहीं कर सकता जिसका सम्बन्ध इहलौकिकता से न हो परन्तु साथ-ही-साथ पवित्रता को विशेषाधिकार भी नहीं दिया जा सकता है। प्रत्येक अवस्था में धार्मिक आस्थाएँ इहलौकिक प्रक्रिया के लिए मूल्यांकन का विषय हैं।

इससे यह स्पष्ट होता हैं कि हमारे जीवन के लिए इहलौकिक प्रवृत्तियाँ आवश्यक एवं महत्वपूर्ण हैं क्योंकि हमने चेतन रूप में एवं स्वतः अनेकानेक इहलौकिक प्रवृत्तियों को ग्रहण कर लिया है जो हमारे जीवन के अधिकांश पहलुओं– यहाँ तक कि धार्मिक सामुदायिक जीवन– को भी प्रभावित करते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम ने अपने को पूर्णतः इहलौकिकवाद में खो दिया है। यह सत्य है कि हम आधुनिक इहलौकिक विश्व का एक अंग हैं परन्तु यह भी सत्य है कि हम इहलौकिक विश्व से ऊपर भी रहने की इच्छा रखते हैं। ऐसा इसलिए कि विश्व में जो शक्तियाँ कार्य करती हैं वे शक्तियाँ हमारे ऊपर और हमारे द्वारा कार्य करती हैं। अब, धार्मिक व्यक्ति होने के नाते हमारा यह कर्तव्य है कि हम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



इन शक्तियों का निषेध न करें बल्कि हम इन शक्तियों के सम्बन्ध में पारस्परिक जागरूकता विकसित करें ताकि हम सत्यता को वस्तुपरक एवं बौद्धिक रूप में स्वीकार कर सकें। फिर हमें मात्र इन शक्तियों का कठपुतली बनना नहीं है बल्कि हमें इन शक्तियों का नायक बनना है।

धार्मिक आस्था एवं इहलौकिक प्रक्रिया की व्याख्या तथा विश्लेषण से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं।

सर्व प्रथम धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया एक दूसरे के विरोधी दिखते हैं परन्तु इस विरोध का कोई ठोस स्थायित्व नहीं देखा जाता जब उनके संबंध में हमारा चिन्तन गहन होता है। धार्मिक आस्था इहलौकिक दृष्टिकोण का विरोधी तभी दिखता है जब धार्मिक आस्था अंध एवं रूढ़िबद्ध होती है। एक नवीन विचार की संभावना को समाप्त नहीं किया जा सकता जिसे 'बौद्धिक इहलौकिक आस्था' कहा जा सकता है। अगर एक धार्मिक आस्था इहलौकिक धरातल पर आधारित होती है तो यहाँ पर यह सतर्कता दिखानी होगी कि धार्मिक आस्था के तत्त्व पूर्णतः अलौकिक न हो और तब धार्मिक आस्था इहलौकिकता का विरोधी नहीं है। इस प्रकार की सतर्कता नवीन ईश्वरवादियों द्वारा दिखायी गयी है। इन्होंने धार्मिक आस्था को रूढ़िबद्ध आस्था के स्तर पर जाने से रोकने का प्रयास किया है।

फिर नवीन ईश्वरवादियों ने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि इहलौकिक अनुशीलन भी एक प्रकार से धार्मिक आस्था पर आधारित है। कारण, इनकी दृष्टि में इहलौकिक प्रक्रिया एक गौण प्रक्रिया है, इसके पहलू तभी स्पष्ट होते हैं जब प्रक्रिया का कुछ विकास होता है। अतः प्रारम्भ में, यह भी एक प्रकार की दृढ़धारणा पर ही आधारित रहती है। जब तक इहलौकिक प्रक्रिया में दृढ़धारणा नहीं होती तबतक हम इहलौकिक रूप में नहीं सोच पाते हैं। यही कारण है कि नवीन ईश्वरवादियों ने पवित्र तत्त्वों में आस्था के प्रारम्भिक महत्व को स्वीकार किया है, जैसे, बड़ों, नेता, प्रभुता, आदि के प्रति सम्मान दिखाना। फिर, नवीन ईश्वरवादियों की यह दृढ़धारणा है कि कालान्तर में पवित्रता संबंधी संप्रत्यय की इहलौकिकता भी स्पष्ट हो जाएगी। परन्तु, इस संप्रत्यय की इहलौकिकता ढूंढने में प्रारम्भिक आस्था आवश्यक है। इसलिए, यदि धार्मिक आस्था को सही रूप में समझा जाय तो यह इहलौकिकता विरोधी नहीं दिखती है क्योंकि यह इहलौकिकता पर पूर्णतः आधारित नहीं है।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि इहलौकिकता धार्मिक आस्था का निषेध नहीं है बल्कि यह धार्मिक आस्था को सन्धिबद्ध प्रणाली में विकसित होने में सहायता प्रदान करती है। प्रत्येक कार्य मौलिक रूप से धार्मिक आस्था का कार्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



होता है, परन्तु यह तबतक धार्मिक आस्था का पूर्ण कार्य नहीं बनता जबतक यह इहलौकिक एवं विचार के आत्म-व्याख्यात प्रणाली में विकसित नहीं होता है। इसलिए, धार्मिक आस्था, जो मात्र धार्मिक आस्था है तथा इहलौकिकता से दूर रहती है, एक भूल है। यहाँ पर धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया का परस्पर सहयोग स्पष्ट होता है। धार्मिक आस्था पवित्रता के रूढ़िबद्ध सत्यों पर नियंत्रण रखने के लिए इहलौकिक प्रक्रिया की सहायता की आकांक्षा रखती है तथा इहलौकिकता को अपने साहसी कार्य करने के लिए धार्मिक दृढ़धारणा की आवश्यकता होती है।

धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया के परस्पर सहयोग को दूसरे रूप में भी स्पष्ट किया जा सकता है। यह कहना अनुचित न होगा कि धार्मिक और इहलौकिक दृष्टिकोण कुछ मूल्यों को अपने अन्दर समाविष्ट करते हैं। उपर यह दिखाया गया कि दोनों दृष्टिकोणों से संबंधित मूल्य एक दूसरे से भिन्न हैं। परन्तु दोनों की वास्तविक व्याख्या से यह स्पष्ट हुआ कि दोनों दृष्टिकोणों की भिन्नता दोनों प्रकार के मूल्यों को पूर्णतः असमान नहीं बनाती। वास्तव में, जिस रूपमें ये मूल्य दोनों दृष्टिकोणों के बीच देखे जाते हैं वे एक समान हैं। मूल्यों को धार्मिक एवं इहलौकिक दोनों दृष्टिकोणों में अनिगृहीत किया जाना आवश्यक है क्यों कि इसके अभाव में प्रत्येक कार्य अस्तव्यस्त, अव्यवस्थित एवं जीवन के लिए हानिकारक हो जायगा। मूल्यों के प्रति सजगता जीवन एवं व्यवहार में व्याख्या लाती है। इसी जागरूकता में धार्मिक आस्था कुछ धार्मिक मूल्यों की पूर्णता की बात करती है और फिर इसी जागरूकता में इहलौकिक मूल्य इहलौकिक जीवन के आदर्श बनते हैं। इसप्रकार, यह कहा जा सकता है कि इहलौकिक एवं धार्मिक दोनों मूल्यों की उत्पत्ति समान प्रतिफल में निहित है।

अन्त में, धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया दोनोंका उद्देश्य जीवन में व्यवस्था स्थापित करना है। इहलौकिक प्रक्रिया कार्यों को नियोजित करती है, यह जीवन में किसी भी अव्यवस्था की अनुमति नहीं प्रदान करती। वास्तव में, जो व्यक्ति इमानदारी से इहलौकिक जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा रखता है उसे अव्यवस्था से घृणा हो जाती है। ऐसे व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन व्यवस्थित रूप में कार्य करने के लिए एक व्यवस्था एवं एक दृष्टिकोण से प्रभावित होता है। इसी प्रकार, एक वास्तविक धार्मिक व्यक्ति अपने जीवन मे एक व्यवस्था एवं एक दृष्टिकोण से प्रभावित होता है। इसी प्रकार, एक वास्तविक धार्मिक व्यक्ति अपने जीवन में एक व्यवस्था को अपनाता है तथा असंगति एवं विशीर्णता की शक्तियों के प्रति विमुख हो जाता है। वास्तव में, मानव जाति के इहलौकिक एवं धार्मिक जीवन के सर्वेक्षण से यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्पष्ट होता है कि धार्मिक आस्था हमेशा इहलौकिक जीवन की व्यवस्था में सहायक रही है तथा व्यक्ति के जीवन को एकता प्रदान करने में सफल रही है। इसने कुछ ऐसी हालातों को जन्म दिया है जिनमें व्यक्ति सुरक्षा महसुस करता है तथा अपने को प्रसन्न पाता है। इस रूप में यह कहा जाता है कि धार्मिक आस्था ने मनुष्य के इहलौकिक जीवन में सहायता प्रदान की है। अतः यह कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि धार्मिक आस्था और इहलौकिक प्रक्रिया के बीच का विरोध बाह्य धरातल पर है, दोनों को दो प्रकार से देखने में है, वास्तविकता में दोनों मानव जीवन के विकास में एक दूसरे के सहायक है।

दर्शन विभाग — संजीवन प्रसाद
किसान कॉलेज, सोहसराय,
नालन्दा (मगध विश्वविद्यालय)

## टिप्पणियाँ

१. बी. विल्सन; रेलिजन इन सेक्युलर सोसाईटी, पृष्ठ ११२.
२. वहीं
३. वहीं, पृष्ठ–१४.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# काश्मीर शैव दर्शन में स्वातन्त्र्यवाद

काश्मीर शैव दर्शन[1] में शिव परम स्वतन्त्र सत्ता है तथा सृष्टि शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। सृष्टि करने के लिए शिव बाध्य नहीं है। शिव पर सृष्टि करने के लिए न तो बाह्य बाध्यता आरोपित की जा सकती है और न आन्तरिक बाध्यता ही शिव में हो सकती है। आन्तरिक बाध्यता इसलिए नहीं है क्योंकि शिव पूर्ण है; उसमें कोई कमी नहीं है[2] जिसकी पूर्ति के लिए वह सृष्टि करे। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन में यह माना गया है कि शिव अपने आनन्द के लिए सृष्टि करता है जो शिव का स्पन्द है। सृष्टि करने के लिए शिव पर कोई बाह्य बाध्यता भी नहीं हो सकती क्योंकि शिव का कोई विरोधी तत्त्व नहीं है जो शिव को सृष्टि करने के लिए बाध्य अथवा प्रेरित करे। इस प्रकार बाह्य अथवा आन्तरिक बाध्यता का नितान्त अभाव होने से यही कहा जा सकता है कि शिव यदि सृष्टि न करना चाहें तो सृष्टि नहीं होगी। काश्मीर शैव दर्शन में शिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह किया गया है। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन को स्वातन्त्र्यवाद भी कहा जाता है।

**सृष्टि–प्रक्रिया शिव का स्वरूप–लक्षण नहीं है।**

किन्तु काश्मीर शैवशास्त्र में ऐसे कथन मिलते हैं जिनके कारण स्वातन्त्र्य-के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों के कारण सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप-लक्षण मान लिया जाता है जिससे यह ध्वनित होता है कि सृष्टि करना शिव के लिए आवश्यक है।[3] सृष्टि करने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि सृष्टि शिव द्वारा होती ही रहती है। जबकि वास्तविकता यह है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप-लक्षण नहीं है बल्कि अद्वैत वेदान्त की शब्दावली में कहें तो तटस्थ-लक्षण है। शिव सृष्टि स्वेच्छा से करता है तथा इसे न करने में पूर्णतया स्वतन्त्र है।

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप-लक्षण मानने के कुछ आधार हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। काश्मीर शैव-शास्त्र में शिव को पंचकृत्यकारी[4] कहा गया है तथा पंचकृत्यों की व्याख्या में यह कहा गया है कि पंचकृत्य शिव द्वारा



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्वभावतः होते हैं। इसके आधार पर यह माना जाता है कि शिव स्वभावतः पंचकृत्यकारी है जो सदैव पंचकृत्य करता रहता है। इस कथन से यही ध्वनित होता है कि सृष्टि शिव का स्वाभाविक कृत्य है जो सदैव होता रहता है [५] तथा इसके होने या न होने में शिव का स्वातन्त्र्य निहित नहीं है बल्कि यह शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जिसका संपादित होना आवश्यक है (क्योंकि यह कहा ही गया है कि वह सदैव पंचकृत्य करता रहता है)।

किन्तु पंचकृत्यों को स्वाभाविक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पंचकृत्य स्वरूप में ही अनूस्यूत हैं वरन् यह है कि पंचकृत्यों को संपादित करने में शिव को आयास (effort) नहीं करना पड़ता; ये कृत्य शिव द्वारा अनायास (effortlessly) संपादित होते हैं। पंचकृत्यों को स्वाभाविक कहने में काश्मीर शैव दार्शनिकों का उद्देश्य है पंचकृत्यों को कर्म से अलग करना। सृष्टि शिव की क्रिया है न कि कर्म। यह क्रिया शिव का स्पन्द है जिसमें शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शिव के स्वरूप में केवल अहंविर्शात्मक क्रिया का अनुस्यूत होना मानते हैं जिससे शिव में आत्म-चेतना रहती है। पंचकृत्य अहं-विमर्शात्मक क्रिया नहीं है बल्कि अहमिदम्विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

पंचकृत्यों को स्वभाव इसलिए भी कहा गया है क्योंकि सृष्टि करने में शिव का कोई उद्देश्य नहीं है। जैसे खेलना बच्चे का स्वभाव कहा जा सकता है यद्यपि खेलना उसका स्वरूप-लक्षण नहीं है किन्तु खेलना किसी उद्देश्य से नहीं है इसलिए स्वभाव कहा जाता है; वैसे ही शिव की सृष्टि शिव का स्वभाव है। अद्वैत-वेदान्त में जहाँ स्पष्ट रूप से सृष्टि को ब्रह्म का तटस्थ-लक्षण कहा गया है वहाँ गौड़पादाचार्य ने उपर्युक्त अर्थ में ही भगवान् का स्वभाव कहा है। [६]

सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप-लक्षण मानने का आधार एक यह भी है कि सृष्टि को शक्तिरूप अथवा शक्ति का विकास [७] माना जाता है तथा शक्ति शिव रूप ही है अथवा शिव के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता। [८] ऐसी स्थिति में सृष्टि को शिव का स्वरूप-लक्षण मान लेना स्वाभाविक [९] है किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिकों का सृष्टि को शक्ति का विकास मानने से यह तात्पर्य नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शक्ति के दो स्तर करते हैं। वे चित्-शक्ति और आनन्द-शक्ति को शिव की स्वरूप-शक्ति मानते हैं किन्तु इच्छा, ज्ञान, और क्रिया को शिव की स्वरूप-शक्ति नहीं मानते। इन शक्तियों को केवल शिव की शक्ति कहा गया है। सृष्टि आदि पंचकृत्यों का सम्बन्ध इच्छा, ज्ञान, क्रिया के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उन्मेष और निमेष से है न कि चित् और आनन्द से। चित् और आनंद अहंविमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया अहंमिदम् विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव में नित्य नहीं है। यह शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। इस प्रकार सृष्टि को शक्ति का विकास मानने का तात्पर्य यही है कि सृष्टि शिव की इच्छा-शक्ति का विकास है जो क्रमशः ज्ञान और क्रिया-शक्तियों के रूप में विकसित हो कर प्रकाशित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि को शिव का जो स्वभाव कहा गया है और जिसके आधार पर सृष्टि को शिव का स्वभाव मान लेना स्वाभाविक है उसका यह अर्थ नहीं है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है या शिव के लिए सृष्टि करना आवश्यक है अथवा वह नित्य सृष्टि करते रहने के लिए बाध्य हैं। सृष्टि को शिव का स्वभाविक कार्य कहने का अर्थ इतना ही है कि सृष्टि करने के लिये शिव में कोई कारण अथवा उद्देश्य (motive) नहीं है, वरन् उसका स्वतन्त्र स्पन्द है। यदि शिव नित्य सृष्टि-लीला करता भी हो तब भी यह आवश्यक नहीं कि सृष्टि को शिव की आवश्यक प्रक्रिया (necessary process) माना जाय। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि शिव सृष्टि को हमेशा करता रहता है या नहीं वरन् प्रश्न यह है कि सृष्टि करने के लिए शिव बाध्य है या नहीं अथवा दूसरे शब्दों में, सृष्टि-क्रिया भी चिदानन्द की ही भांति शिव का स्वरूप ही है या नहीं। काश्मीर शैव शास्त्र के समग्र सिद्धान्त को देखते हुए यही मानना उचित होगा कि शिव सृष्टि-विषयक कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र है, सृष्टि करने के लिए वह बाध्य नहीं है और न सृष्टि-प्रक्रिया उसी प्रकार स्वरूप में है जिस प्रकार चिदानन्द है।

**सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार**

काश्मीर शैव-शास्त्र के दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ लक्षण के भेद का विवेचन नहीं किया है, इसी कारण सृष्टि-प्रक्रिया के विषय में भिन्न व्याख्याएँ (Interpretations) संभव हैं। यहाँ जो यह पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है कि सृष्टि-प्रक्रिया शिव का स्वरूप-लक्षण नहीं है वरन् स्वातन्त्र्य है, इसे मानने के लिए शैव शास्त्र में कुछ ठोस आधार हैं, जो निम्नलिखित हैं।

शिव को काश्मीर शैव-शास्त्र में स्पष्ट रूप से बार-बार अनुत्तर कहा गया है।[१०] यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाय तो शिव को अनुत्तर कहने में तार्किक कठिनाई उपस्थित होगी। शिव विश्वमय ही रह जाएगा, विश्वोत्तीर्ण नहीं हो पायेगा क्योंकि शिव में विश्व के नित्य उपस्थित रहने से विश्व इससे परे नहीं कहा जा सकता। यदि शिव केवल विश्वमय ही है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



तो इसका मूल्य जागतिक पदार्थों से अधिक नहीं होगा। किन्तु शिव को विश्वोत्तीर्ण मानना आवश्यक है तथा आगमों एवं काश्मीर शैव-शास्त्र में शिव को अनुत्तर कहा गया है अतः सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य ही माना जाना चाहिए। सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य मानने से शिव को अनुत्तर कहने में कोई तार्किक कठिनाई भी उपस्थित नहीं होती।

काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को पूर्ण स्वतन्त्र [११] सत्ता कहा गया है तथा इस कथन को बार-बार एवं पूरे आग्रह के साथ कहा गया है।[१२] साथ ही सृष्टि कार्य को शिव का स्वातन्त्र्य माना गया है। यह भी कहा गया है कि शिव का स्वातन्त्र्य कभी भंग नहीं होता। [१३] किन्तु यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाय तो काश्मीर शैव-शास्त्र के इन कथनों का कोई मूल्य नहीं रह जायेगा। अतः यही मान्य होना चाहिए कि सृष्टि-प्रलय शिव के स्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है और स्वातन्त्र्य में यह अर्थ निहित है कि शिव सृष्टि न करना चाहे तो सृष्टि नहीं होगी। सृष्टि करना न करना पूरी तरह से शिव की स्वतन्त्रेच्छा पर निर्भर है। किन्तु यदि सृष्टि-कार्य को शिव का स्वरूप-लक्षण माना जाय तो सृष्टि-विषयक स्वातन्त्र्य का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा।

शक्ति का स्तर भेद भी सृष्टि को स्वातन्त्र्य मानने का शास्त्रीय आधार है। चित् आनन्द को स्वरूप-शक्ति कहा गया है किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया को स्वरूप-शक्ति नहीं कहा गया है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया को केवल शक्ति कहा गया है। सृष्टि को इच्छा-शक्ति का ही विकास कहा गया है न कि चित् या आनन्द-शक्ति का।

इसका भी यही अर्थ हुआ कि चिदानन्द शिव के नित्य स्वरूप में है और इच्छा, ज्ञान, क्रिया उसकी स्वातन्त्र्य-क्रिया है। चिदानन्द के स्तर पर जो शक्ति या क्रिया होती है वह केवल अहंविमर्शरूप (self-consciousness, 'I am') है, यह उसका स्वरूप-लक्षण होने से शिव में नित्य ही रहेगा; दूसरे शब्दों में, शिव सृष्टि करे अथवा न करे अहंविमर्श उसमें नित्य रहेगा। अहंविमर्श स्वरूप-वाली क्रिया या शक्ति शिव के विरहित होने का कोई प्रश्न नहीं होता, किन्तु इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाली शक्ति का स्वरूप अहंमिदम्विमर्श (I am this) रूप है जो तभी होता है जब कि शिव सृष्टि करता है। इसी का प्रतीक शिव का नटराज रूप है। शिव जब सृष्टि-प्रक्रिया से रहित हो कर केवल अपने स्वरूप में स्थित रहता है (जिसका प्रतीक शाम्भवी मुद्रा है) तो उस समय अहंमिदम्विमर्श नहीं रहता, वरन् केवल अहंविमर्श रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि शक्ति अथवा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



विमर्श के दो स्तर मानना परमावश्यक है। शक्ति के इस स्तर-भेद को न मानने से भ्रांति (confusion) हो सकती है।

**स्वातन्त्र्य के भेद**

सामान्यतया स्वातन्त्र्य के दो भेद किए जाते हैं। एक सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) तथा दूसरा क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to)। काश्मीर शैव-दर्शन में शिव में दोनों प्रकार के स्वातन्त्र्य का होना माना गया है। अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म में केवल सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) मानता है; क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) नहीं मानता। यह सम्भवतः इसलिए नहीं माना गया है कि क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) मानने से ब्रह्म में अपूर्णता आ सकती है। किन्तु काश्मीर शैव-दर्शन में शिव में सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) और क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) दोनों ही माने गये हैं क्योंकि काश्मीर शैव-शास्त्र के अनुसार दोनों में वस्तुतः कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का सम्बन्ध कर्म से नहीं है बल्कि क्रिया से है जो अपूर्णता का द्योतक नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ यदि कर्म-स्वातन्त्र्य से लिया जाय तब उसका सत्ता-स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से विरोध हो सकता है, जैसा कि सम्भवतः अद्वैत-वेदान्त मानता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) का अर्थ कर्म-स्वातन्त्र्य से नहीं अपितु क्रिया-स्वातन्त्र्य से है अतः इसका सत्ता स्वातन्त्र्य (Freedom-from) से कोई विरोध नहीं है। क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) ही तो स्वातन्त्र्य का असली अर्थ है। यदि शिव में सृष्ट्यादि कर्म करने का स्वातन्त्र्य नहीं है तो शिव के संदर्भ में स्वातन्त्र्य शब्द का प्रयोग करना औपचारिकता मात्र ही होगी।

**स्पन्द-सिद्धान्त**

काश्मीर शैव दर्शन में शिव का यह क्रिया-स्वातन्त्र्य काश्मीर शैव शास्त्र का स्पन्द-सिद्धान्त [१४] है। सामान्यतः समस्त मानवीय क्रियाओं को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वह जो ऐच्छिक (Voluntary or volitional) होता है, उसमें कर्ता को प्रयास या आयास (effort) करना पड़ता है। इसी को कर्म कहा जाता है। दूसरा वह जिसमें कर्ता को आयास नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास (effortless or automatic) होता है। इस अनायास क्रिया को पुनः दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक (mechanical) होते हैं जैसे स्वसन् क्रिया या सहज-क्रिया (Reflex action) आदि। दूसरे वह जो अनायास होते हैं किन्तु यान्त्रिक नहीं होते वरन् उसमें कर्ता का स्वातन्त्र्य बना रहता है जैसे आनन्द में उत्थित क्रिया। काश्मीर शैव दर्शन में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



इसी को शिव का क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) कहा गया है जिसका पारिभाषिक नाम स्पन्द (Spontaneity or spontaneous activity) है।

इस स्पन्द की तीन-चार विशेषताएँ हैं जो शिव के क्रिया-स्वातन्त्र्य (Freedom-to) को एक ओर कर्म से तथा दूसरी ओर यान्त्रिक क्रिया से भिन्न करती हैं। स्पन्द में इच्छा-शक्ति (will) को आयास (exert) नहीं करना पड़ता, वरन् यह अनायास स्वाभाविक रूप से होता है। दूसरे, उसमें कर्ता की बाध्यता नहीं होती, कर्ता उसे चाहे तो नहीं होने दे सकता है; इसलिए स्पन्द को स्वातन्त्र्य कहा जाता है। तीसरे, कर्ता को क्रिया का ज्ञान रहता है, यान्त्रिक-क्रिया जैसा अज्ञान नहीं रहती। चौथे, स्पन्द में आनन्द की अनुभूति होती है; वस्तुतः स्पन्द आनन्द का ही स्वाभाविक उच्छलन (Overflowing or emanation) है।

स्पन्द को आनन्द का सहज उच्छलन माना जाता है तथा सृष्टि को भी आनन्द का सहज उच्छलन ही कहते हैं।[१५] यहाँ यह भ्रान्ति हो सकती है कि सृष्टि शिव के स्वरूप में ही है। क्योंकि शिव का स्वरूप ही आनन्द है तथा आनन्द का सहज उच्छलन ही सृष्टि है। किन्तु सृष्टि शिव के स्वरूप में नहीं है क्योंकि आनन्द के इस उच्छलन में शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। सृष्टि को आनन्द का सहज उच्छलन कहने का तात्पर्य यह है कि शिव अपने आनन्द के लिए ही सृष्टि करता है; उसमें शिव का कोई प्रयोजन निहित नहीं है। आनन्द का यह उच्छलन शिव के स्वरूपानन्द से ही होता है किन्तु उसमें शिव का स्वातन्त्र्य है।

शिव की इच्छा ही सृष्टि रूप में प्रकाशित होती है।[१६] काश्मीर शैव-शास्त्र के इस कथन से सामान्यतया यही अर्थ लगाया जाता है कि सृष्टि अव्यक्त रूप में शिव में नित्य विद्यमान रहती है।[१७] किन्तु शिव में सृष्टि का नित्य होना (पूर्वस्थिति) नहीं माना जा सकता क्योंकि तब सृष्टि का प्रकाशन होना आवश्यक होगा तथा ऐसी स्थिती में शिव का स्वातन्त्र्य नहीं होगा। अतः शिव की इच्छा के ही सृष्टिरूप धारण करने का तात्पर्य यह नहीं है कि सृष्टि अव्यक्त रूप से शिव में नित्य रहती है, बल्कि इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि सृष्टि किसी बाह्य उपादान से निर्मित नहीं है; यह शिवेच्छा से ही निर्मित है।

शिव की सिसृक्षा शिव के स्वरूप में ही उद्भूत होती है किन्तु शिव के स्वरूप में आवश्यक रूप से अनुस्यूत नहीं है। शिव की सिसृक्षा भी स्पन्द रूप है। इसका उत्थित होना शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि शिव में जो सृष्टिविषयक इच्छा है, वह यद्यपि अंग्रेजी भाषा में प्रयुक्त होने वाले ऐच्छिक कर्म (Voluntary action) जैसा प्रतीत होती है किन्तु यह अंग्रेजी वाला ऐच्छिक कर्म नहीं है क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



शिव को आयास (exert) नहीं करना पड़ता, वरन् इच्छा स्वाभाविक रूप से अनायास शिव में उत्थित होती है। अतः यह शिव की स्पन्दात्मक इच्छा या संकल्प (spontaneous willing) है न कि ऐच्छिक कर्म (Voluntary action) है। स्पन्दात्मक इच्छा (Spontaneous willing) कहने में विरोधाभास (paradox) दीख सकता है किन्तु इसमें कोई वास्तविक विरोध नहीं है। शिव में सृष्टि की इच्छा उठती है इसलिए इसे इच्छा या संकल्प नाम दिया जाता है। किन्तु चूँकि यह संकल्प स्वाभाविक रूप से अनायास उठता है, इसलिए इसको स्पन्द कहा जाता है। तार्किक दृष्टि से ऐसा मानना संगत है कि मन में संकल्प अपने आप रूप में उठता है। अतः "स्पन्दात्मक संकल्प" (Spontaneous willing) कहने में कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि को शिव का स्वभाव कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। एक दृष्टि से तो सृष्टि-प्रक्रिया को शिव का स्वरूप भी कहा जा सकता है क्योंकि जो कुछ हो रहा है वह स्वरूप में ही तो हो रहा है, स्वरूप के बाहर कुछ भी नहीं है। हाँ, स्वरूप-शक्ति और शक्ति का स्तर-भेद करने की आवश्यकता तब पड़ती है जब हम इस प्रश्न को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि सृष्टि शिव का आवश्यक कार्य (necessary action) है या नहीं। यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ती है कि सृष्टि शिव का आवश्यक कार्य नहीं है और इस अर्थ में सृष्टि उसका स्वरूप नहीं है।

शोध-छात्र,
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ. प्र.)

— कैलासपती मिश्र

## टिप्पणियां

१) काश्मीर शैव दर्शन से हमारा तात्पर्य "प्रत्यभिज्ञा दर्शन" से है।

२) स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्द रूपो। शि. दृ. वृ. पृ. ६.

३) यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम् ॥ क्षेमराज (पराप्रा.)

४) एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः।
विचित्रान्सृष्टि संहारान्विधत्ते युगपद् विभुः ॥
—बोधपंचदशिका, श्लोक ६.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



५) अतएव प्रतिक्षणं प्रमातृसंयोजनावियोजनावैचित्र्येण परमेश्वरो विश्वं सृष्टि संहारादिना प्रपंचयति ।

–ई. प्र. वि. भा. । प्र. १९५.

६) देवस्यैष स्वभावोयमाप्तकामस्य का स्पृहा ।

–माण्डूक्य कारिका । १/९

शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।

–तंत्रालोक भा ३, आ. ५/४०

८) तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः ।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एवं तथा तथा । –शि. दृ. आ. ४/५

९) यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्त रूपर्थं तत्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते । महेश्वरानन्द, महार्थमंजरी.

१०) न सन्न चासत्सदन्न च नोभयोज्झितम् ।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम् ।। –तंत्रालोक, २/२८.

११) ई. प्र. वि भा. १०, पृ. १४.

१२) तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत् । –तंत्रालोक १/१३६

१३) नहि तस्य स्वतंत्रस्य कापि कुत्रापि खण्डना ।

–तंत्रालोक, २/४७.

१४) श्री भगवतः स्वातन्त्र्यं शक्तिः किंचिच्चलत्तात्मकधा त्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता ।

–स्पन्द निर्णय, पृ. ३.

१५) स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्, विश्वमामृशतिरूपमामृशन् यत्स्वयंनिजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम् । –शिवस्तो. १३–१५.

१६) यदेतदाभासनं यासाविच्छा, सा क्रिया, अस्य भगवतोनिर्मातृत्वम ।

– भास्करी, भा. २ । ४ श्लोक १.

१७) परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्भूतं निर्मातव्यमभेद कल्पे नास्ते ।

– ई. प्र. वि. भा. २, पृ. १८१.

१८) स्पन्द निर्णय, पृ. ३.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# विचारधारा और सामाजिक संघर्ष

मंदिरों में मूर्तियाँ होती हैं और उनका मानव-समाज के एक बड़े भू-भाग पर प्रभाव पड़ता है, किन्तु सच्चाई तो यह है कि ये मूर्तियां विचारों के प्रतीक होते हैं, जो भले ही अदृश्य हों लेकिन हमारे जीवन को भयानक रूप से प्रभावित और नियंत्रित करते हैं। हम भी इन विचारों के आगे समर्पित हो जाते हैं। असल में, भाव ही दुर्गा है, दियार ही परमेश्वर है। विचार विश्व का नियामक और नियंत्रक है। विचार ही सभ्यता और संस्कृति के उन्नायक और सामाजिक क्रान्ति के जनक होते है। इसलिए कहा गया है कि विचारों की आवाज तोपों से अधिक भयानक होती है और उसमें परमाणु बम से भी प्रबलतर शक्ति होती है। विचार-शक्ति सैन्य-शक्ति से अधिक महान् है। विचार का विजय-रथ अश्वारोहियों या आधुनिक टैंको से भी अधिक द्रुतगामी और स्थायी होता हैं। जिस युद्ध के पीछे किसी विचारधारा का बल नहीं रहता है, वह अंततोगत्वा पराजय को प्राप्त होता ही है साथ-साथ वह केवल नृशंसता का पर्यायवाची रहता है। हमें जो विचार प्राप्त होते हैं उसी के आचार पर हम अपना जीवन और समाज का निर्माण करते हैं। जिस प्रकार कठोर पाषाण को हृदय विदीर्ण कर जल की धारा प्रवाहित होती है उसी प्रकार विचारधारा भी बिना किसी कोलाहल के समाज के गहन अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों को छेद कर समाज में नया प्रकाश एवं नयी प्रेरणा देते हैं। इस मानी में विचारधारा समाज का दर्पण होता है।

मनुष्य विचारशील प्राणी है और विचार ही उसकी सर्वश्रेष्ठ धरोहर है। हाँ, यह अक्सर कहा जाता है कि विचारशील हो कर भी यथार्थ में मानव विवेक और तर्क से सप्ताह के केवल एक दिन ही काम लेता है। शेष दिनों में वह अपने भाव, संवेग, उद्वेग, पूर्वाग्रह आदि से ही प्रभावित हो कर कार्य करता है। लेकिन फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि व्यक्ति के अपने जीवन और विचारधारा की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसीलिए सामाजिक संगठन या विघटन, समाज-परिवर्तन या समाज-संघर्ष

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ३, जून, १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



में सामाजिक-आर्थिक राजनैतिक कारणों के अलावा मनोवैज्ञानिक और वैचारिक तत्त्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। मानव की क्रियाओं और व्यवहारों के पीछे हमारी मूल्य प्रवृत्तियाँ और स्वाभाविक वृत्तियाँ भी रहती हैं। मानव-समाज के निर्माण, संरक्षण और विकास में झुंड में रहने की मूल प्रवृत्ति का महत्व मान्य ही है। यह कहना शायद अधिक सही होगा कि मानव-समाज किसी कृत्रिम सामाजिक-प्रसंविदा पर नहीं अपितु मानव की स्वाभाविक सामान्य वृत्ति पर आचारीत रहता है। इसके अतिरिक्त नेतृत्व एवं समर्पण और अनुसरण या दूसरे शब्दों में प्रभुत्व की आकांक्षा और आज्ञापालन की भावना भी सामाजिक जीवन का आधार बनता है। हाब्स ने भय को सामाजिक जीवन का आधार मान कर भरसक गलती की है। आधुनिक मनोविज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि सामाजिक व्यवस्था के लिए ही लोग स्वाभाविक रूप से मिलजुल कर रहते हैं। अतः समाज एक प्रकार के मुक्त-अनुशासन (Free discipline) से चलता है। इसके अतिरिक्त सामाजिकता प्रदान करनेवाली अन्य मूल्य प्रवृत्तियाँ भी हैं, जैसे– सुरक्षात्मक प्रवृत्ति, सृजनवृत्ति, आक्रामकता, प्रभाव डालने की आकांक्षा आदि। ये सभी वृत्तियाँ किसी न किसी रूप में मानवीय व्यवहार को नियंत्रित एवं मर्यादित करते हैं। लेकिन जहाँ सहज सहानुभूति की भावना सामाजिकता के मूल्य में है, वहाँ "अहं" की भावना पृथकत्व और "क्रोध" असामाजिकता पैदा करते हैं।

मूल प्रवृत्तियों के समाजीकरण में शिक्षा और वातावरण का प्रमुख योगदान है। जापान– जर्मनी में शिक्षा का सैन्यीकरण (militarisation of education) किया गया जिसके गर्भ से ही फासिस्टवाद एवं नात्सीवाद का जन्म हुआ। इसलिए हमें यह मानना होगा कि शिक्षा वातावरण को भी निमंत्रित करती है। (Education is directed and controlled environment.) ब्रिटिश शासन में पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन से यह लगता था कि 'भारतीय धर्मनिष्ठ एवं एवं अंध विश्वासी होते हैं,' 'हिन्दु-मुसलमानों का बैर शाश्वत रहेगा,' और 'अंगरेजी शासन की बदौलत ही समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था है।' यह ठीक है कि वातावरण के माध्यम से ही सामाजिक वृत्तियों का उदात्तीकरण सम्भव है। उसी तरह सामाजिक संस्कार, धार्मिक पर्व और समारोह एवं नैतिकता के नियमों का भी पुनर्गठन किया जा सकता है।

समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो अपने सामान्य सामाजिक स्तर से उँचा उठने की क्षमता रखते हैं जिससे महात्मा या मुसोलिनी, लिंकन या हिटलर का आविर्भाव होता है। किन्तु हर महात्मा या मुसोलिनी के लिए सैकड़ों-हजारों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



व्यक्तियों को सामाजिक शोषण और उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। असल में समाज अपने सामान्य निर्जीव धरातल से उठनेवाले व्यक्तियों के मार्ग में भयानक अवरोध उपस्थित करता ही है।

यहीं पर व्यक्तिगत और सामाजिक विचारधारा का संघर्ष शुरू होता है। जब समष्टि की विचारधारा युगानुकूल नहीं होती तो व्यक्तियों में भयंकर असंतोष उत्पन्न होते हैं एवं अपसमायोजना की समस्या उत्पन्न होती है। फिर सामाजिक संघर्ष समूह की उन वृत्तियों के कारण भी पैदा होता है जो समष्टि की विचारधारा के विरुद्ध होती हैं। कभी-कभी समष्टि की विचारधारा उनके सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर या उनके नैतिक-बौद्धिक स्तर से काफी उँची होती है और समूह उस विचारधारा को अंगीकार करने की स्थिति में नहीं रहता है। उदाहरण स्वरूप, चीनी यात्री फाहियान द्वारा वर्णित तत्कालीन भारतीय समाज की कल्पना कीजिए जहाँ चोरी का नाम नहीं था और लोग अपना घर-द्वार खुला छोड़ देते थे। यदि तत्कालीन समाज में 'अस्तेय' की भावना दृढ़ नहीं होती तो यह असंभव था।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक-संघर्ष के मूल में ओडिपस कम्प्लेक्स की अभिव्यक्ति मानी जाती है जिसके कारण बच्चे के अचेतन में अपने पिता के प्रति घृणा का भाव, समाज, शासन, जाति एवं संस्था सब के लिए आक्रोश में परिवर्तित हो जाता है। असल में पिता पिता के रूप में नहीं बल्कि तत्कालीन संस्था, समाज-व्यवस्था एवं शासन का प्रतीक होता है, जिसके प्रति विद्रोह की भावना जागृत होती ही है। राष्ट्र के स्तर पर दीर्घकालीन हीनता की भावना से भय का उद्रेक होता है जिसके कारण सामाजिक सुरक्षा एवं शान्ति को खतरा हो जाता है।

उपरोक्त मनोवैज्ञानिक कारणों के सिवाय बहुत सारे समाजशास्त्रीय कारण भी होते हैं जिनके कारण विचारधाराओं का संघर्ष होता है। सामाजिक संगठन के आधारभूत तत्त्वों में "**सहयोग**" और "**भय का अभाव**" माना जा सकता है। जिनसे हमारे जान-माल-इज्जत को खतरा हो सकता है, उनके साथ हमारा मैत्री या सहयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार अत्यधिक स्वार्थपरता से भी सामाजिक संगठन को मदद नहीं मिल सकती। सहानुभूति, उदारता, त्याग आदि के बिना सामाजिकता संरक्षित नहीं रह सकती। जब व्यक्तिगत भोग और छोटे-छोटे क्षुद्र अनुमात्रिक स्वार्थ का आधिक्य हो जाता है तो विभेद, विघटन और संघर्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। राजनीति में दुश्मन का दुश्मन दोस्त कहा जाता है लेकिन सामान्य नियम है कि प्रेम हमें एक करता है और घृणा सामाजिक जीवन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



को जोड़नेवाली प्रक्रिया को कमजोर करती है। इसलिए तटस्थता या उदासीनता तथा विरोध या घृणा की वृत्तियाँ सामाजिकता के लिए बाधक हैं।

विदेशी संस्कृतियाँ जब मैत्री के भाव से आती हैं तो फिर परस्पर आदान-प्रदान चलता है लेकिन जब वे विजेता बन कर अमैत्रीभाव से आती हैं तो सामाजिक संघर्ष अवश्यम्भावी ही हो जाता है। जो समाज अत्यधिक अनुदार एवं परम्परावादी होता है, वह नये आदर्शों, मूल्यों और व्यवस्थाओं के साथ अपने को अभियोजित नहीं कर पाता, फलस्वरूप नयी समस्याओं और नयी प्रतीतियों का सामना नहीं कर पाने के कारण समाज में संघर्ष पैदा होता है। इसीलिये परम्परा और प्रगति के बीच समन्वय नहीं करनेवाला समाज विघटन की ओर अग्रसर होता है। किसी भी समाज पर अपनी प्राचीन वंश-परम्परा का अधिक प्रभाव रहता ही है और वह परदेशी संस्कृति की आक्रमता का विरोध करता है। मानसिक जड़ता तथा नवीन और अज्ञात के प्रति भय एवं आशंका के कारण अपनी ही परम्पराओं और विश्वासों से जुड़ा रहना पसन्द करता है। हाँ, जिनको विदेशी संस्कृति से किसी प्रकार का भौतिक लाभ या कोई पद या प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, वह अवश्य उसकी तरफदारी करता है। लेकिन जो सामाजिक रूप से दबा हुआ रहता है या वर्ग-जाति आदि के भेदभाव से ग्रासित रहता है, वह अपनी परम्परा को भी आसानी से छोड़ देता है। उँच-नीच के अनेकानेक भेदभाव से परिपूर्ण शोषित और दलित हिन्दू समाज का धर्मान्तरण भी इस तरह समझा जा सकता है। धर्म परिवर्तन भी सामाजिक संघर्ष का कारण बनता है क्योंकि एक ओर तो धर्मान्तरण धर्म के स्वाभिमान पर चोट है, दूसरी ओर नये धर्मावलम्बी अपने नये धर्म के प्रति आवश्यकता से अधिक वफादारी दिखाने के मोह में अपने परित्यक्त धर्म के प्रति आक्रामक एवं घृणात्मक रवैया अपना कर सामाजिक संतुलन को चोट पहुँचाते हैं। जहाँ धर्म परिवर्तन लोभ, लालच, चोखा-घड़ी या बल-प्रयोग से होता है, वहाँ प्रतिशोध की भावना जन्म लेती है और यह सामाजिक संघर्ष को प्रचय देता है।

जैसा हम पूर्व विवेचन कर आये हैं, सामाजिक संघर्ष में शिक्षा का भी निर्णायक स्थान है क्योंकि शिक्षा के माध्यम से हम अपने समाज की प्रचलित विचारधारा एवं व्यवस्था की खामियों को जानते हैं तथा कभी-कभी हमें यह भी भान हो जाता है कि उन्हें दूर करने का कोई शान्तिमय साधन नहीं है। निहित स्वार्थ की पकड़ इतनी मजबूत दिखायी देती है कि उसके लिये हमें कठोर संघर्ष ही एक मात्र रास्ता दिखायी देता है।

किसी भी समाज की व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह जरूरी है कि यहाँ के सामाजिक जीवन के प्रति असंतोष कम से कम हो। किसी भी समाज-संगठन की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



गतिशीलता ही उसको जीवन्त रख सकती है। जो समाज परीवर्तनशील विश्व-व्यवस्था के अनुरूप समुचित गति से अपने को अभियोजित नहीं कर सकेगा, फिर वहाँ विनाशकारी सामाजिक संघर्ष एवं विघटन पैदा होंगे ही।

सामाजिक संघर्ष के मुख्यतः तीन प्रकार के कारण हो सकते हैं-

क) सामाजिक जीवन पर विचारधारा का प्रभाव एवं प्रतिक्रिया
ख) शोषण
ग) वर्ग-संघर्ष

विचारधारा की प्रतिक्रिया के अनेक रूप होते हैं। विचारधारा के पीछे कोई निश्चित दार्शनिक दृष्टि भी हो सकती है। जैसे, विश्व के प्रति भौतिकवादी दृष्टि शाश्वत मूल्यों का निषेध करती है। शायद इसीलिये जे. पी. ने एक विचार उछाला था– कि 'भौतिकवाद से साधुता को प्रश्रय नहीं मिल सकता।' भौतिक-वादी विचारधारा माननेवालों के लिए समाज विभिन्न अवयवों का एक यांत्रिक योग है अतः उसमें 'दायित्व', 'कर्तव्य', या 'आदर्श' आदि निरर्थक है। इसी-लिये यदि भौतिकवादी विचारधारा का समाज के मानस पर प्रभाव होगा तो पूर्ण सामाजिक एवं नैतिक अराजकता होगी।

उसी तरह यदि फ्रायड के अखिल काम-मनोविज्ञान या भगवान रजनीश के 'काम-अध्यात्म' या 'संभोग से समाधि' की विचारधारा का समाज के मन पर आधिपत्य होगा तो निश्चय ही ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह, आदि नैतिक मूल्यों को जलांजलि दे कर एक नैतिक अराजकता की स्थिति पैदा हो जायेगी। इतिहास की आर्थिक व्याख्या की विचारधारा यदि समाज के मानस पर हावी हो जायगी तो जीवन के उदात्त मूल्यों की शृंखला बिखर जाएगी। लेकिन यदि मान लीजिए इतिहास को आर्थिक व्याख्या के साथ फ्रायड-रजनीश का सर्वकामवाद जुड़ जाएगा तो सर्व-नाश ही मानिये। हम दूसरे क्षेत्र से भी उदाहरण ले सकते हैं। दहेज की कुत्सित प्रणाली को लें। जिस विचारधारा में विवाह एक आर्थिक व्यवसाय हो जाय या विवाह को एक वैज्ञानिक वेश्यावृत्ति तथा मातृत्व को एक दुखद परम्परा मान लिया जाय वहाँ की स्थिति का हम स्वतः अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति के मूल में हमारा व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थ एवं कुछ पूर्वाग्रह ही रहते हैं।

यही असामाजिकता और अपराध-कर्म को भी जन्म देते हैं। यदि देखा जाय तो असामाजिक व्यक्ति एवं अपराध-कर्मी के बीच की विभाजन रेखा अत्यन्त क्षीण होती है। असामाजिक व्यक्ति नवीन विचारों को समाज के समक्ष उघालता है जबकि अपराध-कर्मी उन दुष्प्रवृत्तियों को व्यवहार में उतारता है। उसी प्रकार समाज-सुधारक और असामाजिक कहे जानेवाले व्यक्तियों में भी एक समानता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



होती है। समाज-सुधारक भी समाज की स्थापित परम्पराओं, रीति-रिवाजों के प्रति विद्रोह करता है, अतः प्रारम्भ में वे भी असामाजिक, यहाँ तक कि अपराध-कर्मी की तरह माने जाते हैं। इतिहास साक्षी है कि सुकरात, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, गांधी आदि महान् नैतिक प्रतिमाओं को नये विचारों को लाने के लिए कितना उपहास, उपेक्षा, उत्पीड़न और दंड सहना पड़ा। असल में मानव स्वभाव से कुछ अनुदार ही होता है, इसलिए वह अपनी जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं से चिपका रहने में ही सुरक्षा अनुभव करता है और नये विचारों के प्रति प्रतिरोधात्मक भाव बना लेता है। अपराध-कर्मी एवं समाज-सुधारक में यही अन्तर है कि जहाँ अपराध-कर्मी सदा अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थ की सीमाओं में कैद रहता है, समाज सुधारक के सामने व्यापक आदर्श एवं लोकसंग्रह की भावना रहती है।

कभी-कभी ऐसी विचारधारा भी हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जिसके कारण सामाजिकता का ह्रास होता है। भगवान बुद्ध ने "संघ" की स्थापना कर "भिक्षु" परम्परा का निर्माण किया। प्रभु ईसा मसीह ने भी "भिक्षु" "भिक्षुणियों" का विधान किया जो आजन्म अविवाहित रहने का व्रत लेते थे। इससे गार्हस्थ्य पर अवस्थित सामाजिकता की उपेक्षा हुई एवं धार्मिकता-आध्यात्मिकता के साथ सामाजिक-जीवन का विरोध-भाव सामने आया। लेकिन ऐसी विचारधारा को हिन्दू धर्म में अस्वस्थ माना गया है। इसलिए सन्यास की व्यवस्था चतुर्थ आश्रम में दी गयी है। कर्म का परित्याग कर मोक्ष भी नहीं मिल सकता है– "न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।" यही लोक-संग्रह की भावना है। उपनिषद् भी "कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविशेत् शतं समा" की बात करती है।

सामजिक संघर्ष का दूसरा कारण शोषण की विचारधारा है जिसके अनेक रूप हैं– आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि। यह भूल है कि केवल मालिक ही मजदूर का शोषण करता है, अवसर आनेपर मजदूर भी मालिक का शोषण करने से नहीं चूकता। जो हो, शोषण के क्रम में शोषक शोषित के व्यक्तित्व के साथ खिलवाड़ करता है। व्यक्ति साध्य नहीं, साधन बन जाता है। यही कारण है कि शोषण के कारण समाज-संघर्ष को गति मिलती है। शोषक-शोषित के बीच ऐसा कटु सम्बन्ध बन जाता है कि वे दोनों भूल जाते है कि दोनों एक ही समाज-व्यवस्था के अंग हैं और दोनों का लक्ष्य एक ही है, जो दोनों के परस्पर सहयोग एवं सहानुभूति से ही समृद्ध हो सकती है।

शोषण वर्ग-संघर्ष और जाति-संघर्ष को जन्म देता है। प्रत्येक समाज का एक समान हित होता है। इसलिए यदि वर्ग-संघर्ष होता है तो उसके समानहित सिद्धि में बाधा होगी। यदि समाज का हर वर्ग एक दूसरे से संघर्ष की स्थिति में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



आ जाय तो सामाजिक-जीवन का हर तन्तु टूट जायगा। हाल के साम्प्रदायिक एवं जातिगत दंगों में हम यह देख चुके हैं। इस प्रकार के सामजिक संघर्ष में किसी वर्ग या जाति का लाभ नहीं होता है। सभी कष्ट, भय एवं अविश्वास का जीवन जीते हैं। जाति एवं सम्प्रदाय भी वर्ग के रूप हैं, केवल वे पूर्णतः व्यावर्तक होती हैं। इसलिए उनका प्रेम, सहानुभूति, उदारता जाति या सम्प्रदाय विशेष की मर्यादाओं से सीमित रहता है। जातिवाद या सम्प्रदायवाद से केवल सम्बद्ध जाति या सम्प्रदाय का ही अहित नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन पीछे चला जाता है। इन दोनों के निवारण के लिए रोटी-बेटी का सम्बन्ध ही आवश्यक है। वरना राष्ट्र का विखंडन हो सकता है।

वर्ग-संघर्ष की विचारधारा भी अनेक दृष्ट संभावनाओं से भरी हुई है। वर्ग-संघर्ष से वर्ग-निराकरण तक पहुँचने का रास्ता तार्किक रूप से असंगत एव व्यावहारिक रूप से खतरनाक है। संघर्ष से संघर्ष ही उत्पन्न होगा। यही कारण है कि हिंसा-प्रतिहिंसा का चक्र समाप्त नहीं होता। अतः वर्ग-निराकरण के लिए भी कोई दूसरा विकल्प ढूंढ़ना होगा। कम से कम प्रचलित हिंसा की मान्यता तो काल बाह्य हो चुकी है। गांधी ने इसलिए सत्याग्रह के रूप में युद्ध का नैतिक विकल्प सामने रखा और जयप्रकाशजी ने अहिंसक वर्ग-संघर्ष का विचार हमारे सामने रखा था। आण्विक युग में हमारे सामने "अणु" का एक ही विकल्प है– "अहिंसा"।

दर्शन विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर (बिहार)

– रामजी सिंह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# सत्तामूलक तर्क और धार्मिक विश्वास

**प्रस्तावना**

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य सत्तामूलक तर्क और उसमें अन्तर्निहित धार्मिक विश्वास का समीक्षात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। ईश्वर-विज्ञान का इतिहास बौद्धिक तर्क के द्वारा ईश्वरीय आस्तित्व को स्थापित करने के असंख्य प्रयासों से भरा हुआ है। सत्तामूलक तर्क इसी प्रयास का एक विशिष्ट उदाहरण है। मध्य-युगीन दार्शनिक सन्त एन्सेल्म ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तक **प्रोसोलीजियम** में इस तर्क को इसके शास्त्रीय रूप में प्रस्तुत किया। मध्य-युग धार्मिक अन्वेषण का युग माना गया है। यहूदी-ईसाई परम्परा ही इस युग का मुख्य धर्म है। एन्सेल्म अपने युग विशेष की धार्मिक विचारधारा से प्रभावित हैं। इसीलिए सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादन में भी उनका दृष्टिकोण यहूदी-ईसाई परम्परा की धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित है। पर, ईश्वरीय अस्तित्व के लिए तर्क और धार्मिक विश्वास में स्पष्ट विरोधाभास परिलक्षित होता है। एक ओर तो तर्क के माध्यम से ईश्वरीय अस्तित्व की चर्चा को तार्किक रूप देने का प्रयास किया जा रहा है तो दूसरी ओर धार्मिक विश्वास इसी ईश्वर में पूर्ण आस्था को प्रकट करता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या एन्सेल्म उपर्युक्त विरोधाभास के संदर्भ में अपने मत-विशेष की संरक्षा कर सकते हैं ?

**स्वरूप**

सत्तामूलक तर्क प्रागनुभविक तर्क का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें मात्र ईश्वर-प्रत्यय के विश्लेषण के आधार पर ईश्वरी अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। यह तर्क अपने आधार वाक्य के रूप में किसी ऐसे प्रकथन को स्वीकार नहीं करता जो वस्तुओं के सम्बन्ध में अनुभवमूलक (इम्पेरीकल) सूचना देता हो। सत्तामूलक तर्क कुछ संप्रत्ययों के अर्थ विश्लेषण पर ही पूर्णतः आश्रित है। इस विशेष संप्रत्यय के बोध के लिए कुछ विशिष्ट निरीक्षित तथ्यों की



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अपेक्षा रखना अनिवार्य नहीं। इसके लिए मात्र इसके आधारवाक्यों में अन्तर-ग्रसित विभिन्न संप्रत्ययों के अर्थ का पूर्वाभास ही अनिवार्य है। सार-रूप में सत्ता-मूलक तर्क का मुख्य मन्तव्य यही है कि यदि किसी व्यक्ति को इस तर्क के आधार-वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न वैध संप्रत्ययों का स्पष्ट बोध है, तो 'ईश्वर अस्तित्ववान् है' प्रकथन निष्कर्ष के रूप में अनिवार्यतः अनुगमित होगा। संक्षेप में सत्तामूलक तर्क का रूप यही है कि एक पूर्ण सत्ता का अस्तित्व है, क्योंकि पूर्ण सत्ता के संप्रत्यय में ही उसका अस्तित्व भी सन्निहित है। यदि कोई व्यक्ति ईश्वरीय अस्तित्व के बारे में पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं है तो उसके लिए इस प्रकार का अभिकथन विश्वसनीय नहीं होगा। स्पष्टतः सत्तामूलक तर्क के मूल स्वरूप को तभी समझा जा सकता है जबकि हम उसके आधार वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न संप्रत्ययों के अर्थ से पूर्व परिचित हों।

### एन्सेल्म का सत्तामूलक तर्क

**प्रोसोलीजियम** में सत्तामूलक तर्क का निरूपण करते हुए एन्सेल्म ने कहा है कि "ईश्वर का विचार ही ईश्वर की सिद्धी करता है। हम ईश्वर को पूर्ण रूप से जानते हैं। इस पूर्ण विचार का कारण अपूर्ण मनुष्य नहीं हो सकता। अतः पूर्ण विचार का कारण पूर्ण ईश्वर ही है। ईश्वर विचार से ही ईश्वर की सिद्धि होती है।"[1] एन्सेल्म के उपर्युक्त विचार को निम्नलिखित रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है–

### बृहत् वाक्य

ईश्वर वह है जिससे अधिक पूर्ण का विचार अकल्पनीय है।

### लघु वाक्य

जिससे अधिक पूर्ण का विचार अकल्पनीय है, वह अवश्य विचार और वास्तविकता दोनों में सत् होगा।

### निष्कर्ष

इसलिए ईश्वर मात्र विचार में नहीं वरन् वस्तुजगत् में भी सत् है। उपर्युक्त परिभाषा में ईश्वर-विचार से ही ईश्वरीय सत्ता सिद्ध की गयी है। एन्सेल्म अपने विचार को 'ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर किसी अन्य सत्ता का विचार अकल्पनीय है' के रूप में सूत्रित किया गया है। एन्सेल्म इसी सूत्र के द्वारा पूर्ण सत्ता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं। इस मूल सूत्र में बृहत्तर पद महत्वपूर्ण है। 'बृहत्तर' पद को गुणात्मक और मात्रात्मक इन दो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है। गुणात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि 'क' 'ख' से अधिक बुद्धिमान है या 'क' 'ख' से अधिक सुन्दर है। इसी प्रकार मात्रात्मक रूप में कहा जा सकता है कि 'क' 'ख' से अधिक धन है या 'क' 'ख' से अधिक धनी है। गुणात्मक और मात्रात्मक दृष्टान्तों में एक महत्व-पूर्ण अन्तर यह है कि मात्रा कि चर्चा जब की जाती है तो यह जरूरी नहीं कि गुण की चर्चा उसके समतुल्य हो। उदाहरणार्थ, यह नहीं कहा जा सकता है कि जिस चीज को 'क' ने 'ख' से अधिक पैसे में बेचा हो वह 'ख' की चीज से सुन्दर हो ही।

इस संदर्भ में 'किसी विशिष्ट सत्ता (ईश्वर) से बृहत्तर अन्य कल्पनीय नहीं है' का अर्थ निरूपण भी वांछनीय है। इस स्थल पर भी 'बृहत्तर' पद का अर्थ मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों रूपों में लिया जा सकता है। हम मान लें कि सभी वास्तव और संभाव्य सत्ताएँ किसी न किसी बढ़ती हुई मात्रा या बढ़ते हुए मूल्य क्रम में व्यवस्थित किए गए हैं। उदाहरणार्थ, यदि 'अ' को सेकेण्ड माना जाय, 'ब' को मिनट, 'स' को घंटा, आदि तो स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि अनुवर्ती श्रृंखला के प्रत्येक सदस्य अपने पूर्ववर्ती श्रृंखला के सदस्यों की अपेक्षा दीर्घकाल तक उपस्थित रहते हैं। इसी प्रकार हम वस्तु, व्यक्ति और क्रियाओं को बढ़ते हुए सौन्दर्य, न्यायप्रियता, दयालुता, निष्ठा इत्यादि जैसे गुणों और मूल्यों के क्रमिक व्यवस्था के रूप में श्रृंखलाबद्ध कर सकते हैं। इस दृष्टान्त में भी अनुवर्ती क्रम के सभी सदस्य अपने पूर्ववर्ती सदस्यों की अपेक्षा अधिक मूल्यपूर्ण माने जायेंगे। सामान्य रूप में यह कहा जाता है कि 'एक विशिष्ट सत्ता (ईश्वर) से बृहत्तर अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं है' तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उस व्यवस्थित श्रृंखला में एक ऐसा सदस्य है जिससे अन्य कोई सदस्य पूर्व-वर्ती नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब हम सबसे वैभवशाली व्यक्ति का विचार करते हैं तो इसका अर्थ होगा कि इस व्यक्ति से अधिक वैभवशाली व्यक्ति और कोई नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति इस व्यक्ति की तुलना में कम वैभवशाली ही माने जायेंगे। इसी प्रकार यदि हम सबसे अधिक बुद्धिमान् या न्यायप्रिय व्यक्ति की कल्पना करते हैं, तो इसका अर्थ होगा कि कोई भी वास्तव या संभाव्य सत्ता इस व्यक्ति से अधिक बुद्धिमान् या न्यायप्रिय नहीं होगा।

एन्सेल्म ने स्वयं यह स्पष्ट नहीं किया है कि इन दो व्यापक अर्थों-गुणात्मक अथवा मात्रात्मक-में से 'बृहत्तर' पद के लिए किस अर्थ को प्रयुक्त करना चाहते हैं। एक स्थल पर उन्होंने यह संकेत अवश्य दिया है कि जब वे पूर्ण सत्ता (ईश्वर) के संदर्भ में 'किसी विशिष्ट सत्ता से बृहत्तर अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं' पद का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रयोग करते हैं तो उनका तात्पर्य गुणात्मक अर्थ से है।[२] ऐसी सत्ता 'जिससे बृहत्तर कोई अन्य सत्ता कल्पनीय नहीं है' का तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जिसमें मूल्य की मात्रा सर्वोच्च विचारणीय रूप में है। एन्सेल्म के इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की उपर्युक्त व्याख्या उनके द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय अस्तित्व संबंधि सत्तामूलक तर्क को यहूदी-ईसाई धर्म के परिप्रेक्ष्य में संगति प्रदान करती है।

**धार्मिक अभिवृत्ति**

ईश्वर को परिभाषित करते हुए एन्सेल्म ने कहा है 'यह एक ऐसी सत्ता है जिससे बृहत्तर किसी अन्य सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती।' यह उनकी धार्मिक अभिवृत्ति की वैध अभिव्यक्ति है। पर, इस तर्क के आलोचक एन्सेल्म की ईश्वर परिभाषा में अन्तरग्रसित धार्मिक अभिवृत्ति को स्वीकार नहीं करते। इनकी मान्यता है कि एन्सेल्म की ईश्वर-परिभाषा में शुभत्व एवं ज्ञान का अभाव है। यह परिभाषा अमूर्त है। इस प्रकार एन्सेल्म की ईश्वर-परिभाषा यहूदी-ईसाई धर्म परम्परा में चर्चित वैयक्तिक ईश्वर के लिए कुछ अपेक्षित विशेषताओं की पूर्ति नहीं कर पाती।

आलोचकों का मत उपयुक्त नहीं। एसेल्म ईश्वर पर गुणों के आरोपन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की आत्म-बद्धता (सेल्फ कमिटमेंट) से बचना चाहते हैं। ईश्वर की परिभाषा द्वारा एन्सेल्म यह निर्दशित करना चाहते हैं कि जो भी उपस्थित या संभाव्य गुण हैं, ईश्वर में वे सभी इस मात्रा में अन्तर्निहित है कि किसी दूसरी सत्ता द्वारा इन्हें दमित नहीं किया जा सकता।[३] यदि ज्ञान को स्वाधीन माना जाय तो एन्सेल्म की परिभाषा के अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ है। यदि ईश्वर पर अनुक्रियाशीलता (रिसपौन्सिवनेस) का गुण संगत रूप से आरोपित किया जाय तो एन्सेल्म की परिभाषा के संदर्भ में ईश्वर की अनुक्रिया (रिसपौंस) नित्य होगी। दूसरे शब्दों में यह कह जा सकता है कि ईश्वर में प्रत्येक विचारणीय पूर्णता (थीन्केबुल परफेक्शन) अपने महत्तम (ग्रेटेस्ट) संभाव्य मात्रा में है। पुनश्च धार्मिक विचारकों ने परम्परागत रूप से ईश्वर के गुण के रूप में पूर्णता की चर्चा की है। इसलिए एन्सेल्म की ईश्वर परिभाषा वैध धार्मिक आधार पर अवलम्बित है।

**सत्तामूलक तर्क का वास्तविक स्वरूप**

उपर्यूक्त विमर्श के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सत्तामूलक तर्क में ईश्वर-प्रत्यय मात्र से ईश्वरीय अस्तित्व अनुमित नहीं होता। इस तर्क में धार्मिक अभिवृत्ति क्रमबद्ध रूप से ईश्वर-प्रत्यय से सम्बद्ध है। अब, स्पष्टतः कहा जा सकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है कि ईश्वर-प्रत्यय के अस्तित्व में विश्वास को तार्किक प्रामाणिकता (लाजिकल जस्टीफिकेशन) प्रदान करने के लिए धार्मिक अभिवृत्ति का तार्किक औचित्य भी है क्योंकि पर्याप्त ईश्वर-प्रत्यय के सम्बन्ध में यही एक मात्र संभावित अभिवृत्ति है। ईश्वर में विश्वास करने की क्रिया में संवेगात्मक और ज्ञानात्मक दोनों पक्ष क्रियाशील रहते हैं। ज्ञानात्मक पक्ष 'ईश्वर में विश्वसनीयता' को मात्र स्वीकार ही नहीं करता, बल्कि ईश्वरीय अस्तित्व में विश्वास को प्रामाणिकता प्रदान करता है।

ईश्वर में विश्वास को आस्था (फेथ) या आत्मबद्धता (सेल्फ कमिटमेंट) कहा जा सकता है। ईश्वर अस्तित्व सम्बन्धी परम्परागत प्रमाण सामान्य रूप से और सत्तामूलक तर्क विशेष रूप से, ईश्वरीय अस्तित्व में अपने-अपने विश्वास को तार्किक प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए तर्कणा का सहारा लेते हैं। इस प्रकार की तर्कणा का निर्धारण इस तथ्य के आधार पर किया जाता है कि तार्किक रूप से विश्वास आत्म-पर्याप्त और आत्म-वैध नहीं है।[४]

**विश्वास और तर्कणा**

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ईश्वर में विश्वास करने की क्रिया में ज्ञानात्मक पक्ष महत्वपूर्ण है। वास्तव में, ज्ञानात्मक पक्ष का मुख्य कार्य ईश्वरीय अस्तित्व में युक्तिसंगतता प्रदान करना है। एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में तर्कणा का कार्य मात्र इसमें सन्निहित विश्वास को बुद्धिगमता प्रदान करना है। इस तर्क में तर्कणा का महत्व अत्यन्त गौण है, क्योंकि इस तर्क का मूल स्वरूप ही विश्वासमूलक है। जो लोग एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में तर्कणा पक्ष पर अधिक बल देते हुए इसकी वैधता का प्रश्न उठाते हैं, उनका दृष्टिकोण समकालीन तर्कशास्त्रीय भाषा में प्रयुक्त तर्क से अधिक प्रभावित है। सत्तामूलक तर्क के अधिकांश प्रतिपादकों ने अपने मत विशेष को यहूदी-ईसाई धर्म के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। यह आत्म-बद्धता उनके विचार को विश्वासमूलक बना देती है। हार्टसन[५] और माल्कम[६] जैसे समकालीन विचारकों ने भी इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। उपर्युक्त प्रसंग को ध्यान में रखते हुए सत्तामूलक तर्क की संगति का निर्धारण आधुनिक तर्कशास्त्रीय भाषा के रूप में नहीं किया जा सकता। 'अनिवार्यसत्ता' के प्रागनुभविक विश्लेषण के आधार पर ही मात्र तथ्यात्मकता को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस पद्धति का अनुसरण करते हुए हम किसी वास्तविक वस्तुस्थिति की ओर अग्रसर नहीं हो सकते। एक दृष्टान्त द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। एक गोलवर्ग (राउन्ड स्कायर) के प्रत्यय के आधार पर यह अनुमित करना संभव नहीं है कि वास्तव में एक गोलवर्ग है। पर, इस दृष्टान्त की तरह सत्तामूलक तर्क के सामर्थ्य को आधुनिक तर्कशास्त्रीय भाषा के रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता। सत्तामूलक तर्क के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



के समर्थकों का उद्देश्य ईश्वरीय अस्तित्व में अनन्त विश्वास को व्यक्त करना है। अपने इसी प्रयास में इन्होंने तर्क का आश्रय लिया है। इस प्रवृत्ति को निम्न लिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है :-

"धार्मिक विचारक दैवी अस्तित्व में अपने को पूर्णतः आश्वस्त पाते हैं। ईश्वर की विश्वदृष्टि उनकी कल्पना को इतने प्रभावशाली ढंग से व्यस्त रखती है कि ईश्वरीय अनस्तित्व को सत्य संभावना के रूप में ये स्वीकार नहीं कर सकते।" ७

**निष्कर्ष**

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि एन्सेल्म का सत्तामूलक तर्क तर्कणा के माध्यम से एक अतीन्द्रिय सत्यता (ट्रानसेनडैंटल आथेन्टिसिटी) में धार्मिक विश्वास को प्रकट करता है। इस सन्दर्भ में एन्सेल्म को इस मत की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी, "हे प्रभू ! मैं तुम्हारे अपार स्वरूप की इस उपलब्धि के लिए बुद्धि का सहारा लेने का साहस नहीं करता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि हमारी बुद्धि इस कार्य के लिए समर्थ नहीं। परन्तु मेरा हृदय जिसमें अनुरक्त है उसे मैं (बुद्धि से) समझना चाहता हूँ। इसी से चाहता हूँ कि समझ सकूं। मैं अपने 'विश्वास' को भी विश्वास के बिना नहीं समझ सकता।"८ एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में बुद्धि विश्वास को और प्रबलता प्रदान करती है। ईश्वर विश्वास का विषय है, बुद्धि का नहीं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि एन्सेल्म ने अपने मत विशेष के सन्दर्भ में विश्वास और तर्क के बीच विरोधाभास को बचाया है।

१४३, अनुग्रहपूरी कोलनी, गया। — विजयकुमार सिन्हा

## टिप्पणियाँ

१. जान हिक, 'फिलासफी आफ रिलिजन' (प्रेन्टिस हाल, आई. एन. सी. इंगलवुड़ क्लिफ, न्यू जर्सी, १९६३) पृष्ठ १६-१७
२. एस. एन डीन., 'प्रोसोलिजियम' (ला सेले, १६४८ अध्याय १४.)
३. डेविड़ एच. कीलसे, 'द फेबरीक आफ पॅलि टीलिव थीयोलाजी' (न्यूयार्क, १९६७) पृष्ठ ४६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



४. ए. डी. वुजले, इन्टरनेशनल फिलासफिकल क्वाटरर्ली सन्त एन्ड्रूज युनिवरसिटी, खण्ड ३, १९७३) पृष्ठ संख्या ३३५ और ३३७

५. चार्लस् हार्टसन, लाजिक आफ परफेक्शन (ला सेले; ओपन कोर्ट १९६८)

६. (सं.) अल्वीन प्लानटिंगा, 'आनटोलजिकल आर्गुमेंन्ट' (मेंकमिलन, न्यूयार्क, १९६८)

७. ए. मेकन्टायर– डिफीकल्टीज इन क्रिश्चन रिलीजियन (एस्. सी. एम्. प्रेस, १९५६) पृष्ठ ६३

८. एस. एफ. जे. काप्लस्टन, हिस्ट्री आफ फिलासफी (इमेज बुक, एन. डी. खण्ड ६) पृष्ट १७७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# ज्ञान की अपूर्णता

इस लेख में (मानवी) ज्ञान[1] की अपूर्णता को समझने के दो प्रधान प्रस्तावों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

## (१)

सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि ज्ञान कभी न कभी पूर्ण हो ऐसी अपेक्षा रखी तो भी वह सफल नहीं होती और ज्ञान अपूर्ण ही रह जाता है। इस प्रकार ज्ञान में आनेवाली अपूर्णता क्यों पैदा होती है यह एक महत्वपूर्ण सवाल है। ज्ञान की अपूर्णता को स्पष्ट करने के उद्देश्य से कई प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए हैं। एक ओर कहा गया है कि ज्ञेय वस्तुओं की संख्या अगणित है। किसी एक वस्तु को ही पूर्णतः समझ पाने में कितनी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पडता है। तो ऐसी अवस्था में हम अगणित वस्तुओं को जानना भी चाहें और वह भी पूर्णतः तो वह कैसे संभव हो सकता है? इसलिए हमारा ज्ञान अपूर्ण रहता है। दूसरी ओर ऐसा कहा जाता है कि हमारे पास जानने के लिए समय ही बहुत कम है और इतने कम समय में इतनी अगणित वस्तुओं को पूर्णतः जानना चाहा भी तो वह असंभव होने के कारण ज्ञान अपूर्ण रह जाता है। हम ज्ञान की अपूर्णता इन में से किसी भी दृष्टि से प्रस्तुत करना नहीं चाहते। जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, हम यह विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं कि पूरी दुनिया में सिर्फ एक ही वस्तु क्यों न हो, उसे पूर्णतः जानना असंभव है। अतः दुनिया में वस्तु अनंत हैं इसके कारण ज्ञान की अपूर्णता पैदा होती है ऐसा निरपवादतया नहीं कहा जा सकता। उसी तरह हम यह भी विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं कि हमारे पास समय कम रहता है इसलिए हमारे ज्ञान में दिखायी देनेवाली अपूर्णता पैदा नहीं होती, क्योंकि हमारे पास काफी लंबा समय भी उपलब्ध होता तो भी हमारा ज्ञान पूर्ण हो जाता ऐसा अनिवार्यतः नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति होने की वजह से ज्ञान की अपूर्णता को अगर ठीक तरह से समझना हो तो ऊपर



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



जिनका निर्देश किया है उन प्रस्तावों से किसी भिन्न प्रस्ताव का विचार करना पडेगा। ऐसे ही दो प्रस्ताव का प्रस्तुत करना इस लेख का उद्देश्य है।

## (२)

यह समझ लेना जरूरी है कि किसी भी वस्तु के बारे में हमारे सामने प्रस्तुत होनेवाले कुल तथ्यों की संख्या अगणित होती है, चाहे वह कौनसी भी चीज हो। दूसरे शब्दों में, किसी वस्तु के बारे में होनेवाले तथ्य अनंत होते हैं। इसे ठीक तरह से समझ पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम सत्य और तथ्य में होनेवाले भेद को ध्यान में लें। सत्य हमेशा भाषिक होता है क्योंकि सत्य माने तथ्य का एक या दूसरी भाषा में किया गया निरूपण है। किसी **वास्तविक भाषा** में होनेवाला यथार्थ कथन सत्य का सूत्रीकरण करता है। लेकिन दूसरी ओर से यह कहना भी उतना ही तथ्यपरक है कि सत्य को कथन ही देहधारी बनाता है और जैसा देह के बिना भूत पाया जा सकता है वैसा कथन के बिना सत्य नहीं पाया जा सकता। इसके विपरीत, कोई भी तथ्य कदापि भाषिक वस्तु नहीं होता, वह तो दुनिया में पायी जानेवाली कोई वास्तविक परिस्थिति होता है या कोई वास्तविक स्थिति। जिसे किसी न किसी **संभाव्य भाषा** में यथार्थतः प्रस्तुत किया जा सकता है ऐसी वस्तुनिष्ठ परिस्थिति या स्थिति को तथ्य कहा जाता है। ऐसी स्थिति होने के कारण यह मानना पडता है कि सत्यों की तुलना में तथ्यों की संख्या काफी अधिक है। हरेक सत्य किसी तथ्य का कथन अवश्य करता है। लेकिन यह निःसंशय संभव है कि ऐसे तथ्य हैं और होंगे भी कि जो हमारे पास होनेवाली किसी वास्तविक भाषा में कथनीय ही न हों। ऐसा होने का प्रधान कारण यह है कि तथ्य संभाव्य सत्य के साथ सहसंबद्ध होते हैं और इस प्रकार के सत्यों का वास्तविकीकरण जिस प्रकार का समुचित भाषिक उपकरण उनके सूत्रीकरण के लिए हमारे पास उपलब्ध होता चाहिये उसकी उपस्थिति पर निर्भर करता है। सत्य का कथन किया जाने के बारे में एक ही परिमापक महत्वपूर्ण होता है और वह यह कि सत्य किसी वास्तविक भाषा में कथन किया जानेवाला होना चाहिए। इसके विपरीत तथ्य का कथन किया जा सके इसके दो परिमापक महत्वपूर्ण होते हैं : एक, वह कथनीय हो और दूसरा वह किसी संभाव्य भाषा में कथन किया जा सकने वाला हो। मतलब यह हुआ कि कोई तथ्य कथनीय होते हुए भी हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा में कथनीय नहीं भी हो सकता है, इसके बावजूद कि वास्तविक भाषा एक संभाव्य भाषा है। कारण वास्तविक भाषा एक संभाव्य भाषा जरूर है लेकिन वह एकमात्र संभाव्य भाषा भी नहीं है या कौनसी भी संभाव्य भाषा भी। यहाँ यह समझना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उपयुक्त होगा कि तथ्य हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा में कथनीय होना ही चाहिये ऐसी व्याप्ति स्वीकार करना कष्टसाध्य है। इसके बारे में बाद में थोडी अधिक गहराई से सोचेंगे।

सत्य और तथ्य में ऊपर दिखाया उस प्रकार का महत्वपूर्ण भेद होने के कारण सत्य वह होगा जो किसी वास्तविक भाषा से यथार्थतया प्रस्तुत किया जा सके और तथ्य वह होगा जो किसी न किसी संभाव्य भाषा में यथार्थतया प्रस्तुत किया जा सके। ऐसा होने की वजह से सत्य और तथ्य दोनों का भी भाषा से संबंध होते हुए भी उनके संबंध में महत्वपूर्ण भेद है और उसे कई बार अनदेखा किया जाता है। वह भेद यह है कि सत्य वास्तविकतया भाषा से सम्बद्ध है तो तथ्य संभाव्यतया भाषा से सम्बद्ध है। अतः यह मानना पडता है कि तथ्य उपस्थित होते हुए भी उसे सत्य के रूप में प्रस्तुत न भी किया जा सकता हो, क्यों कि हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा ऐसी हो सकती है कि उसमें उक्त तथ्य का कथन ही न किया जा सकता हो। ऐसा क्यों होता है यह आगे स्पष्ट होगा।

किसी भी समय किसी भी एक वस्तु के बारे में जितने सत्य कथनों का उद्घाटन किया जाता या किया जा सकता है उनकी संख्या हमेशा सीमित ही रहती है और ऐसी स्थिति इतिहास में किसी भी विशिष्ट काल के बारे में हमें महसूस करनी पड़ेगी। तथापि वास्तविक जगत् की हमारी संकल्पना इस प्रकार की होती है कि उसके अनुसार किसी एक वस्तु के बारे में अगणित तथ्यों का हम अनुभव करते या कर सकते हैं। ऐसा होने के कारण किसी भी चीज को पूर्णतः समझ लेने का काम हम हाथ में भी नहीं ले सकते और अगर हाथ में लिया भी तो उसमें हमें वास्तविक सफलता भी नहीं मिल सकती। ऐसा होने का कारण यह है कि ज्ञान, या कम-से-कम भाषा में सूत्रीकृत किया हुआ ज्ञान, याने हमने पहचाने हुए सत्य। अतः यह निष्पन्न होता है कि तथ्यों का संख्यात्मक विस्तार उनके बारे में हमें संभवतः होनेवाले ज्ञान के विस्तार से जादा होना अनिवार्य है। याने, तथ्यों का क्षेत्र उन्हें भाषा में अभिव्यक्त करने की हमारी क्षमता की सीमा का ही सिर्फ उल्लंघन नहीं करता बल्कि हमारी उन्हें जानने की क्षमता की सीमा का भी।

इसका मतलब यह हुआ कि हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा में जो सीमित भाषिक तथा संकल्पनात्मक सामग्री उपलब्ध हुआ करती है या किसी भी समय हमारे पास होनेवाली वास्तविक भाषा में जो संकल्पनात्मक आधार उपस्थित रहता है उसके आधार पर हमें प्राप्त हो सकनेवाला ज्ञान हमेशा ही सीमित रहने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



की वजह से हमारे ज्ञान में अपूर्णता आयी तो आश्चर्य नहीं। उसी तरह जो वास्तविक भाषा हमारे पास किसी भी समय उपस्थित हुआ करती है उसमें सीमित सत्यों का ही कथन किया जा सकता है। किसी भी तथ्य का कथन हमारे पास उपलब्ध वास्तविक भाषा में हम करना चाहें भी तो उसमें हमें सफलता नहीं मिलती। इस प्रकार हरेक सत्य किसी न किसी तथ्य का यथार्थ कथन होते हुए भी हरेक तथ्य सत्य का रूप धारण नहीं कर सकता क्योंकि तथ्य और सत्य में होने वाले भेद को हम बुझा नहीं दे सकते। और जहाँ तक इस प्रकार का भेद बना रहेगा हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। इस प्रकार हमारे ज्ञान में दिखायी देनेवाली अपूर्णता का एक दृष्टि से स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

## (३)

ऊपर हमने यह कहा कि सत्य का कथन किया जा सके इसके लिए हमारे पास वास्तविक भाषा के स्तर पर कुछ (स्थिर) आधार उपलब्ध होना चाहिए और इस प्रकार का आधार भाषिक और सांकल्पनिक होना चाहिए। लेकिन वास्तविक जीवन में भाषिक या सांकल्पनिक आधार स्थिर नहीं रहता। हमारी वस्तुओं के संबंध में होनेवाली संकल्पनाएं अध्ययन और संशोधन का कोई स्थिर विषय नहीं हुआ करती। वे तो स्थिर होने के बजाय विश्लेषण के परिवर्तनीय या परिवर्तनशील बिन्दु हुआ करती हैं। उदाहरणार्थ, यह बड़ी आसानी से समझा जा सकता है कि हम हमारी सूर्य की संकल्पना उस प्रकार नहीं बनाते जिस प्रकार अरस्तु के समय लोग बनाया करते थे। या हमारी हृदय की संकल्पना गैलेन प्रणीत हृदय की संकल्पना से बहुत ही भिन्न है। उसी तरह यह भी समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि महाराणा प्रताप के पास तलवार थी और उसके बारे में कई तथ्यों की भी उन्हें जानकारी थी। तथापि उन्हें यह निःसंशय मालूम नहीं था कि उनकी तलवार में कार्बन है या उसमें से बिजली का प्रवाह प्रवाहित हो सकता है। ऐसा होने का कारण यह है कि 'कार्बन', 'बिजली का धातु में से होनेवाला वहन' ये ऐसी संकल्पनाए हैं जो उनके आकलन के क्षेत्र के बाहर थीं। इस प्रकार के तथ्य हम जिन वस्तुओं से सामान्यतः परिचित हुआ करते हैं– जैसे वृक्ष, प्राणी, ईंटें, पत्थर आदि– उनके संबंध में भी मौजूद हैं– ऐसे तथ्य कि जो सौ वर्ष पहले किसी को भी मालूम हुआ नहीं करते। और ऐसा होता है इसका कारण यह नहीं कि हमें या अन्य किसी को इस प्रकार की चीजों की पूरी जानकारी नहीं हुआ करती। उक्त प्रकार की स्थिति इसलिए पैदा होती है कि जिन संकल्पनाओं के आधार पर उक्त ज्ञान का सूत्रीकरण किया जा सके उन संकल्पनाओं का ही हमारे पास अभाव होता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि महाराणा प्रताप ने आकाश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



में बिजली का चमकना कभी देखा ही नहीं था। उसे देखने के बावजूद भी उनको अगर किसी ने बताया होता कि वे जिस तलवार का उपयोग करते थे उसमें से बिजली के प्रवाह का वहन हो सकता है तो उसे वे समझ ही न पाते।

वस्तु के स्वरूप के बारे में कौनसा भी समुचित सत्ताशास्त्रीय एवं ज्ञान-शास्त्रीय दृष्टिकोन हमने अपनाया तो उसके आधार पर यही प्रतीत होगा कि हमने जो बात उठायी है वह हमेशा सही होती है। (वि)ज्ञान की नित्य वर्धिष्णु प्रक्रिया ऐसी संकल्पनात्मक परिवर्तन की भी प्रक्रिया होती है कि कुछ सिद्धान्त उसे विशिष्ट काल में अपनानेवाले संशोधकों की आकलन–कक्षा के सदा ही बाहर रहते हैं। और इसका मतलब यह होता है कि किसी भी परिस्थिति में किसी भी वस्तु के बारे में ऐसे तथ्य होंगे जिन्हें हम जान नहीं पायेंगे क्योंकि जिन संकल्पनाओं के आधार पर उनका कथन किया जा सके उनकी ही हमारे पास अनुपस्थिति होने के कारण उन्हें हम संकल्पना के धरातल पर भी नहीं अपना सकेंगे। उक्त तथ्य उस प्रकार के होंगे कि जिन्हें अगर हमारी वास्तविक भाषा में यथार्थ रूप से प्रस्तुत करना हो तो ऐसे दृष्टिकोन को अपनाना पड़ेगा जो हमारे पास उक्त परिस्थिति में उपस्थित ही नहीं हुआ करता, कारण हमारे ज्ञान की अवस्था उतनी विकसित नहीं रहती जितनी कि उनके भाषा में यथार्थ सूत्रीकरण के लिए आवश्यक हो।

## ( ४ )

यहाँ जिस बात का जिक्र हम कर रहे हैं वह यह नहीं कि किसी वस्तु के विशिष्ट धर्म उस वस्तु में पैदा ही न होने के कारण हम उन्हें जान नहीं पाते। ऐसा तो सुस्पष्टतया हो सकता है। जो हमारे सामने प्रस्तुत ही नहीं हुआ उसे हम जानें भी कैसे ? लेकिन हम इस बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि वस्तुतः तथ्य हमारे सामने उपस्थित होने के बावजूद भी हम उसे जान नहीं पाते हैं और ऐसी स्थिति पैदा होती है इसका कारण हमारे उक्त वस्तु के ज्ञान में ही उक्त तथ्य या उक्त धर्म पैदा हुआ नहीं रहता। उदाहरणार्थ, विल्यम हार्वे के समय के पहले भी मानवी शरीर में रुधिर का परिवहन कराने के लिए हृदय का स्पंदन हुआ करता था, या गैलिलिओ के पहले भी एक भारी वस्तु और एक हल्की वस्तु समान ऊँचाई से एक साथ छोड़ दी जाती तो वे दोनों एक ही समय ज़मीन पर गिर पड़ती। इस प्रकार की घटनाएँ उनका हमें जभी से ज्ञान होने लगा तभी से ही निसर्ग में घटित होने की शुरूआत नहीं हुई। अतः हम जिस प्रकार की स्थिति पैदा होने की बात कर रहे हैं वह जिनका हम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



संकल्पनीकरण करना चाहते हैं उन वस्तुओं या तथ्यों से संबंधित न होकर संकल्पनीकरण के लिये आवश्यक आकलन-रूप सामग्री के उपलब्धि से संबद्ध है।

वस्तुओं के धर्म शब्दशः सीमा-मुक्त हुआ करते हैं और जितने किसी वस्तु के धर्म हमने अभी तक खोज निकाले हैं उनसे कई अधिक हम खोज सकते हैं। लेकिन किसी भी वस्तु के इस प्रकार होनेवाले सारे के सारे धर्म एक ही साथ हमारी आकलन-कक्षा में आ ही नहीं पाते और परिणामतः किसी वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी सर्वांगपरिपूर्ण होने की संभावना ही नहीं है। जहाँ तक इस प्रकार हमारी वस्तुओं के संबंध में होनेवाली आकलनात्मक अक्षयशीलता को स्वीकार करने में उक्त प्रकार की बाधा उपस्थित होने की संभावना है वहाँ तक आकलनात्मक एकाधिकार या पूर्णता को हम कदापि नहीं अपना सकते। वस्तुतः किसी भी यथार्थ वस्तु की हमारी संकल्पना में ही आकलनात्मक अक्षयशीलता का अभाव निहित ही है इस प्रकार का दृष्टिकोण हम प्रस्तुत कर रहे हैं। किसी भी वस्तु के बारे में आज हम जिस प्रकार सोचते हैं उससे भिन्न प्रकार से भी हमें शायद सोचना पडेगा इस संभाव्यता को हम अनदेखा नहीं कर सकते। जिस दृष्टिकोण को हम प्रस्तुत कर रहे हैं उसके अनुसार वास्तविक जगत् ऐसा है कि उसका हरेक घटक इस प्रकार से हमारे सामने प्रस्तुत होता है कि उसके बारे में कोई न कोई ऐसा तथ्य हमेशा ही रहेगा जो हमारी आकलनक्षमता के बाहर रहेगा और जिस हद तक यह संभव है उस हद तक किसी भी वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी के बारे में पूर्णता की बात करना अस्वीकार्यही नहीं गलत भी है।

यह भी स्वीकार करना उतना ही महत्वपूर्ण है कि किसी भी वस्तु के स्वरूप के बारे में हमें होनेवाली जानकारी गलत भी हो सकती है– गलत केवल वस्तु के स्वरूप-कथन के संदर्भ में ही नहीं बल्कि इससे भी अधिक गहराई के स्तर पर। वस्तुओं का हमारा आकलन मूलतः ही गलत होने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। कोपर्निकस के पूर्व सूर्योदय के बारे में मनुष्य को जो जानकारी थी उसके पूर्णतः विरोधी जानकारी हमें कोपर्निकस के बाद उपलब्ध होने लगी। या किसी ज्वलनशील वस्तु का ज्वलन फ्लाजिस्टन से वह वस्तु संसर्गित होने की वजह से होता है इस जानकारी को हमें वह गलत होने के कारण छोड़ देना पड़ा। परिणामतः किसी वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी स्थिर और अपरिवर्तनशील रहेगी ऐसा भी हम स्वीकार नहीं कर सकते। साथ साथ हमने यह भी देख लिया कि किसी भी समय किसी वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी संपूर्ण जानकारी है ऐसा भी हम कह नहीं सकते। वस्तु के बारे में हमें होनेवाली जानकारी में परिवर्तन की संभाव्यता को भी नकारा नहीं जा सकता। हमें निसर्ग और नैसर्गिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



घटनाओं के बारे में होनेवाली जानकारी हमेशा इस प्रकार अपूर्ण और परिवर्तन-शील ही रहेगी और इस दृष्टि से भी ज्ञान की अपूर्णता का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

(५)

इसी दिशा में सोचते हुए और भी एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। जिनके आधार पर या जिनकी मदद से जानकारी प्राप्त की जा सके उस प्रकार के साधन हमारे पास हमेशा सीमित मात्रा में उपलब्ध हुआ करते हैं। लेकिन उनकी सीमितता के कारण वास्तविक जगत् की जानकारी प्राप्त करने के हमारे प्रयास में काफी मात्रा में कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। अगर हम निसर्ग को ठीक तरह से समझना चाहें तो ऊर्जा, दाब, उष्णता आदि प्रकार के साधन उपलब्ध कराने के लिए इतने परिमाण में हमारे पास सामग्री होनी चाहिए कि जिसे उतने पैमाने में उपलब्ध करने का कोई रास्ता ही हमारे सामने मौजूद न हो। इसकी वजह से मानव और निसर्ग के बीच जिस प्रकार की अन्योन्यक्रिया संभव होनी चाहिए उसे संभव करने के किसी मार्ग का दरवाजा हमारे लिए खुला ही न हो। ऐसी स्थिति में ऐसी घटनाएँ हो सकती हैं जिनका हमें कोई अन्वयार्थ ही नहीं समझा है। इस प्रकार की अपेक्षा करना गलत है कि निसर्ग हमारे सामने इसी प्रकार की घटनाएँ प्रस्तुत करेगा कि जिनकी आकलनात्मक अर्थवत्ता उतनी सीमा तक ही सीमित रहेगी कि जो हमारी दृष्टि की कक्षा के बाहर न जानेवाली हो। इस तरह से सोचते हुए यह प्रतीत होता है कि जहाँ तक अगम्य घटनाएँ हैं या जहाँ तक अनाकलनीय तथ्य हैं वहाँ तक अपूर्णता के सिवा अन्य कोई स्थिति हमारी जानकारी के बार में हो ही नहीं सकती। जैसे अगर कुछ घटनाओं की हमने जानकारी करा लेने की कोशिश ही न की हो तो हमारा उक्त घटनाओं के संबंध में होनेवाला ज्ञान अपूर्ण रहने की निःसंदिग्ध संभाव्यता होती है उसी तरह अगर कुछ घटनाएँ ऐसी हैं कि जिनकी हम जानकारी ही नहीं पा सकते तो निःसंशय हमारा निसर्गविषयक ज्ञान अपूर्ण ही रहा तो कोई आश्चर्य नहीं। इस तरह से मनुष्य के जगत् के संबंधी ज्ञान प्राप्त करने की जाँच की रचना में ही कुछ निहित धर्म ऐसे हैं कि उनकी वजह से हमें होनेवाला ज्ञान अपूर्ण के बिना और कुछ नहीं हो सकता।

(६)

हमने ऊपर कहा कि ज्ञान अपूर्ण है यह हम ज्ञेय वस्तुओं की अगणितता के आधार पर नहीं प्रस्थापित करना चाहते। किसी एक वस्तु के बारे में होनेवाला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हमारा ज्ञान भी अगर हमने ऊपर दिखाया उस तरह अपूर्ण ही रहता हो तो अनंत प्रकार की वस्तुओं के बारे में हमें होनेवाला ज्ञान अपूर्ण ही होगा। लेकिन महत्व-पूर्ण बात यह है कि ज्ञान की अपूर्णता को सिद्ध करने के लिये या उसे स्पष्ट करने के लिए इस प्रकार ज्ञेय वस्तुओं की अनंतता की ओर निर्देश करने की कोई आव-श्यकता नहीं प्रतीत होती। अगर पूरे विश्व में सिर्फ एक वस्तु भी होती तो भी उसके बारे में हमें होनेवाली जानकारी पूर्ण जानकारी हो सकती ऐसा भी हम कह नहीं सकते। उसी तरह अगर हमें जाँच-संशोधन के लिए अधिक समय मिलता तो हमें वस्तु के बारे में अधिक जानकारी उपलब्ध हुई होती यह कहना भी उतना ही विवादास्पद है। क्योंकि अरस्तू के समय से लेकर गैलिलिओ के समय तक लगातार लोग यही मानते चले कि भारी वस्तु और हल्की वस्तु एकसाथ एक ही ऊँचाई से नीचे छोड़ दी तो भारी वस्तु जमीन पर पहले गिरेगी। संशोधन के लिए अधिक समय मिला इस आधार पर हमारा किसी वस्तु या घटना के बारे में होनेवाला ज्ञान पूर्ण हो पाएगा इसकी भी कोई अनिवार्य गुंजाइश नहीं दिखाई देती। इस-लिए यह कहना भी उतना ही गलत है कि अधिक समय उपलब्ध होने पर हमारे संशोधन की पूर्ववर्ती अवस्था में दिखाई देनेवाली अपूर्णता कभी न कभी नष्ट हो पायेगी और हमें वस्तु का संपूर्ण ज्ञान हो पायेगा।

हमने देखा कि ज्ञान की अपूर्णता को किसी भी हालत में नकारा नहीं जा सकता और किसी भी वस्तु के बारे में हमें होनेवाला ज्ञान किसी समय पूर्ण हो पायेगा यह पक्ष भी विवादास्पद है और इसलिए उसे अपनाना उतना ही गलत है जितना कि हमें आज किसी वस्तु के बारे में होनेवाला ज्ञान पूर्ण ज्ञान है और किसी भी हालत में उस वस्तु के बारे में कोई भी नई जानकारी हमें नहीं प्राप्त हो सकेगी इस प्रकार के दुराग्रह को स्वीकार करना। इस संदर्भ में इस प्रकार सोचते हुए यह भी एक तथ्य हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है कि सभी वस्तुओं के बारे में ही नहीं, किसी एक वस्तु के बारे में भी सर्वज्ञता का स्वीकार करना गलत भी है और अस्वीकार्य भी।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

—मो. प्र. मराठे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## टिप्पणी

१. पाश्चात्य दर्शन में 'मानवी ज्ञान' इस प्रकार का शब्दप्रयोग वारंवार उपयोग में लाया जाता है। उसका उद्देश यह है कि ईश्वरीय ज्ञान से अन्य प्रकार का ज्ञान इस प्रकार का मानवी ज्ञान का आकलन हो। लेकिन जहाँ तक हमारे मन्तव्य का सवाल है वहाँ तक 'मानवी ज्ञान' इस प्रकार के शब्दप्रयोग की कोई आवश्यकता हम महसूस नहीं करते। ज्ञानशास्त्रीय क्षेत्र में हमारा विचार मानवी ज्ञान के बारे में ही होना चाहिए और हुआ भी करता है, और किसी प्रकार के ज्ञान के लिए नहीं। ऐसी अवस्था में केवल ज्ञान शब्द का ही प्रयोग उचित है, तथा मानवी ज्ञान इस प्रकार का प्रयोग अनावश्यक और अनुपयोगी भी है। अतः इसके आगे इस लेख में हम केवल ज्ञान शब्द का ही प्रयोग करेंगे। उसे मानवी ज्ञान के अर्थ में उपयोग में लाया है। एक दृष्टि से ज्ञान और मानवी ज्ञान ये दोनों शब्दप्रयोग एक ही अर्थ के वाचक हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# भारतीय दर्शन किस दिशा की ओर ?

भारतीय दर्शन स्वाधीन चेतना की रचना हो सके– यही सम्भवतः हमारा ध्येय हो सकता है। प्रत्येक देश के दर्शन के लिए यह आवश्यक है कि उसका एक समाज हो। यह समाज दार्शनिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ पुनः निर्मित होता जाता है। दार्शनिक अपने समाज को निरन्तर ऐसे मूल्य तथा विचार देता रहता है जिससे नए आदर्श बनते जाते हैं तथा नए आदर्शों व लक्ष्यों के साथ साथ समाज तथा संस्कृति भी परिवर्तित होती जाती है। किन्तु क्या समकालीन भारतीय दर्शन इस स्वाधीन चेतना की रचना में अथवा समाज व संस्कृति के पुनः निर्माण में समर्थ हो सका है ?

मानव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सदा से संघर्ष करता आया है। कभी मानव का संघर्ष प्रकृति से होता है, कभी अन्य मानवों से और कभी स्वयं से।[1] प्रकृति से संघर्ष करने के फल स्वरूप विज्ञान का विकास होता है किन्तु विज्ञान का ज्ञान प्रयोजन के अभाव में अपूर्ण रह जाता है। मानव तथा मानव के संघर्ष के फलस्वरूप राजनीति का विकास होता है; इस संघर्ष का परिणाम शक्ति की उपलब्धि है जहाँ ज्ञान का अभाव है। शक्ति कितनी ही प्रबल हो किन्तु ज्ञान के अभाव में अपूर्ण ही रहेगी। मानव के आन्तरिक संघर्ष के फलस्वरूप धर्म का विकास होता है जिससे जीवन के प्रयोजन के प्रति आस्था अवश्य हो जाती है, किन्तु इस आस्था में तर्क का अभाव रहता है। तर्क के अभाव में आस्था तथा प्रयोजन भी निरर्थक व अपूर्ण रह जाते हैं। प्रकृति, अन्य मानव तथा स्वयं से संघर्ष के साथ साथ एक स्वस्थ वैचारिक संघर्ष भी आवश्यक है। दर्शन का कार्य इस वैचारिक संघर्ष द्वारा ज्ञान का तार्किक प्रयोजन निर्धारित कर के, समाज में उस प्रयोजन के प्रति आस्था उत्पन्न करना है। यदि सही अर्थों में शासक दार्शनिक हो सके (अथवा दार्शनिक शासक हो सके) तभी ज्ञान शक्ति और प्रयोजन का समन्वय हो कर समाज व देश को दिशा मिल सकती है।

हमारे देश के सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तनों ने दर्शन के सम्मुख एक नई चुनौती प्रस्तुत की है। दर्शन तथा दार्शनिकों के प्रति साधारण मनुष्य की

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ३, जून, १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उदासीनता का कारण स्वयं दार्शनिक तथा दर्शन के शिक्षक हैं क्यों कि हमारे आधुनिक देशवासी को इसका किंचित् मात्र भी ज्ञान नहीं है कि समाज तथा मानव जीवन में सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक, दोनों ही दृष्टिकोणों से दर्शन की कितनी अधिक सार्थकता है। दर्शन, साहित्य, कला तथा अन्य सामाजिक विज्ञान– सभी समाज व मानव जीवन के लिए महत्वपूर्ण हैं, किन्तु दर्शन की महत्ता इन सबसे इसलिए अधिक है क्यों कि केवल दर्शन ही मनुष्य की मूल्य-सम्बन्धी चेतना व आदर्श को प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित तथा निर्देशित करता है। दार्शनिक चिन्तन के अभाव में मानवीय चेतना तथा समाज का विकास असंभव है। अतः समकालीन भारतीय दर्शन के प्रति जन साधारण की उदासीनता का प्रथम कारण यही है कि हमारा दर्शन मनुष्य को उसके जीवन में दर्शन की सार्थकता से परिचित कराने तथा उसमें जीवन के मूल्यों तथा आदर्शों का बोध कराने में असफल रहा है।

दार्शनिकों ने सदा ही प्रत्ययों का स्पष्टीकरण किया है। अब उन प्रत्ययों को समकालीन जीवन के संदर्भों में देखना है। हमारे दर्शन के प्रति जन-साधारण की उदासीनता का दूसरा कारण यह है कि कितने ही वर्षों से भारतीय दर्शन ने अपने कदम आगे नहीं बढ़ाए हैं; तथा आगे न बढ़ना, पीछे जाना ही है। रुका हुआ जल भी सड़ने लगता है। उपनिषदों ने आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य किया तथा बन्धन व मोक्ष की समस्या को भी सामान्य जीवन की चर्चा का विषय माना। वेदान्तियों ने उपनिषदों की ही व्याख्या अपने अपने दृष्टिकोण से इन्ही समस्याओं पर केन्द्रित की। सांख्य तथा योग दर्शन सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से परम तत्त्व की व्याख्या तथा ज्ञान प्राप्ति की ओर प्रवृत्त हुए। न्याय दर्शन ने प्रमाण को तथा वैशेषिक दर्शन ने प्रमेय को अपने सिद्धान्तों का केन्द्र बिन्दु माना। यद्यपि बौद्ध तथा जैन दर्शन नीतिप्रधान थे, तथापि उन्हें धर्म-प्रधान माना गया। किन्तु ये सब अब इतिहास के पृष्ठ हो गए हैं। वर्तमान परिस्थितियों में, रचनात्मक दृष्टि-कोण से आधुनिक दर्शन में इनका स्थान गौण ही माना जायगा, चाहे हम इनमें किसी आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्त की झलक देखने को कितना ही प्रयत्न करें। इस तथ्य को हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते कि पारम्परिक भारतीय दर्शन सदा से नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक समस्याओं के प्रति उदासीन रहा है। समीक्षात्मक दर्शन का तो पूर्ण अभाव ही है। आज के युग में हम अपने पारंपरिक दर्शन को नई भाषा में प्रस्तुत कर के अथवा नए नाम देकर स्वाधीन विचारधारा का निर्माण नहीं कर सकते। चाहे पारंपरिक भारतीय दर्शन अपने आप में कितना ही विकसित हो तथा उसके महत्व की चर्चा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भले ही सार्थक हो किन्तु वे आज के संदर्भों से टूट चुके हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



विचार विमर्ष की प्रक्रिया ही दर्शन की प्रक्रिया है। मानव विचारशील प्राणी है, अतः दर्शन मानव स्वभाव का एक आवश्यक अंग है। किन्तु मानव स्वभाव का आवश्यक अंग होते हुए भी हम उसे जीवन की परिधि से परे एक रहस्यमय ज्ञान मान बैठे हैं। आज के दार्शनिक को आज के मानव की विचार-धारा को निर्देशित कर के आज के आदर्शों और लक्ष्यों का मूल्यांकन कर के, उनकी स्थापना करना है। दार्शनिक चिन्तन, यहाँ तक कि अमूर्त चिन्तन का आरंभ भी होता है उससे जो विशिष्ट रूप से मानवीय है। मानवता से दर्शन विमुख नहीं रह सकता। यदि आज का हमारा मानव दर्शन तक नहीं पहुँच सका है तब दार्शनिकों का यह उत्तरदायित्व है कि वे दर्शन को मानव तक पहुँचावे क्यों कि जिन प्रत्ययों का दर्शन विश्लेषण करता है वे आवश्यक रूप से साधारण से साधारण मनुष्य के जीवन से जुड़े हैं। वर्तमान युग की नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं ने मानव को जो चुनौती दी है उसका समाधान दर्शन द्वारा ही हो सकता है। समस्याओं के स्पष्टीकरण के अन्तर्गत मुख्यरूप से जो प्रत्यय आएंगे वे हैं :—

१) मानव की स्वतंत्रता तथा उसका गौरव
२) मानव तथा भौतिक जगत्
३) मानव का राजनैतिक व्यवहार
४) मानव का सामाजिक व्यवहार तथा ५) मानव की धार्मिक प्रतिश्रुतियाँ।

इनके विश्लेषण के लिए दार्शनिकों को कुछ प्रमुख लक्ष्य अपने सम्मुख रखने होंगे। उनमें इतना नैतिक बल होना चाहिए कि वे अपने विचारों को पारंपरिक दर्शन की छाया में व्यक्त न करके, नए सिद्धान्तों की रचना करे। आज के भारतीय दार्शनिकों में वर्तमान समाज के प्रति एकत्व की भावना होनी चाहिए जिससे वे समाज और संस्कृति को एक नया मोड़ दे सकें। उनमें इतना आत्मविश्वास होना चाहिए कि पाश्चात्य दर्शनों की छाप अपने सिद्धान्तों पर न देकर स्वाधीन विचारधारा का निर्माण करें। हमारे दार्शनिकों को ऐसे सिद्धान्तों की रचना करनी है, दार्शनिक समस्याओं की इस प्रकार व्याख्या करनी है कि दर्शन केवल एक अमूर्त, अनुभवातीत तथा अज्ञेय सत्ता का बोध बन कर ही न रह जाय। अतः एक ऐसे समीक्षात्मक दर्शन का विकास करना है जो समकालीन चिन्तन का अंग बन कर आज के जीवन के ढ़ाँचे में ढाला जा सके, जिससे वह विज्ञान के ज्ञान को प्रयोजन, राजनीति की शक्ति को ज्ञान तथा धर्म के प्रयोजन को तार्किक दिशा दे सके। इसके परिणाम स्वरूप ही दर्शन हमारे सामाजिक परिवेश का अंग बन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



कर मानव को प्रकृति, अन्य मानवों तथा अपने से संघर्ष के योग्य बना कर एक स्वस्थ वैचारिक संघर्ष की परंपरा का निर्माण करके स्वाधीन चेतना की रचना कर सकेगा।

अजीत भवन
राइका बाग
जोधपुर

— प्रेम मिश्र

## टिप्पणी

१) Russell, B.; New Hopes for the Changing World, p. 18.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# प्रतिक्रियाएँ

## (१)

श्री यशदेव शल्य ने अपने लेख 'कला-सर्जन'[१] में दर्शन की अवधारणाओं के माध्यम से सर्जन-प्रक्रिया का जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त सराहनीय है। उससे रस-विवेचन की गुंजलक में सुलझाव आता है और मुद्दों को ब्यौरेवार समझने में सहायता मिलती है। 'विमर्श चित् का बुद्धिमूलक प्रस्फुटन है'[२] कहना अपने में सर्वथा नवीनता का द्योतक है। उन्होंने चित् के उन्मीलन-स्रोतों में बाह्योद्दीपन के साथ स्वतोद्भव को भी उपादान के बिना असम्भव बताकर स्फुरण की अस्वाभाविकता सिद्ध कर दी है। सर्जन में सत् और चित् के द्वैतभाव की अनिवार्यता घोषित करने में भी हमें सर्वथा नवीनता दिखायी देती है। किन्तु इसमें असंगति वहाँ पैदा होती है जब वे यह स्थापित करते हैं कि 'चित् ही विषय-पक्ष के स्थगन द्वारा विषयी रूप में आत्म-विमर्श करता है'[३] और 'व्यक्ति-मुक्त विषयिगत-भावना के रूप में उपभोग और उस भोगित्व का आत्म-विमर्श ही कलात्मक विमर्श है"।[४] ऐसा कहने में वे कलावाद की जड़ों को ही पानी देते हैं। यह रचना-प्रक्रिया की वास्तविक स्थिति से दूर की चीज़ हो जाती है।

प्रश्न यह है कि यह चित् है क्या वस्तु? क्या वस्तु के प्रति अपनी प्रत्येक अनुक्रिया में हम उसे प्राप्त करते हैं? हमारा विचार है, नहीं। वस्तु-साक्षात्कार के समय हमारे संवेग स्नायुविकार से ग्रसित रहते हैं। दूसरे, भावावेश शायद अपने में कोई सुखद अनुभव भी नहीं है। अतः ऐसे विषयोन्मुख प्रवर्तन में चित् की तलाश करना वृथा है। यदि अनुक्रिया में बोध का समावेश करें और चित् को चेतना का पर्याय मानते हुए उसे आवेगों का आवेश कहे तो स्थिति कुछ बदलती हुई नज़र आती है। किन्तु विषय में चित् का प्रवर्तन मात्र इतना भौंडा और कुरूप होता है कि उसे किसी को कह नहीं सकते हैं। वह व्यक्ति का अत्यन्त निजी होता है, फिर प्रत्यक्ष अनुभूति का क्षण रचना का क्षण कैसे हो सकता है?

परामर्श (हिन्दी) वर्ष ३, अङ्क ३, जून, १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह अनुभव कितना ही निजी या विषयिगत क्यों न हो, उसकी कोई निरपेक्ष सत्ता भी नहीं होती है। वह तो स्वयं कार्य और कारण-रूप बाह्य परिवेश पर निर्भर करता है (चूँकि उससे प्रकाशित भी होता है) और सतत परिवर्तनशील तथा मात्रक से गुणात्मक परिवर्तन की ओर सक्रिय रहता है। उसमें सदा कुछ मरता और पैदा होता रहता है। हम कारण के बिना कार्य को बता ही नहीं सकते हैं। अतः चित् की ऐसी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है जो अपने होने की अलग से पहचान करा सके।

एक और स्थिति की हम कल्पना कर सकते हैं। जब मैं यह कहता हूँ कि मैं राम से प्रेम अथवा घृणा करता हूँ तो सचमुच मैं ऐसा नहीं कर रहा होता हूँ। वरन् राम के प्रति मुझ में प्रेम या घृणा की प्रवृत्ति घर कर गयी है। यह मेरा संवेगात्मक स्वभाव बन गया है। ऐसे ही अनेकानेक सुप्त-संवेग बाह्य वस्तुओं, विचारों, प्रभावों, मूल्यों, अनुरोधों, आग्रहों एवं सिद्धान्तों आदि के प्रति बन जाते हैं। यह हमारी भावमयता है। मुक्तिबोध ने इसे 'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना' की दशा कहा है। यही हमारा अंतर्जगत् है। दूसरे शब्दों में, यह हमारा बाह्य प्रभावों से संशोधित, सम्पादित एवं सुसंस्कृत अंतर्जगत् है। व्यक्ति-संस्कार भी यही है। इस अंतर्जगत् का निर्माण सतत होता रहता है। यह हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है। और चेतना के स्तर से नीचे रहता है। कभी कभी हमारा यह संवेगात्मक स्वभाव उद्दीपन के प्रति प्रतिक्रिया में प्रस्फुटित भी हो जाया करता है, और कभी नहीं भी होता है। जैसे राम के सामने होने पर प्रेम या घृणा 'मैं' कभी प्रगट कर देता है, कभी नहीं। परन्तु यह दुविधाभोगी अंतर्जगत् रचना का कच्चा माल तो प्रस्तुत करता है किन्तु रचना का क्षण नहीं जुटाता है। क्योंकि राम अभी भी केवल मेरी ही घृणा या प्रेम का विषय बना रहता है। सर्वसाधारण की सम्पत्ति नहीं बनता है। फिर यह अंतर्जगत् वस्तुगत यथार्थ पर निर्भर करता और सतत परिवर्तनशील रहता है। अतः इस अवस्था में भी चित् की कोई एक सुव्यवस्थित मूर्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है।

बाह्य प्रभाव रचनाकार के अंतर्जगत् में निरन्तर फेरबदल करते रहते हैं। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आती है जब राम, जो 'मैं' की घृणा या प्रेम का पात्र बना हुआ था, वह 'मैं' का प्रेरक न रहकर एक अभिनेता की स्थिति में आ जाता है। वह 'मैं' के मन में ही संवेग उत्पन्न करनेवाला नहीं रहता, बल्कि औरों के मन में भी संवेग जगानेवाला हो जाता है। राम का यह अभिनेता में रूपान्तरण उसके समाजीकरण का ही द्योतक है। राम का सामाजीकरण होना ही हमारे संवेग-स्वभाव का समाजीकृत रूप है। यहाँ फिर प्रश्न होता है कि क्या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



संवेदना चित् का पर्याय है ? हम देखते हैं कि राम की स्थिति बदलती है तो संवेदना का रूप भी बदल जाता है। अतः कह सकते हैं कि चित् अपने में कोई स्वयं-सिद्ध सत्ता नहीं है। वह तो स्वयं राम पर निर्भर है। राम की सामाजिक स्थिति बदलती है तो रचनाकार की संवेदना में भी बदलाव आ जाता है। दरअसल चित् को ले कर यह कठिनाई होती है कि अक्सर व्यक्ति के निजी अनुभव अथवा 'राम' के प्रति व्यक्तिगत संवेगों की स्थिति को ही चित् का पर्याय मान लिया जाता है और उसकी निरपेक्ष स्थिति की कल्पना कर ली जाती है। जबकि वास्तविकता बिलकुल इसके विपरीत है। विषय या परिवेश के अनुरूप ही संवेदना आकार प्रकार ग्रहण करती है, उसका अपना कोई विशिष्ट स्वरूप नहीं होता है।

संवेग-स्वभाव का संवेदना में रूपान्तरण कभी भी निष्प्रयोजन नहीं रहता है। 'राम' के समाजीकृत रूप का अंकन एक प्रयोजन बन कर रचनाकार के सामने होता है। वह उसे दूसरों से कहता है। उससे काम नहीं चलता तो किसी अन्य माध्यम की तलाश करता है। रचनाकार ने जिस अद्भुत, रूपवान् एवं शुभ का साक्षात्कार किया होता है, उससे वह संतुष्ट होकर नहीं रह जाता है। इसमें अनुभव के सम्प्रेषण की भावना ही विद्यमान नहीं रहती वरन् दायित्व-बोध भी उससे जुड़ा रहता है। इसी से सर्जन अपने में एक नैतिक कृत्य भी हो जाता है। रचनाकार का दायित्व-बोध जो एक प्रकार से समूह-बोध ही है उसे अपने संवेदना-उद्देश्यों की पूर्ति के लिये मानस-साक्षात्कारों को आकार-प्रकार देने की स्थिति में आता है। इसके लिए उसकी कल्पना आवश्यक उपादानों को जुटाती ही नहीं उनके संयोजन एवं संघटन में सहायक होती है। और यह कार्य विशेष कारीगरी की अपेक्षा रखता है। इसके अतिरिक्त कारीगरी के अपने नियम होते हैं। श्री जगदीश शर्मा ने अपने लेख "सर्जन का अभिप्राय" ५ में इसका बड़े विस्तार से ब्यौरेवार जो व्यावहारिक, तर्कसम्मत एवं शोधपरक विवेचन प्रस्तुत किया है वह निस्सन्देह प्रशंसनीय है। इसपर भी कला संबंधी जिन आदर्शों की स्थापना वे करते दिखायी देते हैं सर्वथा मान्य नहीं हो सकते हैं। उनका कहना है कि, "संगीत, चूंकि मात्र ध्वनि-संरचना है इसलिए उसके लिए वाह्यार्थ-बोध अप्रासंगिक है। इसलिए, अर्थ-मुक्ति की दृष्टि से वह शुद्ध कला का उदाहरण होने के नाते अन्य कलाओं के लिए आदर्श है।" ६ साहित्य भाषा का माध्यम रखने से अर्थ से सर्वथा मुक्त नहीं है। फिर भी उन्होंने शमशेर की 'टूटी हुई बिखरी हुई' और विपनकुमार अग्रवाल की 'लोटन' कविताओं में अमूर्तता के उदाहरण ढूंढ निकाले हैं। और समशेर की 'सींग और नाखून' तथा 'शिला का खून पीती थी' कविताओं से यह भी स्पष्ट किया है कि अमूर्तता के बावजूद वह अर्थ से मुक्त नहीं रह सकती है। इसलिए संगीत सर्वश्रेष्ठ कला है। दरअसल कलावाद की यही अंतिम परिणति है कि वह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



सदा वस्तु-जगत् का निषेध करता है और रचना को रचना से जाँचना चाहता है। इसका अभिप्राय यह है कि वे रूप को वस्तु से ठीक वैसे ही अलग करके देखते हैं जैसे यशदेव शल्य सत् को चित् से अलग करना चाहते हैं। दोनों के लिए वस्तु-जगत् का कोई अर्थ नहीं है। एक के लिए रूप का आस्वाद है तो दूसरे के लिए चित् का। यह नितान्त व्यक्तिवादी मान्यता है। उसके लिए हर वस्तु उपभोग की सामग्री बनती है। वह सदा तत्त्व की निरपेक्षता में विश्वास रखती है, चाहे रूप-तत्त्व हो या चित्। इस प्रकार का व्यक्तिवाद उसे उस समुदाय से काटता है जिस पर वह निर्भर रहता है क्योंकि वह उस वस्तु का ही निषेध करता है जो चित् और रूप दोनों का कारण है। कार्य पर उसकी दृष्टि रहती है जब कि कारण के बिना कार्य होता नहीं है। लगता है अभी भी हम उस सामंती व्यवस्था के शिकार हैं जहाँ, "सहज विकास के अभाव ने मानव-जीवन को अतृप्त और दमित कर दिया था जिससे सामाजिक जीवन अस्वाभाविक और कृत्रिम उपायों से अपनी रागात्मक प्रवृत्ति को तृप्त करने के साधन खोजने में लीन हुआ। उसी की पूर्ति के लिए वैष्णव भक्ति की रागात्मकवृत्ति का जन्म हुआ और वैष्णव भक्त उसे अलौकिक कह कर वास्तविकता पर पर्दा डालते रहे।"[७] अब भी साहित्य यदि रसवाद की महिमा सिद्ध करने के व्यायाम में लगा रहेगा तो अपनी मूल प्रकृति 'सहितस्थ' की भावना का ही तिरस्कार करता जायेगा। अन्यथा अन्य कलाओं के लिए आदर्श-कला संगीत के मूल में हम जाएँ तो वहाँ भी हमें रसतत्त्व से ऊपर समाजतत्त्व की ही प्रधानता मिलेगी। वास्तविकता यह है कि संगीत के स्वर, ताल और लय के पीछे (ब्रोल में भी) वह समस्त घटना-जगत् काम करता है जो संगीत में केन्द्रित हो कर आया है। इसलिये गाने बजाने में संवेदनात्मक उद्देश्य सदा साथ रहा है। धारणा यह रही की नाच-गा कर देवता खुश होते हैं, शिकार मिलता है और खेती उर्वरा होती है। गायन-समारोह के विभिन्न अवसर तथा राग-रागनियों के गाने के निश्चित घड़ी-पहर यही इंगित करते हैं। संगीत के उस उद्गम की आज हम अव-हेलना करते दिखाई देते हैं, लेकिन स्वर या भाव की विशुद्ध की तलाश के पीछे न तो हम इतिहास को झुठला सकते हैं और न वस्तु-जगत् को। इसलिए चाहे संगीत में खोजें चाहे कृति की विषयिगत भावना में; वस्तु-सत्य से उसे अलग कर के नहीं देख सकते हैं। वह तो यथार्थ को उजागर करनेवाला एक साधन मात्र है।

निष्कर्ष रूप में इससे 'भोगित्व-मूलक विषयिगत भावना' के आस्वादन का स्वतः निराकरण हो जाता है और वस्तु-जगत् की प्रधानता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है। यदि हम उर्वशी की कथा पर तनिक विचार करें तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो कर हमारे सामने आता है। उर्वशी की कथा ऋग्वेद में भी आयी है और दिनकर की 'उर्वशी' में भी। किन्तु दोनों के रूप और कथ्य में ज़मीन-आसमान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



का अंतर है। यह बाह्य यथार्थ के प्रभाव के कारण है जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में रचनाकार की चेतना को चिरकाल से गढ़ता आया है, अतः चेतना की निरपेक्षता की बात करना बेमानी है।

११८/२, बलदेव पार्क
कृष्णनगर, दिल्ली– ११००५१

–गोविन्द प्रसाद

## टिप्पणियाँ

१. परामर्श (हिन्दी); खण्ड ३, अंक २ (मार्च १९८२)
२. वहीं
३. वहीं
४. वहीं
५. परामर्श (हिन्दी). खण्ड ३, अंक २ (मार्च, १९८२)
६. वहीं
७. बार्ष्णेय, (डॉ.) रघुवरदयाल; **हिन्दी रंगमंच की भूमिका**, पृ. १४५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-



## ( २ )

परामर्श, वर्ष ३, अंक २ (मार्च १९८२) में सुश्री छाया राय ने अपने निबंध "'शुभ' तथा 'गुड' : तुलनात्मक अर्थ विवेचन" में इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि "'शुभ' का अंग्रेजी अनुवाद 'गुड' समीचीन नहीं है, और 'गुड' का 'शुभ' की अपेक्षा अधिक अच्छा अनुवाद 'अच्छा' है। वे यह भी आग्रह करती हैं कि 'शुभ' के लिए 'हमें आंग्ल भाषा में किसी अन्य सम्यक् शब्द की खोज करना चाहिए अथवा आंग्लभाषियों को अन्य किसी पर्यायवाची शब्द के निर्माण के लिए बाध्य करना चाहिए।'

उपर्युक्त संदर्भ में, मैं समझता हूँ, निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं :–

१. एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद का कार्य सचमुच बहुत कष्ट-साध्य होता है और विशेषकर किसी भाषा के मूल्यसंबंधी शब्दों के लिए किसी अन्य भाषा में पूर्णतः समानार्थक शब्द ढूंढ़ पाना और भी कठिन है– मैं तो कहूँगा लगभग असंभव है। अतः 'शुभ' के लिए यदि कोई सम्यक् शब्द अंग्रेजी में नहीं मिलता तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिलहाल 'शुभ' के लिए अंग्रेजी में 'गुड' का प्रयोग होता है और यही अपनी तमाम कमियों के बावजूद, मुझे ऐसा लगता है, जारी रहना चाहिए क्योंकि एक पूर्णतः समानार्थक शब्द की खोज एक बेमानी खोज है और दूसरे पारिभाषिक पर्यायवाची शब्दों का गढ़ना समस्या का हल नहीं है। उदाहरण के लिए 'ब्रह्म' शब्द के लिए अंग्रेजी में कोई शब्द नहीं है। फिर क्या इसके लिए हम कोई पर्यायवाची शब्द का 'निर्माण' करना चाहेंगे? इससे तो मूल शब्द ही प्रयुक्त किया जाए तो बेहतर होगा।

२. लेकिन 'शुभ' के संदर्भ में स्थिति इतनी खराब नहीं है कि उसके लिए अंग्रेजी में कोई शब्द ही न मिले जिससे आशय स्पष्ट हो सके। 'गुड', 'शुभ' का एक अच्छा अनुवाद है। लेखिका को यह अनुवाद इसलिए पसंद नहीं है कि 'शुभ' का प्रयोग सदैव नैतिक संदर्भ में किया जाता है जब कि 'गुड' का प्रयोग अन्य (निर्नैतिक) संदर्भों में भी होता है। मुझे लगता है ऐसा सोचना भ्रामक है। साधारण भाषा में 'शुभ' के अनेक ऐसे प्रयोग हैं जिन्हें नैतिक नहीं कहा जा सकता और जिनसे सदैव 'कल्याणकारी' का अर्थ भी नहीं निकलता। निम्नलिखित पर विचार करें–

किसी इमारत की आधार शिला रखने के लिए किसी मंत्री महोदय को आमंत्रित किया जाता है। इन्हीं महोदय को इमारत बना जाने के बाद उसके उद्घाटन के लिए भी बुलाया जाता है; और स्वागत-भाषण में कहा जाता है, "यह आपके ही शुभ-प्रयत्नों का परिणाम है कि आज यह इमारत खड़ी हो सकी।" यहाँ स्पष्ट ही 'शुभ प्रयत्नों' के अर्थ में कोई नैतिक संदर्भ नहीं ढूंढ़ा जा सकता। इसी प्रकार 'शुभ परिणाम' भी आवश्यकरूप से 'नैतिक' नहीं



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



होते। 'प्रयत्न' और 'परिणाम' (फल) के रूप में 'शुभ' का संदर्भ निर्नैतिक (अ-मोरल) भी हो सकता है।

इसी प्रकार 'शुभ-दर्शन' सुन्दर या मनोहर अर्थवाची है। इसमें भी अनिवार्यतः नैतिक संदर्भ नहीं है।

शुभ-दिन, शुभ-घड़ी, आदि में भी शुभ का संदर्भ नैतिक न होकर 'शकुन-विचार' है। अंग्रेज़ी में कहें तो ये उपयोग 'एथिकल' न होकर 'ऑस्पिशस' हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि अंग्रेज़ी शब्द, 'गुड' भी कभी कभी इसी, ऑस्पिशस के, अर्थ में प्रयुक्त होता है।

३. लेखिका का मन्तव्य है कि "'गुड' के नैतिक अर्थ को छोड़ दिया जाय (रेखांकन मेरा है) तो हिन्दी में इसका सर्वाधिक उपयुक्त पर्यायवाची शब्द 'अच्छा' है।" इस वाक्य में यद्यपि स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है तथापि यह ध्वनित अवश्य होता है कि 'अच्छा' का संदर्भ सदैव निर्नैतिक है, कि 'गुड' के नैतिक अर्थ से यह वंचित है। किन्तु ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए जब हम किसी आदमी को अच्छा कहते हैं (उसके व्यावसायिक या अन्य किसी पक्ष के संदर्भ में नहीं बल्कि केवल आदमी के रूप में) तो स्पष्ट ही यहाँ 'अच्छा' का नैतिक संदर्भ के अतिरिक्त और कोई संदर्भ नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'अच्छा कार्य' भी नैतिक कार्य ही होता है जब तक कि कार्य के किसी विशिष्ट पक्ष को संकेत न किया जा रहा हो कि वह कार्य-कुशलता या कौशल रूप में अच्छा है।

४ मैं यह मानता हूँ कि 'गुड' के अनेक ऐसे निर्नैतिक प्रयोग हैं जो शुभ के नहीं हो सकते किन्तु फिर भी नीतिशास्त्रीय साहित्य में 'शुभ' का सर्वोत्तम अंग्रेज़ी पर्याय 'गुड' ही है। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि 'शुभ' और 'गुड' दोनों ही शब्दों में मूलतः एक प्रकार की प्रयोजनवादिता है। प्लेटो जब विज्ञानों के विज्ञान (आइडिया ऑफ आइडियाज़) को एक अंतिम सत्ता के रूप में निरूपित करते हैं और उसे 'आइडिया ऑफ गुड' कहते हैं तो इसके पीछे यही आशय है। उच्चतम विज्ञान केवल विज्ञान ही नहीं एक 'आदर्श' (आइडियल) भी है जिसकी ओर समस्त विज्ञान अग्रसर है और इसीलिए इस उच्चतम विज्ञान को उसने 'गुड' की संज्ञा दी है। सुकरात के दर्शन में इस प्रकार जो 'गुड' केवल नैतिक प्रयोजन था, प्लेप्टो में वही विश्व प्रयोजन बन जाता है। 'शुभ' के मूल में भी यही प्रयोजनवादिता स्पष्ट परिलक्षित है। 'शुभ' 'गुड' की तरह 'उत्तम' है जिसे प्राप्त करना वाञ्छनीय है। जिस प्रयोजनवादिता को हम 'शुभ' और 'गुड' के अर्थों में पाते हैं, 'अच्छा' शब्द में कदाचित् नहीं पाते। हो सकता है यहाँ 'शिव' शब्द 'शुभ' से भी अधिक सार्थक हो। वस्तुतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant



वेदान्त में अंतिम सत्ता को जहाँ 'सत्यं' और सुन्दर स्वरूप माना गया है, वहीं उसे 'शिव' स्वरूप भी घोषित किया गया है। किन्तु यदि लेखिका 'गुड' को 'शुभ' का ही एक उपयुक्त अनुवाद नहीं मानती तो 'गुड', 'शिव' के लिए तो, उनके अनुसार, नितांत अनुपयुक्त ही होगा। किन्तु यह स्मरणीय है कि 'शिव' का अंग्रेजी अनुवाद भी-इसी प्रयोजनशीलता के कारण –'गुड़' ही किया गया है।

५. लेखिका ने अपने निबंध में 'गुड' के जो अनेक अर्थों का विवेचन किया है, वह अवश्य ही श्लाघ्य है किन्तु मैं समझता हूँ, कि 'शुभ', 'अच्छा', 'शिव' आदि हिंदी शब्दों की भी अर्थमीमांसा आवश्यक है ताकि इनके विभिन्न प्रयोगों की अर्थछटाएँ देखी जा सकें। यह कार्य फिलवक्त स्थगित करता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि इस दिशा में दर्शन और हिन्दी में समानरूप से अधिकार रखनेवाला कोई विद्वान आकर्षित हो सकेगा।

१९ रामटेकडी एक्सटेंशन,
तेलिया तालाब,
मंदसौर (म. प्र.)

— सुरेन्द्र वर्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# ग्रन्थ–समीक्षाएँ

## ( १ )

कनाल, सत्यवान परशुराम; **निरीश्वरवाद : एक अध्ययन**; देव समाज प्रकाशन, मोगा (पंजाब), १९७३; मूल्य रुपये : १५–००

यह श्री सत्यवान परशुराम कनाल (रीडर, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्व-विद्यालय, दिल्ली) प्रणित एक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक रचना है। यह देव समाज, भोगा (पंजाब) द्वारा वर्ष १९६३ ई में प्रकाशित हुई है और इसे राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स दिल्ली ने मुद्रित किया है। यह पुस्तक ४ भागों और २२ निबन्धों में विभक्त तथा २२९ पृष्ठों में विस्तृत है। इसके प्रथम भाग में ५, द्वितीय भाग में ७, तृतीय भाग में ६ और चतुर्थ भाग में ४ निबन्ध हैं। पुस्तक के अन्त में 'शब्दावली' और 'अनुक्रमणिका' भी संलग्न है, जो अध्येताओं के लिए बेशक बड़े महत्त्व की है। अपने कर्म के प्रति लेखक की निष्ठा एवं जागरूकता ने विषय से सम्बद्ध समस्त उपलब्धियों को जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए उत्साहित किया है। इसमें वैज्ञानिक विश्लेषण, दार्शनिक विवेचन, साहित्यिक सच्चाई, ऐतिहासिक तटस्थता और दुराग्रहरहित अन्तरदृष्टि पर बल दिया गया है। लेखक तथ्यों के वैज्ञानिक परीक्षण और मूल्यों के ध्रुवीकरण में सर्वथा सफल हुआ है। एक सच्चे और सफल शोधित्सु का दायित्व भी यही होता है। निस्सन्देह श्री कनाल अपने दायित्व-निर्वाह में कहीं भी शिथिल और सुस्त नहीं हैं। वे सर्वत्र चौकस और चौकन्ना रहे हैं। बिस और अनुभवी लेखक ने इस पुस्तक के माध्यम से आधुनिक प्रबुद्ध समाज में तीव्रता से बढ़ रही मानवतावादी मनोवृत्ति के जयघोष से संपूर्ण मानव वंश को अवगत कराने की कोशिश की है। सचमुच यह अपने विषय पर एक सफल और बेहतरीन अध्ययन है।

**परामर्श (हिन्दी) वर्ष ३, अङ्क ३, जून, १९८२**

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant



इस पुस्तक के पहले भाग में विद्वान लेखक ने निरीश्वरवाद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डाली है। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में निरीश्वरवाद को लेखक ने मूल्यांकित किया है और इसे विश्व चिंतन का मूल विश्वास ठहराया है। इसके लिए उसने अनेक तर्कों, तथ्यों और आकड़ों का सहारा भी लिया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि :

किसी विश्वास की सत्यता की कसौटी संख्या नहीं, अपितु, तर्क और घटनाएँ हुआ करती हैं। निरीश्वरवाद तर्क और तथ्य दोनों दृष्टियों से एक दुरुस्त विश्वास है। निरीश्वरवाद और जड़वाद एकही नहीं है। जड़वाद निरीश्वरवाद अवश्य है, किन्तु निरीश्वरवाद जड़वाद कदापि नहीं। भारतीय दर्शन की अन्त प्रकृति निरीश्वरवादी है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का भी मूल स्वर निरीश्वरवादी है। निरीश्वरवाद उत्तमोत्तम आध्यात्मिक और नैतिक जीवन के साथ संगत है। यह गुणों की दृष्टि से ही नहीं, अपितु, संख्या की दृष्टि से भी महार्ध है। आधुनिक विश्व में निरीश्वरवादियों की संख्या विपुल है। अस्तु, निरीश्वरवाद नगाधिराज हिमालय की तरह वजनी है।

इस पुस्तक के दूसरे भाग में विद्वान लेखकने ईश्वरवाद की युक्तियों की मीमांसा की है और अनेक तर्कों एवं प्रमाणों का संग्रह कर उसने साबित कर दिया है कि ईश्वर की सत्ता साबित करने में उनमें से कोई भी सक्षम नहीं है। और इस प्रकार उनके खंडन द्वारा वह पाठकों को अपने अभीष्ट की ओर मोड़ने में समर्थ हो गया है, उसका निष्कर्ष है :

ईश्वर और प्रकृति परस्पर विरोधी गुण-धर्मवाले हैं, अतः कदापि एक नहीं हैं। ईश्वरवादियों की भी ईश्वर सम्बन्धी अवधारणाएँ अलग-अलग और परस्पर विरोधी हैं और वे एक दूसरे के मत को खुद मिथ्या साबित कर देती हैं। ईश्वर का अस्तित्व ईश्वरवादियों के किसी भी युक्ति (जगत्कारण युक्ति, आयोजन युक्ति, प्रत्यय सत्ता युक्ति, नीति परक युक्ति और धर्म तथा रहस्यानुभव) से सिद्ध नहीं किया जा सकता। जगत् के आदि कारण के रूप में ईश्वर का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। इसे ठीक मान लेने पर भी इससे चेतन ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। मानव निर्मित वस्तुओं से विश्व के अस्तित्वों की तुलना द्वारा विश्व के निर्माता-ईश्वर- को प्रमाणित करना तर्क संगत नहीं है, अतः सादृश्य पर आधारित आयोजन युक्ति भी व्यर्थ है। प्रत्यय सत्तायुक्ति के बलबूते भी ईश्वर के अस्तित्व को बौद्धिक समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता। हम केवल कल्पना से किसी वस्तु का होना नहीं सिद्ध कर सकते। नीति नियम मनुष्यों के आत्मिक और नैतिक स्वास्थ्य के नियम हैं। ये ईश्वर के बिना भी वर्णित हो सकते हैं। इनके वर्णन में ईश्वर ताकिक दृष्टि से जरूरी नहीं है। धर्मानुभव भी परस्पर विरोधी हैं। ईश्वर के बिना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



भी उच्चकोटि के धर्मानुभव हो सकते हैं। ऐसे अनुभव, जिनमें ईश्वर की अनुभूति समझी जाती है, बच्चे के 'हौवे' विषयक अनुभव की तरह मिथ्या है। अतः इनसे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना व्यर्थ है।

इस पुस्तक के तीसरे भाग में अनुभवी लेखक ने अपने अभीष्ट विषय 'निरीश्वरवाद' की स्थापना में विज्ञान की महती भूमिका का उद्घाटन किया है और विज्ञान द्वारा उसकी स्थापना कराई है। लेखक ने अनेक वैज्ञानिक साक्ष्यों और सिद्धान्तों को अपने विषय के समर्थन में सर्व संगत एवं प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया है। लेखक का निष्कर्ष है :

विश्व के संबंध में सत्यज्ञान का आधार वैज्ञानिक विधि है। विश्व घटनाओं के विषय में कहा गया कोई वाक्य यदि वैज्ञानिक विधि की कसौटी परा खरा नहीं उतरता अथवा इसकी परख की संभावना से परे जाता है, तो वह मिथ्या है। 'ईश्वर है' एक ऐसा ही मिथ्या वाक्य है, प्रकृति के सम्बन्ध में विज्ञान के माध्यम से प्राप्त सत्य ज्ञान भी ईश्वर विश्वास का खंडन करता है। भौतिक विज्ञान के 'द्रव्य-संरक्षण' और 'ऊर्जा संरक्षण नियम' इस बात के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि द्रव्य सदा और समान रूप से आकाश में विद्यमान है। अतः किसी स्रष्टाद्वारा किसी खास समय में उनके सृजित होने का विचार मिथ्या है। प्राकृतिक विश्व स्वयं पूर्ण है। स्वयं में अपनी घटनाओं के वर्णन की योग्यता रखता है। घटनाएँ एक दूसरे से कार्य-कारण श्रृंखला में बँधी होती हैं। अतः देशकाल परिच्छिन्न इस विश्व में पूर्ण और परिवर्तन रहित ईश्वर का असंभव है। वैज्ञानिक विधि में अशरीरी चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है। अस्तु; ईश्वर, जो शरीर रहित चेतना है, एक अवैज्ञानिक अवधारणा है। लाखों-करोड़ो वर्ष का जागतिक जीवन शरीर रहित चेतना का खंडन करता है। विश्व में बुराइयाँ हैं। ईश्वर गुणसंपन्न स्रष्टा है। अतः उसके रहते इस विश्व में बुराइयाँ होनी ही नहीं चाहिए। किन्तु, बावजूद इसके, बुएइयाँ हैं। अस्तु, ईश्वरवादियों के लिए एक मात्र यही निरापद है कि वे मान लें कि ईश्वर नहीं है।

इस पुस्तक के चौथे भाग में श्री कनाल ने ईश्वरवादी आस्था का मनोवैज्ञानिक परीक्षण किया है और इसे एक आदिम विश्वास ठहराते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सफलता पाई है कि :

इस विश्वास की स्थिरता का कारण मनुष्य की मानसिक दुर्बलताएँ हैं। इस सिद्धान्त के समाज में अब भी बने रहने में कोई गुप्त सच्चाई निहित नहीं है। ईश्वर विश्वास के समान ही ब्रह्म की अवधारणा भी अलीक है। इसके खिलाफ प्रबल ऐतिहासिक, तार्किक और वैज्ञानिक साक्ष्य हैं। ईश्वर का विचार एक रूहासोन्मुखी प्रवृत्ति है। ज्यों-ज्यों मनुष्य वैज्ञानिक मनस का होता जाएगा, त्यों त्यों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-



ईश्वर विश्वास उखड़ता जाएगा। अतः निरीश्वरवाद का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

ईश्वर की कल्पना और मान्यता दर्शन की दृष्टि से कल्पना-गौरव के दूषण से दूषित है। ईश्वर न तो तथ्य जगत् की व्याख्या के लिए आवश्यक है। अतः सर्वथा अपदार्थ है।

इस पुस्तक का मूल्य १५ रुपये है जो सर्वथा उचित है। यद्यपि भाषा में यत्र-तत्र कुछ दोष और अशुद्धियाँ भी हैं किन्तु गुणों की तुलना में वे नगण्य हैं। विषय के समर्थन में जुटाए गए प्रमाण और तर्क बड़े दुरुस्त और साबित हैं। लेखन ने उनका उपयोग और विवेचन वैज्ञानिक विधि से किया है। भाषा सम्बधी दोष संभवतः दिल्ली की खड़ी बोली और पंजाबी सिंधी प्रभाव के कारण आ गए हैं। रचना, बावजूद इनके, अपने अभीष्ट को पाठकों तक पहुँचाने में में सफल है। मैं लेखक के सत्साहस एवं विद्वत्ता का प्रशंसक हूँ। यह रचना अवश्य पढ़ी जानी जाहिए।

हिन्दी विभाग — जयंत्री प्रसाद
नेशनल डिग्री कालेज, बड़हलगंज, गोरखपुर।
(उत्तर प्रदेश)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## (२)

नंदकिशोर आचार्य, जल है जहाँ, सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर, १९८०; पृष्ठ : ८०, मूल्य : २० रु.।

जल है जहाँ में संगृहीत कविताएँ रचना-कर्म की कठिनाइयों और रचनाकार के दायित्व, दोनों के प्रति कवि की सचेतता की द्योतक हैं। 'घरौंदा' और 'वह क्या है' जैसी कविताओं में जहां कवि के रचना-संघर्ष को वाणी मिली है, वहाँ 'सुलगते रहे शब्द' कविता में रचना के उपादान की शक्ति का साक्षात्कार किया गया है; फिर भी कवि आत्मगौरव के प्रयत्न में लिप्त कहीं दिखलाई नहीं देता। कारण यह है कि अपने दायित्व का भान उसे बहुत अच्छी तरह है। सामाजिक समस्याओं और मूल्यों तथा आदर्शों का ढोल पीटे बिना उसने अपने परिवेश को आत्मसात् किया है। उसने उसे तात्कालिक दृष्टि से न देखकर व्यापकतर मानव-मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में मानवीय गरिमा के सम्बन्ध से प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि आपत् काल संबंधी जो दो कविताएँ– 'वह रंग' और 'तो तुम्हें क्या ?'– इस संकलन में हैं, उनमें भी गर्जन-तर्जन नहीं है। यद्यपि उक्त दोनों कविताएँ आपत् काल के दौरान लिखी गई थीं और उसी समय पहली बार प्रकाशित भी हुई थीं, फिर भी किसी तात्कालिक प्रतिक्रिया के स्थान पर दमन के विरोध में मानव-स्वातंत्र्य की आकांक्षा कवि की जागती आंखों का सपना बन कर इन कविताओं में व्यक्त हुई है।

मानव-अस्तित्व के प्रति एक प्रकार के गौरव का भाव संग्रह की अधिकांश कविताओं में अंतर्ध्वनित है। सीधे मानव-महिमा के गीत न गाकर कवि ने ईश्वर और मृत्यु के सामने मनुष्य को तन कर खड़े होते देखा है। आचार्य की कल्पना में मनुष्य का तनना ऐंट का पर्याय न रहकर स्वाभिमान का वाचक बना है, इसलिए उसके तनने में कहीं-कहीं हद की विनम्रता भी सम्मिलित है। उदाहरण के लिए, 'साँपिन' कविता में मृत्यु को काल-व्याली के रूप में सम्बोधित करते हुए उन्होंने मानवीय दर्प को समर्पण की भावना के भीतर व्यंजित किया है :

तो लो माँ
ग्रस लो मुझे जब चाहो
तनिक भी इच्छुक नहीं हूँ मैं
तुम्हारी कुण्डली से निकल पाने के लिए



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-



– यदि सम्भव हो भी तो–
क्योंकि मैं अपनी ही संतति को
खाना नहीं चाहता ।

इस समर्पण से दर्प व्यंजित होने कारण यह है कि वह कविता के आरंभ की इन पंक्तियों से संदर्भित है :

साँपिन अंडे देती है
और कुण्डली में घेर लेती उन्हें
और खाती रहती है
अपने ही बच्चों को

मानव-स्वातंत्र्य के लिए सबसे बड़ी चुनौतियां मृत्यु और ईश्वर ही हैं। ईश्वर का आतंक मनुष्य दयनीय बना देता है, लेकिन इस सचाई को सामने रखते हुए भी नंदकिशोर आचार्य ने मनुष्य को हीन नहीं होने दिया है । यदि मनुष्य डरा हुआ है तो इसके लिए उत्तरदायी वह नहीं, ईश्वर ही है :

जब मेरा सिर
तुम्हारे चरणों पर टिका
तुम समझ नहीं पाये
कि यह मैं नहीं,
भय है –तुम्हारा ही दिया–

कवि को ईश्वर की प्रासंगिकता मानव-अस्तित्व में दिखलाई दी है । उसे वह मानव के आविर्भाव से भरा हुआ शून्य नजर आया है :

मैं हुआ
वह बजी
इसलिए यह मान भी लें यदि
कि वह गूंज
कांसे की थाली से नहीं,
मुझ से निसरती है
तो जिसमें गूंजता हूँ मैं
जिसे भरता हूँ
वह आकाश क्या तुम नहीं हो ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मानव-अस्तित्व को काल-मर्यादित मानते हुए नंदकिशोर आचार्य ने उससे मुक्त हो सकने की आकांक्षा से मृत्यु और ईश्वर-जैसी सत्ताओं को मिटते देखना चाहा है। इस कल्पना की निरर्थकता का उन्हें पता है, शायद इसीलिए उसमें अधिक न रमकर उन्होंने मनुष्य की सम्पूर्ण विवशता और निरीहता को सामने रखकर मानवीय स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया है। 'उपकरण' कविता में कवि ने स्रष्टा के स्वप्न से आकार-प्राप्त पाषाणमूर्ति की तुलना में पत्थर के अपने सपने को अधिक मान दिया है।

ईश्वर को दी गई चुनौती कहीं-कहीं गम्भीरता से वंचित रह गई है। यों, इस संग्रह की कविताओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे दार्शनिकता जैसी भारी-भरकम चीज़ से दबी नहीं हैं; लेकिन जब कवि ईश्वर को ललकारते हुए यारांना बेतकल्लुफी पर उतर आया है तब जीवन-बोध लड़खड़ाने लगा है। अच्छी बात यह है कि पूरे संग्रह में ऐसी कविताएँ इनी-गिनी ही हैं।

नंदकिशोर आचार्य की रुचि अलंकरण में नहीं है। अपनी कल्पना को उन्होंने सीधे साक्षात्कार का उपादान बनाया है इसीलिए उनकी कविताओं में आत्म-प्रस्तुति नाटकीय विधान में ढल गई है और प्रस्तुत-अप्रस्तुत का पार्थक्य तिरोहित हो गया है। 'मैं गुफा में हूँ' की स्वप्न-कथा में रूपकात्मकता और प्रतीकात्मकता का भान न होने का यही कारण है।

संग्रह की अधिकांश कविताएँ जीवन-बोध से उद्भूत होने के कारण प्रायः तर्क की विलक्षणता से सम्पन्न हैं। विशेषता यह है कि तर्क कहीं भी तर्क नहीं जान पड़ता; फिर भी कवि जब निष्कर्ष पर पहुँचता है तो यह अनुभव होता है कि जिन स्थितियों के साक्षात्कार से होकर कवि वहाँ तक पहुँचा है, वे वस्तुतः उपपत्ति का उपकरण थीं। तर्क से उपपत्ति तक का संचरण रचना में भाव का उठान बन कर पाठक की चेतना फनफना जाता है। उदाहरण के लिए, 'मैं ही हो गया होता हूँ शब्द' में कवि अपने रचना-कर्म का स्वरूप उद्घाटित कर जब उसके समानांतर ईश्वर से उसके रचना-कर्म के सम्बंध में प्रश्न करता है तो उसके अपने रचना-कर्म का स्वरूप मानव-सृष्टि से ईश्वर के उद्गम का तर्क बन जाता है :

मैं ही हो गया होता हूँ शब्द
फुफकारते हुए समुद्र में भील लिया जाकर भी
सुबह के फूल-सा खिल आता हुआ
फूल में फूटकर
अपने को ही तो रच रहा होता है पेड़ !

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant



अरे !
क्या तुम भी
मुझे रचकर ही
खुद को रच पाते हो ।

यह तर्क-व्यंजना अनुषंगों के मध्य सम्बंध-विधान से निष्पन्न है; लेकिन यह कौशल नहीं है– यह तो रचनाकार की अपनी सर्जनात्मक कल्पना की भंगिमा है।

हिन्दी कविता में इस भंगिमा के दर्शन पहलीबार, शायद, इस कविता-संग्रह में हुए हैं।

हिन्दी-विभाग, — जगदीश शर्मा
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## (३)

दिगे, (डॉ.) अर्हत्दास बण्डोबा; **जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन**; सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, १९८१; पृष्ठ : २+१४+४+४+२५६+१६; सजिल्द; मूल्य : ३० रुपये.

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध 'भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न और विशाल परम्परा में विभिन्न मतवादों या विचारों का अद्भुत समन्वय' (प्रास्ताविक–पृ. क) स्वीकार करता है और यह दिखाने का प्रयास करता है कि यद्यपि 'भारतीय योग-परम्परा में भारत की प्रमुख तीन धाराएँ अन्तर्भूत हैं– वैदिक, बौद्ध और जैन–' तथापि 'कुछ सन्दर्भों में साम्य होते हुए भी तीनों का अपना वैशिष्ट्य है, जिन पर अपनी संस्कृति की छाप स्पष्ट है' (तत्रैव)। शोधकर्ता का प्रमुख उद्देश्य है कि 'जैन योग का एक स्पष्ट स्वरूप, उसकी व्याख्या, सम्बद्ध अवयवों का उद्घाटन यथाशक्य प्रस्तुत किया जाय' (तत्रैव), जिससे प्रस्तुत शोध-निबन्ध के अध्ययन के आधार पर 'भारतीय योग के अध्येताओं को एक सुलझी दृष्टि प्राप्त हो सके, क्योंकि बिना जैन योग का अध्ययन, चिन्तन किये सम्पूर्ण भारतीय योग परम्परा का ज्ञान अधूरा ही रहेगा' (तत्रैव)। जहाँ तक जैन योग का इस प्रकार का परिचय प्रस्तुत करने का सीमित उद्देश्य है वहाँतक ग्रन्थकर्ता उसमें पर्याप्त मात्रा में सफल हुए हैं ऐसा कहा जा सकता है। ऐसा करते समय 'लेखक ने यह भी ध्यान रखा है कि जैन योग के विभिन्न सन्दर्भों में भारतीय अन्य योग परम्पराओं का भी यथाशक्य तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हो' (तत्रैव)।

लेखक के शब्दों में इतने विस्तार से प्रस्तुत ग्रन्थ का उद्देश्य इसलिए पाठकों के सामने रखा कि ग्रन्थ के सम्बन्ध में जिन दो-तीन बिन्दुओं की ओर हम सुविज्ञ पाठकों का ध्यान विनम्रता से आकृष्ट करना चाहते हैं उनके बारे में ग्रन्थ का शीर्षक या उससे जनित प्रत्याशा अवरोधक न बने। ग्रन्थ के शीर्षक से यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकर्ता जैन योग का केवल परिचय या तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं करना चाहते। उनका उद्देश्य है **आलोचनात्मक अध्ययन** प्रस्तुत करना। लेकिन पूरे ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये विचार एक तो परिचय या तो तुलना की सीमा का जैन योग के सम्बन्ध में उल्लंघन नहीं करते। जैन योग का 'स्पष्ट स्वरूप, उसकी व्याख्या या सम्बद्ध अवयवों का उद्घाटन' करते समय हमें यह नहीं बताया जाता कि 'भारतीय योग के अध्येताओं' की दृष्टि जैन योग के अध्ययन के अभाव में किस प्रकार उलझी हुई थी और उसके अध्ययन के साथ कैसे सुलझा जाती है? भारतीय योग-परम्परा की अन्य दो धाराओं में कौनसी त्रुटियाँ थी और उन्हें निरस्त किये



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant



बिना योग के अध्ययन के बारे में हमारे विचार में कौनसी बाधाकारक अपूर्णता रह जाती है इस रहस्य का उद्घाटन अगर हो जाता तो ग्रन्थ के शीर्षक में आनेवाला 'आलोचनात्मक अध्ययन' यह शब्दप्रयोग अधिक सार्थक हो जाता। संक्षेप में कहना हो तो यहाँ वहाँ जैन योग का 'यथाशक्य' तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना माने उसका आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना यह रवैया ग्रन्थकर्ता ने बड़ी सामान्यता से अपनाया है। यह रवैया पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से विवादास्पद है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पहले अध्याय में 'योग-परम्परा की पृष्ठभूमि, योगशब्द एवं उसका अर्थ, योग का स्रोत एवं उसके क्रमिक-विकास पर प्रकाश डालने का प्रयास' (प्रास्ताविक पृ. क) किया गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, स्मृति-ग्रन्थ, भागवत पुराण, योगवसिष्ठ आदि में प्रस्तुत योग(-स्रोत) की चर्चा आयी है। साथ-साथ हठयोग, नाथयोग, शैवागम में योग, पातंजलयोग, अद्वैतवेदान्त में योग, तथा बौद्धयोग का भी परिचय कराया गया है। लेकिन इस चर्चा में क्रमिक विकास का अभिप्राय क्या है? क्या हम यह कह सकते हैं कि जो बात कालौघ में बाद में प्रस्तुत होती है वह उसकी पूर्ववर्ती स्थापना का विकसित रूप होता है? विकास में क्रम अवश्य होता है, किन्तु जहाँ क्रम होता है वहाँ वह विकासशील होना चाहिए इस प्रकार का अविनाभावित्व नहीं दिखायी देता। नहीं तो युवावस्था के बाद वृद्धावस्था आती है इसलिये वृद्धावस्था को युवावस्था का विकसित रूप मानना पड़ेगा। उसी तरह जैन योग कालौघ में पातंजल योग के बाद प्रस्तुत हुआ इस आधार पर उसे पातंजल योग का विकसित रूप मानना विचार की दृष्टि से कष्ट-साध्य है।

**जैन योग**– यह सचमुच क्या चीज़ है? हमें ग्रन्थ में बताया गया है कि योग-विद्या के प्रवर्तकों में महर्षि पतंजलि अग्रगण्य एवं प्रधान आचार्य हैं, और उन्होंने 'योगदर्शन' ग्रन्थ का प्रणयन किया (पृ. ३७)। (पतंजलि का 'योगदर्शन' यह कौनसा ग्रन्थ है?) आगे चलकर हमें यह भी बताया गया है कि 'योग' शब्द के समानार्थक संवर, ध्यान, तप आदि शब्द आगमों में मिलते हैं' (पृ. ३७)। अन्यत्र हमें बताया गया है कि 'महर्षि पतजलि ने जैसे 'योग' शब्द का प्रयोग 'आत्मसाधना' के अर्थ में किया है वैसे 'योग' शब्द का प्रयोग जैनधर्म में आत्म-साधना के लिये नहीं हुआ है। जैन परम्परा में मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहा गया है। यह आस्रवरूप है।' (पृ. ५५)... 'योगसूत्रानुसार चित्त-वृत्तियों का निरोध योग है। संवर शब्द का प्रयो। इसी अर्थ में जैन-परम्परा में हुआ है।' (तत्रैव) यह सभी मतप्रणाली असंगत है। कारण जैन परम्परा में आस्रव और संवर ये दो भिन्न तत्त्व या पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। अगर 'योग' एक ओर आस्रव से और दूसरी ओर संवर से समानार्थक होगा तो क्या आस्रव और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



संवर एक दूसरे से समानार्थक नहीं होते ? क्या यह विचार जैन परम्परा को मंजूर है ? अगर है तो आस्रव और संवर ये दो भिन्न तत्त्व के रूप में स्वीकार ही क्यों किये ? ग्रन्थ के चौथे और पाँचवे अध्यायों में क्रमशः अलग अलग प्रकार के व्रतों तथा ध्यानों की बड़ी विस्तृत चर्चा की गयी है। लेकिन जबतक जैन-योग क्या है ? इस प्रश्न का संगत रूप से उत्तर हमारे सामने प्रस्तुत नहीं होता तब तक इस प्रकार के व्रत या ध्यान माने ही जैन योग यह स्वीकार करना असंभव है।

ग्रन्थ में कुछ ऐसे विचार प्रस्तुत किये गये हैं जिन्हें स्वीकार करना कष्ट-साध्य भी है और विवादास्पद भी– उदाहरणार्थ, 'भारतीय दर्शन का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति है और उसके लिये योगदर्शन, बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शन में क्रमशः कैवल्य, निर्वाण तथा मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है, जो अर्थ की दृष्टि से समान ही हैं।' (पृ. २)। बताया गया है कि गीता में अठारह प्रकार के योग प्रस्तुत किये गये हैं। (पृ. ६) लेकिन उनमें से कतिपय को गीता ने भी योग के रूप में स्वीकार नहीं किया है– उदाहरणार्थ, दैवयोग (गीता– ४/२५), यज्ञयोग (गीता– ४/२८). ब्रह्मयोग (गीता–५/२१), नित्याभियोग (गीता– ९/२२) (तत्रैव) आदि। इस प्रकार आधार ग्रन्थ को भी मंजूर न होनेवाले विचार शोध–ग्रन्थ में प्रस्तुत करना युक्तिसंगत नहीं है। कई जगह पर जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे असंगत हैं– उदाहरणार्थ, '...आध्यात्मिक अथवा आत्मिक विकास-क्रम में ही वैराग्य तथा समताभाव का उदय होता है, जो योग का अंग है।' (पृ. १९०) दूसरी जगह बताया गया है– 'जैन योग की आधारशिला आत्मवाद है और आत्मविकास की पूर्णता मोक्ष है।' आत्मशक्ति का विकास ही जैन-साधना पद्धति (योग) का फलित है।'(पृ. १९७) तथा आत्मसाक्षात्कार अर्थात् आत्मविकास की वह परमस्थिति ही मोक्ष है।' (पृ. २२८)। यहाँ सवाल उठता है: कौन किसका साधन है ? आत्मिक विकास योग का या योग आत्मिक विकास का ? शोध-प्रबन्ध में इस प्रकार की असंगतियाँ उसका अवमूल्यन करती हैं।

इस प्रकार की त्रुटियाँ होते हुए भी जैन-योग का परिचय स्वयं को कराने के हेतु ग्रन्थ एक बार अवश्य पठनीय है।

–मो. प्र. मराठे

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

---

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

---

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

---

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११ ०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran-2

# परामर्श ( हिन्दी )


| | | |
|---|---|---|
| माया दास | न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा दर्शनों की दृष्टि में 'प्रवृत्ति' | १८१ |
| नारायणशास्त्री द्राविड | आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (७) | १९४ |
| संजीवन प्रसाद | धार्मिक आस्था एवं इहलौकिक प्रक्रिया | २०३ |
| कैलासपति मिश्र | काश्मीर शैव दर्शन में स्वातन्त्र्यवाद | २१५ |
| रामजी सिंह | विचारधारा और सामाजिक संघर्ष | २२३ |
| विजयकुमार सिन्हा | सत्तामूलक तर्क और धार्मिक विश्वास | २३० |
| मो. प्र. मराठे | ज्ञान की अपूर्णता | २३७ |
| प्रेम मिश्र | भारतीय दर्शन किस दिशा की ओर ? | २४६ |
| | प्रतिक्रियाएँ | २५० |
| | ग्रंथ-समीक्षाएँ | २५८ |


RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श

( हिन्दी )

खण्ड ३ अंक ४

सितम्बर १९८२

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

# परामर्श ( हिन्दी )

※ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका
※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ※ राजेन्द्र प्रसाद ※ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ※ रमाकान्त सिनारी ※ विजयकुमार भारद्वाज ※ शारदा जैन संगमलाल पांडे ※ आर्. बालसुब्रमणियन् ※ अशोक रा. केळकर ※ के. जे. शहा ※ नारायणशास्त्री द्राविड ※ के. सच्चिदानंद मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन गुप्ता ※ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

| | | |
|---|---|---|
| ( १ ) | संस्थाओं के लिए | रु. १६-०० |
| ( २ ) | व्यक्तियों के लिए | रु. १२-०० |
| ( ३ ) | छात्रों के लिए | रु. ०८-०० |
| | एक प्रति. | रु. ०५-०० |

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# संपादकीय

परामर्श ( हिन्दी ) त्रैमासिक पत्रिका के तीसरे खण्ड का यह अन्तिम अंक है। चतुर्थ वर्ष का प्रथमांक दिसंबर, १९८२ में प्रकाशित होगा। पत्रिका के आगामी खण्डों में उस का वही स्वरूप बनाये रखने की उम्मीद है जो सुविज्ञ पाठकों के सामने गत तीन वर्षों से प्रस्तुत किया गया है। आशा है पत्रिका को व्यक्ति और संस्थाओं के स्तर पर उसी प्रकार का सहयोग मिलता रहेगा जिस प्रकार के सहयोग से पत्रिका अब तक लाभान्वित होती रही है। पत्रिका के स्वरूप के बारे में पाठकों की ओर से कुछ सुझाव प्रस्ताव होंगे तो उनका स्वागत होगा।

इस संपादकीय माध्यम से दो-तीन विन्दुओं की ओर पाठकों का ध्यान विनम्रता से आकृष्ट करना चाहते हैं। पहला, पत्रिका के गत आठ अंकों में 'आत्म-तत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण' प्रकाशित होता रहा। इस प्रकार हर एक अंक में उदयनाचार्य के **आत्मतत्त्वविवेक** के पांच-सात पृष्ठों का भाषान्तर प्रस्तुत करने के बजाय पूरे ग्रंथ का ही भाषान्तर एक अलग ग्रंथ के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का विचार है। पूरे ग्रंथ का भाषान्तर दिसंबर, १९८२ तक प्रकाशित करने की उम्मीद है। सुविज्ञ पाठकों की शुभेच्छाओं से निश्चय ही ईप्सित कार्य में सफलता मिलेगी ऐसा विश्वास है। अतः पत्रिका में **आत्मतत्त्व-विवेक** के भाषान्तर के अग्रिम अंश चतुर्थ खण्ड के प्रथमांक से प्रकाशित नहीं होंगे। आशा है पाठक हमारे इस प्रस्ताव का स्वागत करेंगे।

दूसरा, पत्रिका के अंक कई व्यक्तियों तथा संस्थाओं के पास गत दो-तीन वर्षों से लगातार भेजे जा रहे हैं। व्यक्ति तथा संस्था पत्रिका की सदस्यता ग्रहण कर पत्रिका चलाने के हमारे प्रयास में सहयोग दें ऐसी फिर से एक बार विनम्र प्रार्थना है। लेकिन जो व्यक्ति तथा संस्था पत्रिका की सदस्यता नवंबर, १९८२ तक ग्रहण नहीं करेंगे उनके पास पत्रिका के चतुर्थ खण्ड के प्रथमांक से अंक न भेजना हमारी विवशता होगी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

तीसरा, कई बार कई लेखक अपने लेख, प्रतिक्रियाएँ या ग्रंथ-समीक्षा हस्तलिखित रूप में भेजते हैं। अगर टाइप की हुई प्रति भेजते हैं तो वह भी इतनी अस्पष्ट होती है कि उसे पढने काफी कठिनाई होती है। लेखकों से विनम्र प्रार्थना है कि टाईप की हुई प्रतियां भेजते समय इस ओर ध्यान दें कि उन्हें आसानी से पढा जा सके। अगर हस्तलिखित लेख, प्रतिक्रिया आदि भेजनी हो तो उसका सुवाच्य और सुस्पष्ट होना अनिवार्य है। आशा है लेखक हमारी इस प्रार्थना को उचित रूप में समझेंगे और अपना हार्दिक सहयोग देंगे।

अन्त में सहयोग की पुनश्च एक बार विनम्र प्रार्थना।

—कार्यकारी सम्पादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# 'रहस्यवाद' से 'नवरहस्यवाद' तक : हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में

"रहस्यवाद" शब्द Mysticism का रूपान्तर है, अतः इस मूल शब्द के आशय को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। मूल शब्द का ठीक ठीक रूपान्तर है– रहस्यदर्शिता–रहस्यदर्शन–रहस्यानुभूति। "अनुभूति" शब्द "वाद" से बड़ा है और रहस्यदर्शी को "वाद" नहीं, अनुभूति प्रिय है। वैसे भारतीय परंपरा में "वाद" तत्त्वबोध के इच्छुकों का विचार-विनिमय कहा जाता है, जो "जल्प" और "वितण्डा" से भिन्न होता है। कुछ भी हो, "वाद" बोध पक्ष से, चिंतन पक्ष से जुड़ा हुआ एक बौद्धिक और तात्त्विक निष्कर्ष है। "अनुभूति" उसका अतिक्रमण करती है। सच पूछा जाये तो "रहस्यानुभूति" रहस्य की अनुभूति या रहस्यमयी अनुभूति है। परमार्थतः "अनुभूति" स्वयम् "रहस्य" है। उपनिषद् के ऋषियों का अनुभव है– "यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म"[1] – ब्रह्म या बृहत् तत्त्व साक्षात् अपरोक्ष है– अपरोक्षानुभूति है। अपरोक्ष अनुभूति अन्य सापेक्ष होने के कारण असाक्षात् भी होती है– जैसे आत्म-भिन्न वस्तुओं का अनुभव अन्य अर्थात् इन्द्रिय या मन से होता है– पर बृहत् तत्त्व, ब्रह्म या आत्मा की अनुभूति स्वतः होती है– वह स्वयं प्रकाश है– अपने प्रकाश के लिए अपने से भिन्न की अपेक्षा नहीं करता। वस्तुतः अपरोक्ष (बृहत् तत्त्व) और अनुभूति तात्त्विक स्तर पर एक ही हैं– बृहत् तत्त्व अनुभूति ही है और इसीलिए वह अपने होने में स्वयं प्रमाण है। वह मन और बुद्धि का विषय नहीं है– वह अपना विषय स्वयं है– या कि वह विषय है ही नहीं— विषयी-अनुभूति ही है। रहस्यदर्शियों के अनुभव में आनेवाला अन्य निरपेक्ष स्वयं प्रकाश आत्मतत्त्व बुद्धि के परे होने से मुख्यतः "रहस्य" है– "गुह्य" है। "रहस्य" शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य एक अर्थ है– रहसि भवम्–रहस्यम्–अर्थात् एकांत में सम्पन्न होनेवाला– प्रायवेसी। निष्कर्ष यह कि "रहस्य" शब्द का मुख्य अर्थ में बोधातीत किन्तु अनुभव साक्षिक बृहद् आत्मतत्त्व के लिए और गौण अर्थ में एकान्त साध्य कर्म या भाव के लिए प्रयोग

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ४, सितम्बर, १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-



होता है। दूसरे अर्थ में रहस्य बोधगम्य होकर भी रहस्य रखा जाता है। रहस्यवाद शब्द इन दोनों ही अर्थों को आत्मसात् करता है।

"रहस्यवाद" पर जब हम हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में विचार करते हैं, तब अनेक प्रकार के मतभेद सामने आते हैं। इन मतभेदों के सन्दर्भ में यही नहीं स्पष्ट होता कि रहस्यवाद भारतीय प्रकृति का है या नहीं। इसीलिए रचनाओं को रहस्यवादी कहने में भी एक हिचक पैदा होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मंतव्य है कि भारतीय अध्यात्म और काव्य– दोनों ही क्षेत्रों में रहस्यवाद नहीं है। वस्तुतः शुक्लजी दर्शन के मर्मज्ञ होते हुए भी काव्य को "अध्यात्म" से मुक्त देखना चाहते हैं और बुद्धिवादी बन जाते हैं। बुद्धिवादी चिन्तक होने के कारण वे प्राकृत अंतःकरण के ऊपर किसी अति प्राकृत शक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि भारतीय अध्यात्म में – विशेषकर भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग में– सामान्यतः रहस्यवाद का कोई स्थान नहीं है। भक्तिमार्ग प्राकृत अंतःकरण की भावशक्ति को माध्यम बनाता है और चरमसत्ता के "ज्ञान" या "व्यक्त" पक्ष से जुड़ता है। इस ज्ञात या व्यक्त पक्ष के लक्षणों का निर्देश आचार्यगण अन्तःकरण की दूसरी प्राकृत शक्ति बुद्धि के माध्यम से करता है। भारत में अद्वैतवाद चिन्तन की ही परिणति है। शुक्लजी यह भी मानते हैं कि तत्त्व-चिन्तन से द्वैतवाद तक ही पहुँचा जा सकता है, ब्रह्म के उस अव्यक्त स्वरूप के "साक्षात्कार" तक नहीं, जहाँ अन्तःकरण की रहस्यात्मक पद्धति से योगमार्ग जाता है। अर्थात् योगमार्ग साधनात्मक रहस्यमार्ग तो यहाँ है, पर "ज्ञानमार्ग" या "भक्तिमार्ग" नहीं। भक्ति के क्षेत्र में रहस्य का समावेश उस धारा में होता है जहाँ अध्यात्म में बुद्धि या चिन्तन की दखलंदाजी निषिद्ध है। फलतः इस धारा में "भाव" से ही "ज्ञान" का काम चलाना पड़ता है– जो अस्वाभाविक और रहस्यमय है। यहाँ चिन्तन से प्राप्त होनेवाले "अद्वैत" की तर्क–दर–तर्क नहीं, प्रत्युत भावातिरेक की स्थिति में सहसा उपलब्धि होती है। पैगंबर या मुरशिद भी इसी रहस्यमय तरीके से उन लक्षणों को प्राप्त करते हैं, जिन्हें भारतीय आचार्य चिन्तन के स्पष्ट पथ से प्राप्त करते हैं। इसीलिए शुक्लजी कहते हैं कि जब चिन्तन का क्षेत्र अद्वैत भाव के क्षेत्र में संचरित होता है– तब उच्च कोटि के भावात्मक रहस्यवाद का जन्म होता है। सामान्यतः भारतीय अध्यात्म में "ज्ञान" का काम "ज्ञान" से ही लिया जाता है और भाव का प्रसार इसी ज्ञान के भीतर होता है– अतः यहाँ रहस्यवाद की गुंजाइश ही नहीं है। शुक्लजी को गीता के "भक्त्या मामभिजानाति" का बोध है। वे इसकी अन्यथा व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि इसका तात्पर्य "भक्ति" से मुझे "जानता" है– यह है ही नहीं। इसका तात्पर्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



केवल इतना है कि भक्ति से "जानने" में सौन्दर्य आ जाता है। ज्ञान का काम ज्ञान ही करता है– भक्ति उसमें सुन्दरता ला देती है।

शुक्लजी ने कहा भारत में सामान्यतः भावात्मक–रहस्यवाद या रहस्यवाद नहीं है। "सामान्यतः" कहने का आशय स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि जब वैष्णव भक्ति धारा में सूफियों के सम्पर्क से "माधुर्य" भाव का समुन्मेष हुआ, तब उसके साथ रहस्यमयता भी अनिवार्य और स्वाभाविक रूप से संक्रान्त हुई। अन्य– "दास्यादि" –भावों में वह "प्राइवेसी" नहीं है, एकान्तिकता नहीं है– जो "माधुर्य" में है। इसमें नाता जग या लोक से हटकर एक से ही हो जाता है।

शुक्ल जी इस बात का भी उत्तर देते हैं कि ये भारतीय परम्परा के सगुण–भक्त निर्गुण या अव्यक्त के रूप में राम की चर्चा क्यों करते हैं? वे कहते हैं कि कभी-कभी दास्यादि भाव की भक्ति में भी ब्रह्म के उभयात्मक–सगुण निर्गुण– रूप का उल्लेख होता है, वहाँ अव्यक्त पक्ष का उल्लेख "भाव" के उत्कर्ष के लिए ही होता है– वहाँ आराध्य में इयत्ता के परिहार से जो रहस्यमयता ध्वनित होती है– वह केवल भाव को तीव्र करने के लिए। निष्कर्ष यह कि शुक्लजी सामान्यतः भारतीय भक्ति साधना में रहस्यवाद मुख्य अर्थ में मानते ही नहीं हैं– यदि गौण अर्थ (प्राइवेसी) में लक्षित होता भी है तो वह सूफियों के सम्पर्क से आरोपित है– स्वाभाविक नहीं। अभिप्राय यह कि हिन्दी की मध्यकालीन सगुणधारा में तो रहस्यवाद है ही नहीं, निर्गुणधारा में लक्षित होनेवाला रहस्यवाद विदेशी प्रवृत्ति है। अज्ञात के प्रति भावसंचार अस्वाभाविक ही है।

जहाँ एक ओर एक ख्यातनामा समीक्षक की यह धारणा है, वहाँ लब्धप्रतिष्ठ सर्जक और चिन्तक जयशंकर प्रसाद की उनसे सर्वथा भिन्न। जहाँ शुक्लजी काव्य का अध्यात्म और रहस्य से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते और उसे मनोमय कोश की वस्तु मानते हैं, वहाँ प्रसाद जी की धारणा है कि काव्य का मूल उत्स रहस्यमय है। उनकी दृष्टि में काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है और संकल्पात्मक अनुभूति रहस्यवाद की मुख्य धारा है। काव्य में विकल्प और विश्लेषण के माध्यम से नहीं, प्रत्युत सहसा और समग्र चारुता में सत्य गृहीत होता है।

इस बात पर पदार्थवादी, भाववादी और आत्मवादी– तीनों एकमत हैं कि कविता एक विशेष मूड या मनःस्थिति की उपज है– जो कब और कैसे बन जाती है– कहना कठिन है। इस स्वतः समुच्छ्वसित मनःस्थिति या मूड में स्रष्टा की सजगता की दखलंदाजी कलाकार को अभिमत नहीं है। परंपरा भी इस सत्य की साक्षी है। आनंदवर्धन ने महाकवि का महाकवित्व क्या है– इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा– "प्राक्तनपुण्यपरिपाकवशेनमेषां सुकविनां प्रवृत्तिः तेषां परोपर-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



चिन्तार्थपरिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारः कर्तुं न मुच्यते। भगवती स्वयमेवाभिमतमर्थ-मवतारयति। एतदेव महाकवित्वं महाकवीनाम्।"– अर्थात जिन सुकविजनों की अर्जित पुण्यपरिपाकवश काव्य में प्रवृत्ति होती है, उन्हें चाहिए कि वे दूसरों द्वारा रची हुई बासी सामग्री न लें और स्वयं भी व्यापारशील न हों। भगवती सरस्वती स्वयम् ही अभिमत अर्थ घटित करने लगती है। यही है महाकवि का महाकवित्व। इस उद्धरण से एक तो यह स्पष्ट होता है कि कविता एक पवित्र परिणति है— कृति है। कविवर घनानंद ने इस पवित्रता को ही लक्षित करते हुए कहा–

उर-भौन मैं मौन को घूंघट कै दुरि बैठि विराजति बात-बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सौं सुलसै हुलसै रस-रूप-मनी।
रसना-अली कान-गली मधिव्है पधरावति लै चित सेज ठनी।
घनआनंद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी।

इस कविता में स्पष्ट कहा है कि कविता देवी को (रचयिता की) रसना रूपी सखी सहृदय की चित्तशय्या पर "पधरावती" है। इस क्रिया का प्रयोग देव– प्रतिमा को स्थानांतरित करने के लिए– एक जगह से उठाकर दूसरी जगह रखने के लिए किया जाता है। इससे कविता के प्रति उनकी क्या निष्ठा है– स्पष्ट है। ऐसी कविता के करने में प्राक्तन पुण्य का परिपाक आवश्यक है। आपाततः एक अंतर्विरोध लगता है कि काव्यक्रिया में प्रवृत्त होकर स्वकीय व्यापार से विरत हो जाय– और परम्परागत अर्थ का उदाहरण भी न करे। प्रश्न है कि करे क्या? भगवती सरस्वती किस प्रकार अभिमत अर्थ का उद्भवन करती है?

वस्तुतः चाहे व्यापार जगत् हो, काव्य की रचना हो या अध्यात्म का क्षेत्र हो– सर्वत्र "विसर्जन" ही विशिष्ट सर्जन का मार्ग है। विसर्जन अर्थात् आत्म-समर्पण– समष्टि सत्ता में व्यष्टि सत्ता का विलयन। व्यवहार में व्यक्ति अपनी सत्ता का विस्तार परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व में विलीन करके ही कर सकता है। इसी प्रकार जब किसी अज्ञात कारण से एक विशिष्ट या असाधारण मनोदशा बन जाय, तब सर्जक को चाहिए कि वह अपनी सीमित चेतना को स्थगित या विसर्जित रखे। असीम शक्ति सीमित शक्ति को पचाकर ही सक्रिय होती है। इस शक्ति के जागरण से न जाने क्या-क्या सूझने लगता है और कविता अपरिमेय संभावनाओं की सृष्टि बन जाती है। निष्कर्ष यह है कि कविता इस अज्ञात प्रक्रिया से होती है– ज्ञात स्तर से नहीं की जाती। इसीलिए प्रसाद जी काव्य का सम्बन्ध रहस्यमय मानते हैं परम्परा हस्तावलम्ब देती है।

दूसरी बात यह कि प्रसाद जी का अतिप्राकृत प्रातिभ शक्ति में विश्वास है, जब कि शुक्लजी उसे अस्वीकार करते हैं। ऊपर के विवेचन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



से स्पष्ट है कि प्रसादजी प्राकृत अंतःकरण से ऊपर अतिप्राकृत शक्ति मानते हैं और उसे काव्य का मूल उत्स निरूपित करते हैं। यही वह शक्ति है जिससे सत्य का सहसा साक्षात्कार होता है। इनका अभिप्राय यह है कि इस अतिप्राकृत स्तर पर वैसा क्षेत्र-भेद नहीं है, जैसा प्राकृत अंतःकरण की भावशक्ति और ज्ञानशक्ति में भेद है– एक का काम दूसरी नहीं कर सकती। काव्य या अध्यात्म के क्षेत्र में विसर्जन और तदाधारित रहस्यमयता का प्रवेश श्रीमती महादेवी वर्मा भी मानती हैं– कहती हैं

सुनाई किसने ? पल में तान,
कान में मधुमय मोहक तान,
तरी को ले जाओ मझधार
डूबकर ही जाओगे पार।
विसर्जन ही है कर्णाधार।
वही पहुँचा देगा उस पार।

मंझिल तक पहुँचने के लिए जिसे तुम "तरी" समझते हो, उसे "प्रवाह" में विसर्जित कर दो– प्रवाह ही मंझिल तक पहुँचा देगा। स्रोत में, धार में पड़ जाओ– गंतव्य स्वयं गोद में ले लेगा। निष्कर्ष यह कि इस प्रक्रिया का स्वीकार काव्य और अध्यात्म– उभयत्र निर्बाध रहस्यमयता को प्रवेश देता है।

तीसरी बात यह कि प्रसादजी रहस्यवाद को भारतीय प्रकृति का मानते हैं और तदर्थ अपरोक्षानुभूति, समरसता तथा अहम् से इदम् के समन्वय की साधना आवश्यक समझते हैं। वे मानते हैं कि यह शक्ति का रहस्यवाद भारतीय परंपरा में निर्धारित समय से चलता चला जा रहा है। द्वैतवादी प्रवाह में कहीं यह प्रच्छन्न रहस्य संप्रदाय विच्छिन्न न हो जाय– अतः उसका पुनः प्राकट्य हुआ। उनके अनुसार भारत में दो धाराएँ प्रचलित थीं– विवेकवादी और आनंदवादी। पहले का प्रवर्तक वरुण और दूसरे का इन्द्र। विवेकवाद में दुःखवाद का अस्तित्व था, आनंदवाद में नहीं। पहले में "पर" का और दूसरे में "स्व" का प्राधान्य था। यह "स्व" समरस पर्यवसायी था। यह "समरस" लीला के लिए अपनी "शक्ति" को अपने से पृथक् कर अणुभावापन्न होता है– "बोध" को "स्वातन्त्र्य" से और "स्वातन्त्र्य" को "बोध" से पृथक् करता है। बोध ही प्रकाश है और स्वातन्त्र्य ही विमर्श। स्वरूपपरामर्श करती हुई विमर्श शक्ति ही आनंद है– चाहे व्यवहार हो काव्य हो या अध्यात्म। आगमों में इसीलिए कहा गया कि आनन्दोच्छ्वसित शक्ति ही अपने से अपनी सृष्टि करती है, विश्वात्मना रूपान्तरित होती है। शक्ति ही आनंद का स्रोत है– यह द्वैतविरोधी अद्वैत को नहीं, द्वैतग्राही अद्वैत का पक्षधर.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है। इसीलिये शक्ति धारा से भिन्न है। वह शक्तिधारा विवेकवादियों के दुःखवाद से असहमत है। चिंतन के इस आलोक में प्रसाद जी की कुछ विलक्षण मान्यताएँ हैं। वे मानते हैं कि सगुणवादी रामधारा तो स्पष्ट ही विवेकवादी है। कृष्णाश्रयी काव्यधारा के संबंध में उनका खयाल है कि द्वैतमूलक उपासना के बुद्धिवादी प्रवर्तक भागवतों ने गोपियों में जिस विरह की स्थापना की, वह परकीय प्रेम के कारण दुःख के समीप अधिक हो सका और उसका उल्लेख भागवत में विरल नहीं है। प्रसाद जी बौद्ध सिद्धों को हिन्दी का आदि रहस्यवादी कवि मानते हैं और मानते हैं कि ये आनंदवादी धारा के सहजोपासक थे। साधना और कवित्व –दोनों ही दृष्टियों से कबीर आनंदवादी सिद्धों की परंपरा में आते हैं। सगुण राम विशुद्ध विवेकवादी धारा, सगुण कृष्ण विवेकवाद–आनंदवाद की मिश्र धारा और विवेकवादी धारा का अवलंब ले कर भी कबीर विशुद्ध आनंदवादी सिद्धों की धारा के अधिक समीप थे। उनकी दृष्टि में रहस्यवाद के इस प्रभाव से तुलसी भी आक्रांत थे, अन्यथा "अस मानस मानस चख चाही" न कहते। रहा सुफी मत– सो उसके संबंध में प्रसादजी का विचार है कि यह वह विचारधारा है जो अरब और सिंध का परस्पर संघर्ष होने के बाद उत्पन्न हुई।

इस प्रकार जहाँ शुक्लजी भारतीय प्रकृति में रहस्यवाद नहीं मानते, वहाँ प्रसादजी उसका अस्तित्व अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं और उसे आगम सम्मत शक्तिवाद से जोड़ते हैं। उनकी दृष्टि में हिन्दी का आदि रहस्यवाद सिद्धों में है और वहाँ आनंद का जो समुच्छ्वसित स्तर है– मध्यकाल की भक्तिधारा की चारों शाखाओं में वह उस स्तर पर अनुपलब्ध है। प्रसादजी निर्गुणधारा के रहस्यवाद को न तो विदेशी मानते हैं और न ही सगुणधारा में उसके प्रभाव का अस्वीकार। हाँ, आनंदवाद का वह समुज्ज्वल नहीं– जो सिद्धों में है।

जहाँ तक मेरा विचार है– मेरी धारणा का संबंध है, मैं मानता हूँ कि भागवत धारा ने "भक्ति" को पंचम पुरुषार्थ के रूप में जब "साध्य" घोषित किया, तब वह अंतःकरण ही नहीं, माया और महामाया की भी वृत्ति नहीं है, वह आगम प्रतिपाद्य "समरस" तत्त्व की "शक्ति का ही नामांतर है और तब "भक्त्या मामभिजानाति"– शब्दशः सत्य है। उसकी शुक्ल–सम्मत अन्यथा व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। रसमय शक्तिमान अपनी स्वरूपभूता अंतरंगा निजाशक्ति से ही स्वरूप परामर्श करता है– और यह स्वरूप– परामर्श ही आनंद है। आगम की धारणा है कि जब तक अविद्यामूलक अहंकार तदाधृत कर्तृत्वबोध है तब तक "कर्म" ही होता है। कर्तृत्वबोध सापेक्ष समस्त क्रिया "कर्म" है, "भाव" नहीं। "कर्म" किया जाता है, "भाव" हो जाता है– होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



पहले में कर्ता की अपेक्षा है और दूसरी में अनपेक्षा। भाव ही पुष्ट होकर महा-भाव होता है और वही ल्हादिनीवृत्ति है– भक्ति है–शक्ति है। इस प्रकार जो भक्ति-साहित्य है– वह शक्ति-साहित्य और इसकी स्रोत-शक्ति वाङ्मनोगोचर नहीं है– उससे परे है। शुक्ल-सम्मत प्राकृत अंतःकरण की वृत्ति भक्तिधारा के साहित्य का उत्स नहीं है– है तो भी तो उस अवाङ्मनोगोचर भक्तिरूपा शक्ति के व्यंजक रूप में उपचारतः। अतः उस उत्स से प्रस्फुटित साहित्य रहस्यमयी अनूभूति का ही समुच्छलन कहा जायेगा। फलतः यह सब रहस्यवाद की परिधि में आएगा।

(क) रामधारा के गोस्वामी तुलसीदास जी स्पष्ट कहते हैं–

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जाने सोइ जेहि पै बनि आई॥

"भक्ति" शक्ति की अभिव्यक्ति है– उसका संबंध करने से नहीं, स्वभाव से है। स्वभाव में ही बीज निक्षिप्त होता है तब तो "बन" गई, "हो" गई, अन्यथा प्रयत्न से अर्जित नहीं की जा सकती। इसीलिए भक्ति को उन्होंने स्वतंत्र माना है और ज्ञान–विज्ञान को उसके अधीन। शुक्लजी काव्यरस और भक्तिरस की एक ही प्रक्रिया मानते हैं और कहते हैं कि शब्द से ज्ञात अर्थ का कल्पना से विभन होता है और बिम्बात्मक अर्थ भाव को स्पंदित कर आस्वाद-गोचर करा देता है। गोस्वामीजी कहते हैं- "अस मानस मानस चख चाही"– जिससे "रसविशेष" का आस्वाद संभव है। अविरल प्रेम भगति में मग्न "रसमय राम" का साक्षात्कार कल्पना से नहीं, समाधि से करता है और घट के भीतर करता है– हृदयव्योम में। क्या यह भक्ति की वही स्वाभाविक क्रिया है, जिसकी चर्चा शुक्लजी करते हैं? क्या यह अंतःकरण की प्राकृत शक्ति से संभव है? राम जनकपुरी तथा वनपथ पर अनूढा और परोढा नारियों के जब दृष्टि-भाजन बनते हैं और मुखारविंद के सौंदर्य में मग्न करते हैं– तब वहाँ कौन-सा भाव माना जाय? दास्य? नहीं, माधुर्य ही संभव है, दास तो चरणारविंद का उपासक होता है। इस प्रसंग में यह कहना कि "बिलोकहू री सखि! मोहिं सी ह्वै" कोई अर्थ नहीं रखता? राम का रसमय रूप तुलसी की आँख से ही देखा जा सकता है- यह आँख कोई और ही आँख है, खंभे को फाड़कर प्रकट होने वाले नरसिंह को देखने वाली आँख नहीं है। इस धारा की रसिक शाखा की रहस्यमयता तो प्रश्नातीत है ही। काव्यरस या प्राकृतरस से पार्थक्य बताते हुए गोस्वामीजी ने कहा है कि भक्तिरस रसविशेष है– जहाँ विषयसंपर्कजन्य कोई कड़वाहट नहीं है, जबकि काव्यरस में विषय संपर्क है। कहा गया है–

"बिनु हरि भजन इंदारुन के फल तजत नहीं करु आई।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



(ख) कृष्णाश्रयी धारा के सूरदास ने अपने भक्तिरस के विषय में भी स्पष्ट घोषणा की है और सामान्य काव्यास्वाद से उसका दर्जा बढ़ाकर बताया है साथ ही अवाङ्मनोगोचर होने से रहस्यमय भी।

"परम स्वाद सबहीं जु निरंतर अमित तोष उपजावे।
मन बानी को परम अगोचर जो जानें सो पावै॥"

स्पष्ट ही काव्यरस यदि आस्वाद है– अनुभूत (वासना) की अनुभूति है, तो भक्तिरस "परमास्वाद" है। पहला वाङ्मनोगोचर है, दूसरा अवाङ्मनोगोचर। अतः इसकी रहस्यमयता और काव्यरस से भिन्नता स्पष्ट है। शुक्लजी का यह कहना भी साम्प्रदायिक दृष्टि से असंगत है कि इनमें प्रतिफलित "माधुर्य-भाव" सामी या सूफी मत का संपर्कज प्रभाव है, यहाँ की सगुणधारा में माधुर्य-भाव स्वाभाविक नहीं आरोपित है।

प्रसंग है इसलिए यह भी बता दूं कि "भाव" शब्द का प्रयोग तीन स्तरों पर होता है– व्यवहार, काव्य तथा अध्यात्म। तीनों स्तरों पर प्रयुक्त होने वाले "भाव" शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न है। व्यवहार स्तर पर प्रयुक्त "भाव" का मनोविज्ञान सम्मत स्वरूप है— प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्ति प्रवृत्ति-- तीनों का गूढ़ संश्लेष। काव्यास्वाद के संदर्भ में भरत-सम्मत "भावन" या "वासन" भाव का लक्षण है। वहाँ वह "भाव" इसलिए कहा जाता है कि सहृदय के हृदय को भक्ति या रचयिता के भाव से वासित करता है। अध्यात्म के स्तर पर "भाव" वह प्रकृतिनिक्षिप्त बीजभाव है जिसका उल्लेख अविद्याति-वृत्ति के बाद होता है जो विकसित होकर रसरूप में परिणत होता है।

कृष्णाश्रयी धारा में लीला रूप से तीन ही रस संभव हैं– सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। कारण, लीला में तीन ही वर्ग हैं– सखा, गोपी तथा नंदादि गुरुजन। एक ही सत्ता इन रूपों में विभक्त होकर विभिन्न भावभूमियों की रसमयी लीला करती है– भक्त इन्ही से तद्भावापन्न होकर परमास्वाद लेते हैं। सूर नंदभावा-पन्न होकर भक्ति करते थे– यह कहीं से भी प्रमाणित नहीं। उन्मद श्रृंगार का वर्णन कर लेते हैं, अतः "असंकोच" मूलक "सख्य" भाव की उपासना है– यह तर्क भी कमजोर है। कारण, फिर तो उन्मद श्रृंगार–वर्णन के कारण कालिदास में भी शिव के प्रति सख्य भाव मान लिया जाय ? वल्लभाचार्य का सिद्धांत है कि कृष्णरस का पान "गोपी-भाव" की आन्तर चक्षु उन्मीलित होने पर ही संभव है। प्रसिद्धि भी है कि सूर की अंतिम चेतना राधाभावापन्न हो गई थी। ये सब बातें माधुर्य भाव की उपासना सिद्ध करती हैं– इसे सूफी संपर्क का परिणाम मानना अयुक्तिसंगत है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



कृष्णाश्रयी धारा में अप्राकृत स्तर पर होने वाली रसानुभूति की गहरी विवेचना उपलब्ध होती है। प्राकृत स्तर के आस्वाद से उसका अंतर तीन बिंदुओं पर विचारा जा सकता है– मूलभाव (स्थायी), प्रक्रिया तथा परिणति। भक्ति-शास्त्र तथा काव्यशास्त्र– उभयत्र बताया गया है कि स्थायी भाव ही पुष्ट होकर रस बनता है। काव्यशास्त्र में आस्वाद की व्याख्या आत्मवाद और तन्निरपेक्ष– उभयविध भूमियों पर हुई है। पहली भूमि पर कभी स्थायी को और कभी चित् को प्रमुखता दी गई है। आत्मवाद निरपेक्ष भूमि पर "वासना" ही अ-व्यक्तिगत रूप में अनुभूतिगोचर होकर आस्वाद्य मानी गई है। पर आत्मवादियों की भाँति अनिवार्यतः आनंदमय नहीं। जहाँ तक भक्तिशास्त्र का संबंध है– वह निर्विवाद आत्मभूमि ही है। यहाँ "स्थायी" और "रस" के संबंध में अनेकविध मत मिलते हैं– (क) संप्रदाय मानता है कि बीजभाव परमात्मा सृष्टिकाल में ही जीव में विस्फुल्लिंग में रूप में निषिक्त कर देता है। जिसमें यह भाव से ही विद्यमान है– उसे ही एक विशिष्ट प्रक्रिया से अवाङ्मनोगोचर रसानुभूति हो सकती है। (ख) भागवतगुणगानश्रवण से अंतःकरण की वृत्ति भगवदाकार होती है– अंतश्चेतना की तदाकार परिणति होती है, पश्चात् संस्कारशेष अप्राकृत आलंबन ही स्थायीभाव बन जाता है। (ग) तीसरा पक्ष यह कि "शक्ति" ही "भक्ति" है जिसकी अभिव्यक्ति स्वरूपबोध के बाद वृत्ति द्वारा होती है। श्रवण-मनन आदि के द्वारा "दासोऽहम्" यह शुद्ध बोध (शुद्ध अहंता-ममता संवलित) निवृत्त हो जाता है। तदनंतर अक्षर ब्रह्म नामक इष्ट धाम में उसका प्रवेश होता है– "भाव" (स्त्रीभाव) दृष्टि का उन्मेष होता है। इस दृष्टि की प्रगाढ़ता से और भगवान के असाधारण अनुग्रह-शुद्ध पुष्टि-से लीला रस प्रकट होने लगता है। भाव का ही सान्द्ररूप महाभाव– ल्हादिनीवृत्ति रूप राधाभाव– है। रसरूप ब्रह्म का आस्वाद इसी शक्ति-समुन्मेष से संभव है। लीला राज्य का प्राकट्य होने पर भगवान भक्त के वासनाधीन होकर इयत्ताहीन आस्वाद वैविध्य प्रदान करते हैं। इसी क्रम को यों कहा गया है–

प्रथम ज्ञान, विज्ञान दुतिय मति, तृतिय भक्ति को भाव।
सूरदास सोई समष्टि करि व्यष्टि चित्त मन लाव॥

श्रवणादि द्वारा "ज्ञान" अनुरूप मनन तथा निदिध्यासन द्वारा स्वरूपबोध का "विज्ञान", तदनंतर "भाव" का उदय होता है। भाव के सान्द्र होने से लीला का प्राकट्य– अर्थात् समष्टिरूप कृष्ण में व्यष्टि आराधक की चेतना का लय हो जाता है– लीलारस का आस्वाद होने लगता है। ऊपर जो "स्थायी" के विभिन्न रूपों का उल्लेख किया गया है– उनको देखकर ऐसा लगता है कि जैसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्थायीभाव और रस के स्वरूप निर्धारण में कोई अराजकता है। पर विचार करने पर ऐसा कुछ नहीं लगता। भागवतगुणगानश्रवण से निर्मित वृत्ति या तत्प्रतिष्ठित भगवदाकार की व्यंजक होने के कारण और "भाव" या "शक्ति" तो अभिधा में स्थायी है। लीला के स्तर पर "शक्ति" का "रसमयकृष्ण" से स्वेच्छया विभाजन है– तत्त्वतः दोनों एक ही हैं– अतः भक्ति ओर रस– दो कैसे ?

निष्कर्ष यह कि आचार्य शुक्ल सम्मत प्राकृत स्तर की भावभूमि से संप्रदाय-सम्मत अप्राकृत स्तर की भावभूमि सर्वथा भिन्न है। प्राकृत स्तर पर आस्वाद के लिए साधारणीकरण आवश्यक है, अप्राकृत भूमि पर अनावश्यक है। वहाँ तो गुणगानश्रवणकाल में ही समाधि लग जाती है। प्राकृत स्तर पर अशुद्ध वासना है, अप्राकृत स्तर पर शुद्ध और स्वारसिकी। प्राकृत स्तर का रस लौकिक वासना का पुनरास्वाद है। अप्राकृत स्तर पर चिदानंदमय रस का अपरोक्षीकरण है। प्राकृत स्तर पर भोक्ता की परिमित-प्रमातृता विगलित हो जाती है– स्त्री-पुरुष का भेद भी विगलित हो जाता है, पर भक्ति के परमस्वाद में पुरुष में भी स्त्री-भाव का समुन्मेष आवश्यक है। भक्तिरस में भक्त गोपीभाव से भोक्ता है ओर चिदानंदमय लीलामय पुरुषोत्तम भोग्य। भक्त द्रष्टा रहकर भोक्ता है– इसलिए इस काल में भी कृष्ण का समष्टि रूप और जीव का व्यष्टि-रूप अक्षत रहता है। प्राकृत रस में यह सब नहीं रहता। एक संयोग का रहस्यमय चित्र है–

प्यारी उठि प्रिय के डर लागी।
अलस अंग, लटक लट छूटी, देखि स्याम बड़भागी।
सुरत मौन निसि बीती मानौ हसनि प्रस्त भयौ जागी।
अति सुख कंठ लगाइ लई हरि अरस परस अनुरागी॥

स्पष्ट है कि यहाँ काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्राकृत स्तर पर होनेवाली प्रतीति अपनी ही लौकिक वासना का जागरणात्मक आस्वाद है। रहस्यशास्त्र में कहा गया है– "क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते।" प्राकृत तथा अप्राकृत– उभयविध स्तरों पर क्रिया एक ही होती है– अंतर केवल इतना है कि एक जगह अदिव्य और दूसरी जगह दिव्य काम होता है। "ज्ञान" से "भक्ति" का यही तो वैशिष्ट्य है कि भक्ति में चिदानंदमयलीलासहित श्रीकृष्ण भक्त के सर्वेन्द्रिय का भोग्य होता है– इन्द्रियवर्ग का भोग्य होता है– जो कल्पित द्वैत की भूमि पर संपन्न होता है। म. म. कविराज गोपीनाथ का कहना है– "पुष्टि भक्त 'सायुज्य' की आकांक्षा नहीं करते। वे कहते हैं कि ब्रह्मानंद में प्रविष्ट होने पर भक्ति का विलास संभव नहीं होता। सायुज्य ब्रह्मानंद का ही नामांतर है। भिन्न रूप में स्थिति के बिना अनुभव रस स्फुरित नहीं होता, इस कारण पुष्टि भक्त सायुज्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



नहीं चाहते । सायुज्य प्राप्त भक्तों को भी परमानंद का अनुभव होता ही है– इसमें संदेह नहीं । किन्तु उन्हें यह अनुभव अपने स्वरूप में ही प्राप्त होता है, इन्द्रियवर्ग के भोग्य रूप में नहीं । दूसरी ओर नित्यलीला में प्रविष्ट भक्त इस एक परमानंद का अपने स्वरूप या आत्म स्वरूप में तो अनुभव करते ही हैं– इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों द्वारा भी उन-उनके भोग्य रूप में अनुभव करते हैं । इसलिए पुष्टि भक्त स्वरूपान्तः पान रूपी सायुज्य नहीं चाहते । उन्हें नित्यलीला में प्रयास करना ही एकमात्र प्रार्थनीय जान पड़ता है ।" (श्रीकृष्ण प्रसंग– पृष्ठ ३४३)

इस धारा में "वियोग" संभोग शृंगार का लौकिक वियोग की भाँति प्रतिपक्षी नहीं है– इसीलिए "ऊधौ, विरहौ प्रेम करे"– कहा गया है । विरह भी प्रेम का पक्षधर है– विपक्षी नहीं । दासभाव से लीलाराज्य में प्रवेश और स्त्रीभाव से योग प्राप्त कर चिरवियोग के प्रति जागरूक हो उठता है और संभोग की पीठिका में दबा हुआ यह चिरवियोगभाव आनंद को अगणित कर देता है । इसीलिए परमविरहासक्ति को गोपीभाव की चरमनिष्पत्ति माना जाता है । इस चिरविरह का तिरोभाव तब होता है– जब भक्त ब्रह्म का आश्रय पा लेता है ।

कृष्णाश्रयी धारा में यह रहस्यमयता (प्राइवेसी) माधुर्य के उत्कर्ष के साथ उत्तरोत्तर और गहरी और प्रगाढ़ होती गई है । भावना के धरातल पर भक्तों में यह विचार आया कि "आस्वाद" "स्वसुख" में है "तत्सुख" में– अपने सुख में सुख उत्कृष्ट है या उनके सुख में । भावुक भक्तों ने तय किया "उनके सुख में" "तत्सुख सुखित्व"– बड़ी बात है । अतः उस लीलाराज्य में "रसरूप राधाकृष्ण" के सुख में योग देकर भक्त का सुखी होना बड़ी बात है । इस भूमि पर "सखीभाव" की साधना का प्रवेश हुआ । डा. गोवर्धननाथ शुक्ल का विचार है कि साधना का यह पक्ष स्वामी हरिदास के संपर्क का प्रभाव । स्वामी हरिदास सूरदास के समय में वर्तमान थे । अष्टछाप अष्टसखा के अवतार माने जाते हैं । परंपरा में माना जाता है कि ये दिन में सखा और रात्रि में सखीभाव का अभिमान रखते हैं और स्वामी तथा स्वामिनी के सुख में योग देकर "तत्सुख सुखी" होते हैं । यह सखी भाव उत्तरोत्तर गहरा होता गया और अनन्य नृपति स्वामी हरिदास जी के प्रति विहारिनदासजी के शब्दों में यह स्थिति हो गई कि जहां एक चना में दो दाल के रूप राधा तथा कृष्ण की कल्पना थी– वहाँ एक चना में तीन दाल की भावना हो गई और उन तीन में स्वामीजी की भी गणना होने लगी । अप्राकृत रस जहाँ पहले "ब्रज-रस के नाम से स्मरण किया जाता था, वहाँ वह निम्बार्क मतानुसार "वृंदावन रस" तक सिमटकर प्रगाढ़ हो गया और स्वामी हरिदासजी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



की दृष्टि में "नित्यविहाररस" तक सिमट कर और भी प्रगाढ़ हो गया। इसी-लिए स्वामीजी को अनन्यरसिकनृपतिशिरोमणि कहा गया। रस की रहस्यमयता का यह चरम स्वरूप माना गया।

"प्रसाद" जी की यह धारणा वजन रखती है कि पूर्वांचल की शाक्त-भक्ति-धारा के "राधाकृष्ण" "स्व" हैं और मध्यदेशीय वैष्णवधारा के "राधा-कृष्ण" "पर" हैं। इसीलिए कविराज गोपीनाथ का मत है– "भक्ति तत्त्व के रहस्य का वैष्णव सहजिया जनों ने जितना विश्लेषण किया है, उतना अन्यत्र नहीं देखा जाता। बौद्ध वज्रयान एवम् सहजयान किस प्रकार परवर्ती युग में वैष्णव सहज सिद्धान्त के रूप में आविर्भूत हुए– इसका विवरण ऐतिहासिक आलोचना का विषय है।" (श्रीकृष्ण प्रसंग, पृष्ठ– ३७६) इस मत में परमार्थ तत्त्व का नाम "सहज मनुष्य" है– इसीलिए चण्डीदास ने "सबार ऊपर" कहा है। स्वत: सिद्ध या नित्य मनुष्य के रूप में भी यह जाना जाता है। यह अप्राकृत नराकार-राधाकृष्णमय युगबद्ध रूप है। ये शरीर से दो पर आत्मा से एक हैं। इस सहज मनुष्य की साधना अत्यंत जटिल और गुह्य है। यह साधना सांप्रदायिक वैष्णवों में नहीं है– है भी तो अत्यंत गुप्त। यहाँ साधक अपने "रूप" पर राधाकृष्ण के "स्वरूप" का "आरोप" कर साधना में प्रवृत्त होता है और "सहज मनुष्य" का रसमय संधस्त पाता है। गौडीय मत वालों का सहजियों से संपर्क था और संभव है बहुत से प्रभाव भी हों। कहा तो यहाँ तक जाता है कि मथुरा में केवल "कृष्ण" थे– "शक्ति" रूप में "राधा" का प्रवेश चैतन्यमतानुयायियों ने वृंदावन में कराया। आज भी मथुरा में कृष्ण और वृंदावन में राधा का महत्त्व है। निष्कर्ष यह कि मध्यदेशीय वैष्णवसाधना में "पर" का प्राधान्य होने से दु:खवाद और विरह का अनुप्रवेश हुआ। पर पूर्वांचल में "स्व" को केन्द्र में रखकर जो अद्वैतीशाक्त धारा है- उसमें प्राप्य को पाने की तड़प नहीं है। सह-जिया कहते हैं "रूप" हीं "स्वरूप" है, पर कर्म-जन्य आवरण "रूप" का अन्यभावभास कराता है– आसक्ति की डोर कट जाय– तो "रूप" का "स्वरूप" अपरोक्ष हो जाय। अप्राप्ति तक तड़प होना संभव है, पर प्राप्ति के बाद भी पीठिका में विरह बना रहता है और संयोग सुख को बढ़ाता है– यह भावना मध्यदेशीय वैष्णवों में ज्यादा दृष्टिगोचर होती है। इस धारा से जुड़े हुए कबीर कहते हैं– "तन पाया तन बीसरा, जब मन धरिया ध्यान।

तपन गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनाग॥"

इसलिए कबीर की रहस्यमयी प्रेमसाधना में शाक्त आनंद धारा का सिद्धों से होता हुआ विशुद्ध प्रवाह और कृष्ण भक्तों में शक्तिवाद के प्रवेश से मिश्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रवाह– की बात प्रसादजी भी कहते हैं।

(ग) शुक्लजी निर्गुणधारा में प्रवाहित रहस्यमयता का स्रोत अभारतीय बताते हैं– प्रसादजी भारतीय। कबीर को तो उन्होंने स्पष्ट ही सिद्धों से होती हुई चली आती शक्तिवादी "स्व" केन्द्रक आनंदधारा का स्नातक माना है। विरह की बात कबीर में भी है– उन्होंने स्पष्ट ही कहा–

यह तन जालौं मसि करूं ज्यू धुआं जाइ सररिग।
मति वै राम दया करैं बरसि बुझावै अग्गि॥

लेकिन स्वरूपोपलब्धि के बाद भी विरह की व्यंजना हो– ऐसी नहीं।

(घ) सूफियों में प्राप्त तत्त्वों का स्रोत भारत ही है– प्रसादजी ने "रहस्यवाद" शीर्षक निबंध में स्पष्ट किया है। उनका विचार है कि सूफीमत में प्राप्त अद्वैततत्त्व का संक्रमण अरबों का सिंध से संपर्क होने के बाद हुआ। सामीमतों में "अद्वैत" का स्वर है कहाँ ? वह हो भी तो अपराध माना जाता है। यह तो मुहम्मद साहब के शतकों बाद चिंतन ने प्रवेश किया और "तौहीद" की अद्वैती व्याख्या की गई। क्रिश्चियन रहस्यवाद में यूनान की अद्वैती चिंता धारा व्याप्त है। कविराज जी की धारणा है कि चैतन्यमत, त्रिपुरामत तथा प्रत्यभिज्ञा का सूफीमत से अद्भुत साम्य है। जायसी जब कहते हैं–

"आपुहिं आपु जो देखन चहा।
... ..... .....
आपुहिं घट घट मंह मुख चाहै।"

तो अद्वैतपरक आगमसम्मत चरम सत्ता के विश्वात्मक और विश्वातीत रूपों का स्मरण हो आता है और स्मरण हो आता है– आत्मप्रसार के माध्यम से आत्मरमण की लीला का। रहा यह कि कबीर और जायसी में "भावना" ज्ञात के परे "अज्ञात" (हाल में) तक रहस्यमय तरीके से जाती है– यह भी ठीक नहीं। सूफी तो स्पष्ट ही मानते हैं कि जब उस "अलजात" ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्य को देखना चाहा– तो "अलसिफत" के सहयोग से अभावात्मक विश्व दर्पण तैयार किया– जिसमें उसकी छाया पड़ी। यह छाया भावमय है। अभाव में लक्षित होने वाला भाव का प्रतिबिंब मुरीद को खींचता है– हाँ, यह अवश्य है कि यह आकर्षण जिस सौंदर्य-संसारीसौंदर्य में होता है– तत्त्वतः वह उस परम सुन्दर तत्त्व का है। निर्गुणिए संत भी आध्यात्मिक आकर्षण से परिपूर्ण गुरु का सहारा लेता है। इस प्रेम साधना से किसी अतिप्राकृत शक्ति की उपलब्धि होती है– और रहस्यमय सौंदर्यानंद की उपलब्धि होती है। कबीर कहते हैं–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



" कबीर तेज अनंत का ऊभी सूरज सेणि ।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा वेणि ।। "

निष्कर्ष यह कि आध्यात्मिक अनुभूति मात्र अवाङमनोगोचर है– यदि किसी सांप्रदायिक साधना के फलस्वरूप व्यक्त हुई है ।

**आधुनिककाल– रहस्यवाद–**

प्रसादजी कहते हैं कि छायावादियों की रचनाओं में जो रहस्यवादिता लक्षित होती है वह शक्तिमूलक भारतीय अद्वैती रहस्यवाद का सहज विकास है। नव जागरण का अभिप्राय है कि आत्मोत्थान के प्रति सामूहिक जागरण । विशेषज्ञों की धारणा है कि इस्लाम के आक्रमण के बाद होने वाला सामूहिक जागरण अंतर्मुखी था– उसमें समाज के बहिरंग और अंतरंग– दोनों पक्षों के जागरण का स्वर होते हुए भी प्रमुखता अंतरंग जागरण का ही रहा आध्यात्मिक चेतना का ही रहा । यद्यपि जनसामान्य-गत भावशक्ति की संभावनाओं और भावप्रसार के आलंबन भूत जगत् की पारमार्थिकता की स्थापना भागवतवैष्णवधारा ने जमकर की और आचार्य शंकर की ज्ञान पद्धति तथा जगत् की मिथ्यात्व धारणा का विरोध किया– यह बताया कि भाव का आलंबन यह सारा जगत् आराध्य का ही रूपान्तरण है– अतः मन जहाँ भी जाय– जाने दो– " सर्वं शिवमयं यतः "– एकनिष्ठता आवश्यक है– तथापि बहिरंग सामूहिक विकास की जगह चेतना व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास की ही ओर ज्यादा उन्मुख रही । परिणाम यह हुआ कि बहिरंग पक्ष उपेक्षित हो गया– समाज की स्नायविक चेतना मृतप्राय हो गई– विकास अवरुद्ध हो गया– रूढ़ियों की सड़ांथ फैलने लगी, समाज की वह आँख और उसका स्नायुतंत्र– दोनों निष्क्रिय और अंधे हो गये । लगता है प्रेमचंद का सूरदास इसी भारतीय ऐतिहासिक चेतना की परिणति है– जो " अपनी जमीन " की रक्षा कर उसकी संभावनाओं का प्रसार तो चाहता है– पर उसकी बहिरंग चेतना ही अंधी है । फलतः समदिक् प्रसारी चेतना का अभाव होने से वह ऊपर-ऊपर असफल रहा और भावी पीढ़ी को और सोचकर आगे बढ़ने को प्रोत्साहित कर गया । अतः बीसवीं शती के आसपास जो नवजागरण हुआ उसमें मध्यकाल की " शक्ति " भावना पुनः बहिरंग और अंतरंग के समन्वय की दिशा में सक्रिय हुई । मध्यकाल की " भक्ति " शक्ति का पर्याय थी और आधुनिक काल में भी आगमसम्मत " शक्ति " के आह्वान का स्वर मुखर होता श्रुतिगोचर होता है । इस स्वर को " दर्शन " का हस्तावलम्ब और काव्यात्मक परिणति छायावादी काव्यचेतना देती है । इसलिए प्रसादजी का यह कहना कि आधुनिक रहस्य क्रमागत अद्वैती रहस्यवाद की स्वाभाविक परिणति है– संगत है । अवश्य है कि इन लोगों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



ने इसे बौद्धिक स्तर पर ही ग्रहण किया । संप्रदाय सम्मत साधना की भूमि (मध्यकाल की) नहीं थी । इसकी पुष्टि इन लोगों के वक्तव्यों से भी होती है ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिज्ञासा के स्तर के रहस्यवाद को इसीलिए वास्तविक, काव्यात्मक संभावनाओं से संचालित और रमणीय निरूपित किया । पर जहाँ-जहाँ संयोग और वियोग की सांप्रदायिक अभिव्यक्तियाँ देखीं– वहाँ उन्हें संदेह ही रहा । काव्य का स्रोत रहस्यमय हो– यह अलग बात है, पर "रहस्य" मयी सत्ता का साधना के बल पर अपरोक्षीकरणपूर्वक उद्‌गार हो– यह दूसरी बात है । शुक्लजी ने इसीलिए जिज्ञासा के स्तर की रहस्यमयी उक्तियों की दाद दी है– पर दूसरे को संदिग्ध बताया है । शुक्लजी अपरिचित के प्रति "राग" नहीं मानते– इसीलिए संयोग-वियोग की अनुभूति भी नहीं मानते । उनकी दृष्टि में "अज्ञात" की जिज्ञासा ही हो सकती है, अभिलाषा नहीं ।

प्रत्येक भावुक विचारक को सृष्टि की रहस्यमयता कुछ कहने को प्रेरित करती है–

"हे अनंत रमणीय कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता ?
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ?
महानील इस गगन व्योम में
अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान्
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते हैं संधान ?

अनुभव में गहराई से जो आता है, बुद्धि उसे पकड़ नहीं पाती– वह रहस्य ही रह जाता है । संसार की संसरणशीलता किसी गंतव्य को लक्ष्य कर है या यों ही ? क्या संभव है इतनी व्यवस्थित गति निष्प्रयोजन या अपने गंतव्य में अव्यवस्थित हो ? ये सब बातें चिंतक को "रहस्य" की ओर ले जाती हैं ।

आचार्य शुक्ल पंतजी के तो पक्षधर हैं, पर शेष तीनों के विपक्षधर । प्रसादजी के विपक्ष में कहा– "मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं । मैं इसे भी कविता की एक शाखाविशेष मानता हूँ, पर जो इसे काव्य का स्वरूप समझते हैं– उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ ।" (चिंता, भाग–२, पृष्ठ–३७) प्रसादजी भारतीय परंपरा के अनुसार कहते हैं कि काव्य के लिए अपेक्षित मनोदशा रहस्यमय है– क्योंकि वह सहसा अ-कस्मात् (जिसका कारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अज्ञात है) उभरती है। शुक्लजी "प्रतीक" की रहस्यमयता के खंडन के माध्यम से मानों इसी रहस्यमयता की वैज्ञानिक व्याख्या कर रहे हों। उनके हिसाब से इसके मूल में वर्तमान और वंशानुगत वासना का दीर्घ प्रभाव सक्रिय रहता है। (वहीं– पृष्ठ-९९)। ज्ञानपरक चिंतन की एकतानता इन सबसे सर्जक को जोड़ती है। प्रसादजी मानते भी हैं कि इतिहास के मनन से यह असाधारण दशा आती है। निरालाजी पर स्पष्ट आक्षेप करते हुए शुक्लजी कहते हैं कि– "जो यह भी नहीं जानता कि "ब्रह्मवाद" और "कविता" किन चिड़ियों के नाम है, जो अंग्रेजी की अंधी नकल पर बनी बंगला की कविताओं तथा वैष्णव कवियों की बंग समीक्षाओं तक ही सारी दुनिया खतम समझता है, वह यदि मुँह बना बनाकर कहने लगे 'जब मैं ब्रह्मवाद' की कोई कविता देखता हूँ, तब हर्ष से नाच उठता हूँ, तो एक सुशिक्षित सुननेवाले पर क्या असर होगा?" (चिंता, भाग–२, पृष्ठ–६७)। निराला जी ने अपने एक निबंध में यही पंक्ति लिखी है। महादेवी को लक्ष्य कर कहा है– "जिस अनुराग के साथ प्रकृति की भव्य योजना की जाती है उसे उसी अव्यक्त सत्ता के प्रति कहने में क्या हर्ष है? तो इसका उत्तर यह है कि इससे भावक्षेत्र में असत्य का प्रचार होता है और पाखण्ड का द्वार खुलता है।" (वहीं– पृ. ६७) अंत में तो झुझला भी उठते हैं– "जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय का स्पंदन नहीं हुआ उसकी व्यंजना का आडंबर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो यह कहें कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्यक्षेत्र से निकालकर "मत-वालों" (सांप्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।" (वहीं–पृष्ठ ५१)

प्रसादजी का तर्क रहस्यवाद के पक्ष में हम देख चुके हैं, संप्रति महादेवी जी के तर्क क्या हैं– यह देखना है। महादेवीजी कहती हैं रहस्यवाद भावावेश की आंधी नहीं है और विदेशी भी नहीं। शुक्लजी जिसे अंतःकरण की वृत्तिविशेष– ज्ञान कहते हैं– वह चिन्मय ज्ञान के व्यंजक होने के कारण उपचारतः ज्ञान कहा जाता है– तत्त्वतः वह ज्ञान है ही नहीं। इसीलिए "अद्वैततत्त्व" के लिए श्रुति "जानतामविज्ञातम्" कहती है। तुलसीदाजी ने उसी का अनुवाद करते हुए "जिन जाना तिन जाना नाहीं" कहा है। भारतीय परंपरा "अनुभूति" साक्षिक "सत्य" की सिद्धि में चिंतन का महत्व मानती है– निरपेक्ष चिंतन को वह अप्रतिष्ठ मानती है। ब्रह्मसूत्र है– "तर्काप्रतिष्ठानात्"। आचार्यों का चिंतन अनुभूति साक्षिक है– इसीलिए यहाँ दर्शन (फिलासफी) और साधना (थियालाजी) पश्चिम की तरह कटे हुए नहीं है। शुक्लजी पश्चिम की ओर ज्यादा मुड़कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



"रहस्यवाद" को परख रहे हैं। जब वे मध्यकालीन संतो की अनूभूतिमूलक उक्तियों के बावजूद उन्हें प्रकाशवादी (रहस्यवाह के विपरीत) कहते हैं– तब उनकी हठवादिता प्रतीत होती है। शुक्लजी मानते हैं "यहाँ रहस्य और गुप्त योग तंत्र आदि के भीतर ही रहे।" (वहीं– पृष्ठ १००) और यही तंत्र मध्यकालीन भक्ति का स्रोत है। छायावादान्तर्गत रहस्यवाद पर झूंझलाते हैं– तो उतना असंगत नहीं लगता। जब महादेवीजी उस "अज्ञात" से "परिचय" का प्रमाण देती हुई कहती हैं–

जो न प्रिय पहचान पाती
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत् सी तरल बन
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन
किसलिए हर साँस तम में
सजल दीपक राग गाती ?

और इसी संदर्भ में घनानंद की उक्ति स्मरण आती है–

अंतर हौ किधौ अंत रहौ, दृग् फारि फिरी कि अभागिनी भौरों
आगि जरौं अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरों
जौ घनआनंद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं
पाऊं कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरती मैं धंसौं कि अकासहि चीरौं।

दोनों में "अप्राप्त" के प्रति अभिलाषा है। महादेवी अपनी तड़प या अभिलाषा "ज्ञात" के प्रति कह रही हैं– वे अपनी तड़प के औचित्य का समाधान दे रही हैं। महादेवी में कलात्मक उद्‌गार हैं, घनानंद में निरावरण तड़प हैं। इसीलिए जैनेन्द्र की यह टिप्पणी सार्थक लगती है कि महादेवी के हृदय को उनकी बुद्धि सम्हाले हुए है– घनानंद बेसुध हैं, मीरा बेसुध हैं।

संप्रति महादेवीजी की धारणा और पोषक तर्क द्रष्टव्य हैं। महादेवीजी कहती हैं कि प्रकृति की अनेकरूपता पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके प्रति आत्मनिवेदन "रहस्यवाद" का सोपान है। छायावादी केवल आरोप तक जाता है और रहस्यवादी आत्मनिवेदन तक। छायावादी कवि प्रकृति में व्याप्त अखण्ड असीम चेतना के साथ अपने ससीम हृदय का तादात्म्य अनुभव करता है और रहस्यवादी उस अखण्ड सत्ता के प्रति आत्मनिवेदन भी करता है। हृदय के अभाव को दूर करने के लिए माधुर्य भावात्मक संबंध चाहिए और वह भी असीम से उनके अनुसार मानवीय संबंधों में जब तक अनुराग जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता, जब तक वे सरस नहीं हो पाते और तब तक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती, जब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। वे यह भी कहती हैं कि हमारी अंतःशक्ति भी रहस्य से पूर्ण है और बाह्य जगत् का विकास-क्रम भी– अतः जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते हैं, जिनमें हम ऐसे रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और ऐसी अपूर्णता के प्रति जागरूक भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य का या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। उनके अनुसार अखण्ड चेतन से तादात्म्य संबंध केवल बौद्धिक भी हो सकता सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का क्षेत्र ही हृदय का प्रेम हो जाता है। जब चिंतन ने "जानतामविज्ञातम्" कहा था, तभी हृदय "तत्वमसि" कह उठा था। इसप्रकार रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौंदर्य की विविध प्रत्यक्षता तक फैल जाने की क्षमता रखता है। हृदय की सीमा एक असीमता में अभिव्यक्ति चाहती है और हृदय के अनेक रागात्मक संबंधों में माधुर्य भावमूलक प्रेम ही उस सामंजस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों को सजीवता दे सके और निवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके। कवि व्यापक सौंदर्य की विविधता में अरूप को रूप में अभिव्यक्त करता है। उनके अनुसार रहस्यवाद में द्वैत की स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव में विरह की अनुभूति असंभव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार खो देती है।

इन सबसे स्पष्ट है कि इन लोगों का "रहस्यवाद" कल्पना, भावना और चिंतन की प्रकृत भूमि पर ही अवस्थित है– मध्यकाल की अवाङ्मनोगोचर स्थिति नहीं है। यह तो मानता हूँ कि जागरण काल में राष्ट्रीय प्रतिभाएँ सुप्त आत्मशक्ति का उद्‌बोधन करती हैं- और इस छायावाद काल में भी यह है। सारा छायावाद "शक्ति" और उसके रचनात्मक रूप प्रेम तथा सौंदर्य के गान से आपूरित है। "कामायनी" और "रत्नावली" शक्ति के ही प्रतीक हैं।

**नव रहस्यवाद :–**

छायावादोत्तर व्यक्तिवादी प्रस्थान में विशेषकर "अज्ञेय" की रचनाओं केन्द्र में रखकर रहस्यवाद के नव्य रूप की चर्चा आलोचक गण कर रहे हैं और उस नवोन्मेष को "नव रहस्यवाद" की संज्ञा भी दी है। यह नव्य (NEW) विशेषण जिसके आगे लगता है, उसकी नये बौद्धिक परिवेश में नई व्याख्या उसमें निहित संभावना के कारण होती है। रहस्यवाद से उस अनुभूति को पकड़ा जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हैं, जिस का साक्षी प्रमाता का हृदय तो होता ही है, परंतु बुद्धि उसे पकड़ नहीं पाती। वह बुद्धि के लिए अव्याख्येय होती है।'

अज्ञेय के काव्य विकास के सोपान से जो लोग परिचित हैं, वे जानते हैं कि वे छायावादी संस्कार से घटित साहित्यिक व्यक्तित्व का विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के आलोक में परिमार्जन-परिशोधन करते हुए आगे बढ़ते हैं। उनका व्यक्तिवादी चिंतक व्यक्तित्व क्रमागत "दर्शनों" की अपेक्षा "विज्ञान" की ओर अधिक झुका हुआ है– फलतः "बुद्धि" को सर्वोपरि महत्व देता है। आज विज्ञान विश्व विकास की व्याख्या भूतविज्ञान, जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान की विविध शाखाओं का सहारा लेता है, पर इस गुत्थी को सुलझाने में कहीं पारस्परिक अंतर्विरोध उभर आता है और कहीं रहस्य का सहारा लेना पड़ता है। आइन्स्टाइन और युंग ने इस ओर अनेक बार इंगित किया है। कभी कभी ये वैज्ञानिक ऐसे बिंदु पर पहुँच जाते हैं, जहाँ एक ओर तो उनकी सीमाएँ जवाब देने लगती हैं और दूसरे उनके औजार जवाब देने लगते हैं। अज्ञेय यद्यपि सचेत होकर घोषणा करते हैं कि उनका रहस्यवाद "ईश्वर" की ओर नहीं जाता– अर्थात् जो कुछ चिंतन के दरम्यान अनुभव की ग्रंथियाँ उलझी रह जाती हैं– उन्हें वे "ईश्वर" नाम नहीं देना चाहते– तथापि रहस्यवाद की मूल चेतना से कोई फर्क नहीं पड़ता। "ईश्वर" संज्ञा देने से उन्हें लगता है– पुरानी जोती हुई ज़मीन की गंध आ जाएगी– उनकी मनःस्थिति से न्याय नहीं होगा। रहस्यवाद की मूल भावना यही है कि प्रतीत बुद्धि की पकड़ में नहीं आता, सीमा को असीम से जोड़ता है। उन्हीं की एक रचना लें–

शक्ति असीम है
मैं शक्ति का एक अणु हूँ
मै भी असीम हूँ
है–है–से आगे और–पार
एक असीम बूंद
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिंबित करती है
एक असीम अणु
उस असीम शक्ति को जो प्रेरित करती है
अपने भीतर समा लेना चाहता है

ऐसी ही उनकी अनेक रचनाएँ हैं। वे क्षण में अखण्ड काल की सत्ता वैसे ही देखते हैं, जैसे वस्तुओं के सीमित रूप में अरूप की सत्ता।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



रूपों में एक अरूप सदा खिलता है
गोचर में एक अगोचर अप्रमेय
अनुभव में एक अतीन्द्रिय
पुरुषों के एक हर वैभव में ओझल
अपौरुषेय मिलता है।

जिस प्रकार एक में अनेक और अनेक में एक को एक साथ देखने दिखाने में समर्थ संचित्-रूपा भारतीय प्रज्ञान तत्त्व और उसके अनुभव के निगम रूप में साध्य-प्रवण तथा आगम रूप में साधन-प्रवण व्याख्यान दिये हैं– सत्य की खोज की उसी दिशा में "विज्ञान" भी यत्नशील है और जगत्विकास के नियमों के उद्-घाटन में ही अभी उलझा हुआ है। भारतीय धारा की आगमिक चेतना "शक्ति" वादिनी है और विज्ञान भी "शक्ति" में आस्था रखता है – पर जहां पहला उसे "चेतन" मानता है, वहां विज्ञान "जड़"। गत्यात्मक दोनों मानते हैं। आगम "गति" को समझने के लिये "स्थिति" की बात करता है और विज्ञान स्थिति-रूप बिंदुओं की अविच्छिन्न श्रृंखला को ही गति कहता है। आगम चरम तत्त्व को धनात्मक तथा ऋणात्मक ( शक्ति एवं शून्य – शक्तिमान ) समरस-रूप कहता है, विज्ञान न्यूट्रान और प्रोटान को परमाणु का समरस केन्द्र कहता है, जीव विज्ञानी जिन्स के घटक डी. एन. ए. तथा आर. एन. ए. को बताता है। युंग का मनोविज्ञान सकेत भर देता है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि विज्ञान भारतीय मेधा की उपलब्धि का ही पुनराख्यान कर रहा है। आज का जागरूक कवि इन उपलब्धियों से परिचित होता है और जीता है "तथ्य" को अपना "सत्य" बनाता है और "सुन्दर" ढंग से संप्रेषित करता है– अज्ञेय ने यह रास्ता पकड़ा है। उनकी अनेक ऐसी रचनाएं हैं जो क्षण में अखण्ड काल की और वस्तुओं के सीमित रूप में अरूप की असीमता को ध्वनित करती हैं।

डा. रामविलास शर्मा ने तो उन कवियों की रचनाओं में भी इस रहस्य-वादी (नव्य) चेतना का प्रसार देखा है, जो अपने को प्रगतिवादी घोषित करते हैं। ये हैं मुक्तिबोध और शमशेरबहादुरसिंह। दोनों ही शर्माजी की इस धारणा से अपने को असहमत मानते हैं। यह तो स्पष्ट है कि सामाजिक चेतना के स्तर पर मुक्तिबोध प्रगतिवादी हैं–पर उनके अन्तस् में ऐसे बहुत से ज्ञात–अज्ञात संस्कार हैं जो उन्हें व्यक्तिवादी, रोमेन्टिक तथा मन की अतल गहराइयों में झांकने वाला बनाते हैं। विश्वचेतस् से एकरस उनका आत्मचेतस् जब अपने समाज की विद्रूप स्थिती में आकण्ठ मग्न होता है, तो "मार्क्सवाद" से उन्हें आशा बंधती है और उसके प्रति समर्पित होते हैं–लेकिन अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति की जो "फेंटेसी"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



वाली पद्धति पकड़ती है – वह कुछ और ही आभास देती है। क्या बात है जो भारतीय अभिजात अभिव्यक्ति पद्धति के मर्मज्ञ नागार्जुन की जनवादी भावधारा को जन की भाषा में उतरने को बाध्य करती है और उससे अपरिचित मुक्तिबोध को गैर जनवादी माध्यम की ओर मोड़ती है। समाजवादी धारा की कविता व्यक्तिवादी धारा की कविता से अभिव्यक्ति पद्धति में होड़ ले – केवल इस भावना से इस ओर मुड़ना क्या मूल लक्ष्य से पृथक् होना नहीं है ? श्री शमशेर जी भी यह तो मानते हैं की समाज को यदि वर्तमानवद्रूप आर्थिक वैषम्य पूरित ढ़ांचे से मुक्ति दिलानी है, तो एक मार्क्स का जीवन दर्शन ही ग्राह्य है, पर संपन्न मनुष्य को मानसिक विकृतियों ( रागद्वेष ) से मुक्ति दिलाकर चिराकांक्षित सुख – शान्ति पानी हो तो यह अध्यात्मवाद ही कर सकता है। पंडित नेहरू ने भी " संस्कृति के चार अध्याय " की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि मार्क्सवाद हमें अपने वर्तमान और उसकी समस्याओं को समझने में काफी दूर तक मदद करता है, पर अन्ततः आर्थिक विकास ही हमारा लक्ष्य नहीं है – जिंदगी इससे कुछ और भी है। ज्ञात भाव से रहस्यवाद से चिढ़ने वाले पं. नेहरू जब " कुछ और " शब्द का प्रयोग करते हैं तब वे अज्ञात भाव से Mystic Touch देते दिखाई पड़ते हैं। यह भारत का जातीय संस्कार है जो मन की अतल गहराइयों से ज्ञात मन की प्रतिरोधक रेखाओं को लांघकर ऊपर छलक ही पड़ता है। डा. शर्मा ने ही शमशेर की एक रचना उद्धृत की है --

नक्षत्र वहां कभी हमारा पार नहीं पायेगें
उनसे मुक्त जहाँ हम घुल मिलकर
अपना ही स्वत्व है
और वही है जो कुछ है
है – है – से आगे और – पार
जो कि है का है का है का है .....
..... ..... है।

स्पष्ट ही यहां कवि कह रहा है कि उसकी अनुभवात्मक चेतना जिस भूमि पर स्थित है उसका पार नक्षत्र भी नहीं पा सकते। यों सामान्य धारणा है कि नक्षत्र लोग में ऐसे भी नक्षत्र हैं जिनकी रश्मियां प्रकाश गति से चलकर अभी तक भूलोक पर नहीं पहुंची। अंदाज किया जा सकता है कि नक्षत्र का पार पाना जब असंभव समझा जा रहा है तब जिसका पार नक्षत्र भी नहीं पा सकते – वह कम रहस्यमय है ? उन्हें जो भी अनुभव होता है, वह अनुभवातीत से जुड़ा हुआ - इसीलिए उनका " है " ( अनुभवात्मक सत्ता ) किसी अनुभवातीत किन्तु विद्य–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मान 'है' का अंश जान पड़ता है। क्या इसमें रहस्यमयता की चेतना अविद्यमान है? पं. नेहरू भी The Discovery of India[१] में विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के आलोक में बौद्धिक यात्रा करते हुए कभी कभी इस प्रश्न पर पहुंच जाते हैं कि जिन "आंखों" से हम सब कुछ जानने का प्रयास कर रहे हैं उन आंखों को कैसा देखा जाये? जिज्ञासा क्या यह नहीं हो सकती? प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्य कहते हैं कि–

स्वपदा स्वशिरच्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथैवेयं वेदवी कला॥

जैसे अपने पैर से अपनी छाया का लंघन असंभव है, उसी प्रकार अपनी बुद्धि से आत्मा का आकलन असंभव है।

देखने में तो यह भी आ रहा है कि स्वामी मुक्तानंद के संपर्क में आकर सूर्योदयी कविता के प्रवर्तक श्री वीरेन्द्रकुमार जैन रचना की नई ऊर्जा लेकर रहस्यवाद के स्तर पर अपनी कविताओं में कुछ संकेत दे रहे हैं।

इस प्रकार हिन्दी की रहस्यवादी कविता साधनाजन्य सांप्रदायिक अनुभूतियों से लेकर विशुद्ध "दर्शन" और 'विज्ञान' के प्रभाव में बौद्धिक और काल्पनिक स्तरों तक प्रवाहित हो रही है। जहां तक ग्राहक की दृष्टि से इन कविताओं के आस्वाद का संबंध है – निःसंदेह वह समान संस्कार संपन्न संवादी हृदयों को ही हो सकता है – तथापि लौकिक (पारिवारिक) रागात्मक संबंधों के आवरण में व्यक्त भावनाओं का एक सीमा में अप्राकृत के अतिरिक्त प्राकृत मानस द्वारा भी आस्वाद लिया जा सकता है। संतो की राग-विराग-सिक्त अभिव्यक्तियों में प्राकृत मानस को भी आस्वादमग्न करने की क्षमता है। 'दर्शन' और 'विज्ञान' के आलोक में कल्पना और भावना के स्तर पर होनेवाली रहस्यमय अभिव्यक्तियाँ भी अपनी काव्यात्मक उपादानों की रमणीयता से आकर्षक बन जाती है। महादेवी की रचनाओं में निहित भावधारा पर संदिग्ध रह कर भी रामचन्द्र शुक्ल आकृष्ट हुए हैं और प्रशंसा की है। जैनेन्द्र तर्क देते हैं कि महादेवी की चेतना में शत प्रतिशत मीरा की तरह घुल जाने का भाव नहीं है – बुद्धि सदा उनके भाव को हस्तावलंब दिये रहती है – इसीलिये उनमें बुद्धिसाध्य कलात्मक प्रौढ़ि उभर आती है –– तब भी वे काव्यात्मक का विरोध नहीं करते। जिज्ञासा के स्तर की रहस्यपरक अभिव्यक्तियां तो किसी भी भावप्रवर ग्राहक को रसमग्न कर देती है। अन्त में शुक्लजी की इस धारणा से मैं सहमत हूं कि काव्य की धारा एकमात्र रहस्यवाद नहीं है – वह उसकी एक प्रवृत्ति विशेष है। काव्य निर्माण की प्रक्रिया चेतना के ज्ञान स्तर का अतिक्रमण कर सकती है ––

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह सदा आध्यात्मिक अनुभव कि ही अभिव्यक्ति करती रहेगी – मन के अतल में निहित लौकिक अनुभूतियों का भी गांभीर्य और वैविध्य हो सकता है।

हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन (म. प्र.)

– राममूर्ति त्रिपाठी

## टिप्पणियाँ

१. "वेदान्त परिभाषा" से उद्धृत, पृष्ठ–३६
मणिप्रभा, शिखामणि टीका सहित।

2. Our five senses and what they can perceive obviously do not exhaust the universe. During the past twenty-five years there has been a profound change in the scientists' picture of the physical world. Science used to look at nature as something at most apart from man. But now, Sir James Jeans tells us that the essence of science is that man no longer sees nature as something distinct from himself And then the old question arises which troubled the thinkers of the Upenisads : how can knower be known ? How can the eyes that can see external objects see themselves ? And if the external is part and parcel of the intetrnal, what we perceive or conceive is but a projection of our minds, and the universe and nature and the soul and mind and body, the transcendent and the immanent are the essentially one, how then are we, within the limited framework of our mind, to understand this mighty scheme of things objectively ? Science has begun to touch these problems and thongh they may elude it, still the earnest scientist of today is the prototype of the philosopher and the man of religion of earlier ages. 'In the materialistic age of ours', says Professor Albert Einstein, 'the serious scientific workers are the only profoundly religious people.'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# आधुनिक भारतीय सन्दर्भ में
# रंगमंच और यथार्थवाद

'यथार्थवाद' की चर्चा रंगमंच के प्रसंग में विशेष कठिन प्रतीत होती है क्योंकि 'रंगमंच' अपने-आप में एक संश्लिष्ट अवधारणा है। जब एक कला के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किसी क्षेत्र या भाषा से जोड़कर किया जाता है तो यह एक साथ ही उस क्षेत्र या भाषा के नाटक-साहित्य और मंचन की परम्परा का बोध कराता है। किसी क्षेत्र या भाषा का रंगमंच वास्तव में उसकी रंग परम्परा का ही दूसरा नाम है और यह परम्परा नाट्यालेख तथा रंग-व्यवहार दोनों में सम्मिलित रूप से निहित रहती है; लेकिन नाटककार और नाटक-निर्देशक का द्वैत रंगमंच की संश्लिष्ट अवधारणा को सदैव अक्षुण्ण नहीं रहने देता। घोर यथार्थवादी नाटक अनेक बार यथार्थाभास-भंजक शैली में प्रस्तुत कर दिए जाते हैं और यथार्थाभासी प्रस्तुति में अनेक बार अयथार्थवादी नाटक मंचित होते देखे जा सकते हैं। इससे रंगमंच को इसके संश्लिष्ट रूपमें देखना कठिन हो जाता है और इस अवधारणा को कभी नाटक-लेखन की परम्परा के अर्थ में ग्रहण किया जाने लगता है तो कभी रंग-व्यवहार की परम्परा के अर्थ में। यही कारण है कि यथार्थवादी रंगमंच के सम्बन्ध में विचार करते समय इस विषय के नामी-गिरामी पंडित भी दुविधा में पड़ गए हैं। अपनी रंगमंच शीर्षक पुस्तक में रंगमंच की यथार्थवादी प्रवृत्ति की चर्चा करते समय शेल्डन चेनी ने उस पर कभी यथार्थवादी भावबोध के सम्बन्ध से विचार किया है तो कभी यथार्थाभासी प्रस्तुति के सम्बन्ध से। इसका परिणाम यह हुआ है कि रंगमंच की संश्लिष्ट अवधारणा उक्त पुस्तक में नाटक-साहित्य और प्रस्तुति के स्वरूप में बँट गई है।

रंगमंच को नाटक-साहित्य और रंग-व्यवहार के मध्य विभाजित कर देखे जाने से बचाने का एक ही उपाय है और वह है नाट्य-लेखन और मंचन का परस्पर सहकार। जब नाटककार रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटक लिखता है तो उसकी रचना में प्रस्तुति-परिकल्पना के रूप में रंग-व्यवहार समाहित रहता है

परामर्श (हिन्दी) वर्ष ३, अङ्क ४, सितम्बर, १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



और जब निर्देशक नाटककार की प्रस्तुति-परिकल्पना को हृदयंगम कर नाटक को रंगस्थल पर उतारता है तो रंगमंच की क्रियात्मकता में नाटककार का भावबोध साकार हो जाता है। ऐसा हो तो नाटककार और निर्देशक के मध्य समय और स्थान की दूरी होने पर भी संश्लिष्टता बनी रह सकती है। इसलिए रंगमंच के यथार्थवाद पर विचार करने का युक्तिसंगत और निरापद मार्ग यही हो सकता है कि नाटकों की प्रस्तुति में निर्देशकों द्वारा लेली जानेवाली छूट को एक ओर छोड़कर नाटक के आलेख में अन्तर्निहित प्रस्तुति-परिकल्पना को उसके आकलन का आधार बनाया जाए।

लेकिन यह पथ भी सर्वथा निर्विघ्न नहीं है। नाटक के आलेख में लेखक के भावबोध और प्रस्तुति-परिकल्पना के मध्य सदा अनुरूपता नहीं होती। कई बार यथार्थवादी भावबोध का नाटक यथार्थाभास-भंजक प्रस्तुति-परिकल्पना में रूप ग्रहण करता है तो कई बार रूमानी भावबोध का नाटक यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना में अवतार लेता है। ऐसी स्थिति में समीक्षक के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह रंगमंच के यथार्थवाद का निर्णय नाटक के भावबोध के आधार पर करे या प्रस्तुति-परिकल्पना के आधार पर।

आधुनिक भारतीय रंग-लेखन से कुछ उदाहरण सामने रखकर इस प्रश्न की गम्भीरता का अनुमान लगाया जा सकता है। सबसे पहले बादल सरकार के दो ऐसे नाटक लिए जा सकते हैं जो भावबोध की दृष्टि से समान प्रकृति के होते हुए भी प्रस्तुति-परिकल्पना में परस्पर विपरीत हैं। उनके ये दोनों नाटक– **पगला घोड़ा** और **एवं इन्द्रजित**– आधुनिक भारतीय रंगमंच की चर्चित कृतियाँ हैं। जहाँ **पगला घोड़ा** में यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना की परिणति मूर्त प्रतिनिधान के आयोजन में हुई है, वहाँ **एवं इन्द्रजित** में बादल सरकार ने यथार्थाभास को रह-रहकर खंडित करते हुए अभिव्यक्ति के अमूर्तन के माध्यम से अपने कथ्य को प्रेक्षकों तक प्रेषित करने का विधान किया है। दोनों नाटकों में लेखक की तीव्र संवेदनशीलता एवं भाव प्रवण अन्तर्मुख जीवन-दृष्टि व्यक्त हुई है; लेकिन जहाँ **पगला घोड़ा** की यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना इस नाटक में वस्तु-बोध या विषयोन्मुखता का भान उत्पन्न करती है, वहाँ **एवं इन्द्रजित** में यथार्थाभास को बार-बार खंडित करने से वस्तु-बोध का निरन्तर तिरस्कार हुआ है। ऐसा होने से इस नाटक में गीतात्मक तरलता का भान प्रबल हो गया है। बीच-बीच में कविताओं के समावेश से वह अधिकाधिक पुष्ट होता गया है। नाटक में अंकित स्थितियों की वस्तुपरकता संवेदनातिरेक के प्रवाह में डूब गई है। इसलिए यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना के नाते जहाँ **पगला घोड़ा** को कोई यथार्थवादी रंगमंच की कृति कह सकता है, वहाँ **एवं इन्द्रजित** किसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अर्थ में यथार्थवादी रंगमंच का नाटक नहीं माना जा सकता। लेकिन, यथार्थवादी भावबोध की दृष्टि से दोनों में से कोई कृति यथार्थवादी रंगमंच की नहीं है। दोनों में विश्वबोध के स्थान पर लेखकीय संवेदना प्रबल है। तब, क्या मात्र यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना को विभाजन-रेखा बनाकर **पगला घोड़ा** को यथार्थवादी रंगमंच का नाटक मानना उचित ठहराया जा सकता है ?

इस प्रकार के किसी भी प्रयास को यह तथ्य चुनौती देता है कि यथार्थाभास-भंजक प्रस्तुति-परिकल्पना में अनेक बार अत्यन्त प्रखर यथार्थवादी भावबोध के नाटक आकार ग्रहण करते हैं। मोहित चटर्जी का **गिनीपिग** इस कोटि के नाटकों का एक अत्यन्त सशक्त उदाहरण है। इस नाटक में राजसत्ता की क्रूर शक्ति यथार्थ के भ्रम को तोड़ने वाले खेल के रूप में उपस्थित की गई है और स्थितियों तथा पात्रों की वस्तु-सत्ता अमूर्तन में घुला दी गई है; फिर भी रंगस्थल से प्रेक्षागृह को जो प्रेषित होता है वह है एक तीखे यथार्थ की अनुभूति, जिसका साक्षात्कार प्रेक्षक रंगस्थल पर प्रच्छन्न रूप में करता है। जहाँ **पगला घोड़ा** अपनी प्रस्तुति-परिकल्पना में यथार्थाभासी होते हुए भी यथार्थवादी नाटक नहीं है, वहाँ **गिनीपिग** प्रस्तुति-परिकल्पना में यथार्थ-भंजक एवं अमूर्तन-निष्पन्न होने पर भी यथार्थवादी नाटक है। तो, यथार्थवादी रंगमंच कहाँ उपलब्ध है— **पगला घोड़ा** में या **गिनीपिग** में ?

इस उलझन की पृष्ठभूमि भाषावैज्ञानिक है। 'यथार्थवादी रंगमंच' अँगरेजी 'रियलिस्टिक थ्येटर' का शाब्दिक अनुवाद है। अँगरेजी में इस पद का प्रयोग यथार्थाभासी प्रस्तुति और यथार्थवादी भावबोध के नाटच-लेखन, दोनों के लिए होता है। रंगस्थल पर दृश्य को ठीक उस रूप में प्रस्तुत कर देना जैसा कि वह वास्तविक जगत् में दिखलाई देता है, अँगरेजी में 'रियलिस्टिक' कहलाता है। इसके साथ ही लेखक का वह भावबोध भी 'रियलिस्टिक' कहा जाता है जो हवाई कल्पना की उड़ान के विपरीत जीवन-जगत् की कठोर और कड़वी वास्तविकताओं का सामना करने का आग्रह उत्पन्न करता है। भारतीय भाषाओं में इन दो भिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए दो भिन्न शब्द उपलब्ध हैं। तद्वत् प्रस्तुति के लिए 'यथार्थाभास' शब्द बहुत उपयुक्त है जब कि जीवन की अपरूप, अप्रिय एवं क्रूर सचाइयों के प्रति आग्रह के लिए 'यथार्थवाद' का प्रयोग किया जाना चाहिए। यदि अँगरेजी से सीधे-सीधे और बिना विचारे अनुवाद कर देने के स्थान पर अभिप्राय की सुनिश्चितता को लक्ष्य कर शब्द की समीचीनता का विचार किया जाय तो 'यथार्थवाद' के उचित प्रयोग की सीमाएँ स्वतः स्पष्ट हो जाएँगी। अँगरेजी में, और शायद अन्य युरोपीय भाषाओं में भी, 'यथार्थवाद' और 'यथार्थाभास' के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रचलन नहीं है। इसीलिए दोनों की भिन्नता की ओर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अनुवादकों का ध्यान नहीं जा पाया। ऐसा होने से 'रियलिस्टिक थ्येटर' अनुकरणमूलक या यथार्थाभासी प्रस्तुति का अर्थ भी देने लगा। 'यथार्थवादी रंगमंच' इस पद का अनुवाद होने के कारण 'यथार्थाभासी प्रस्तुति' के अर्थ में भी प्रचलित हो गया, जैसा कि शेल्डन चेनी की पुस्तक के अनुवाद से उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है;

> "आखिर वह यथार्थवाद क्या है जिससे नाटक उतने ही
> स्वाभाविक लगने लगते हैं जैसे हमारे घर की घटनाएँ
> उतने ही जाने-पहिचाने जितनी पत्र-पत्रिकाओं की कहानियाँ ?
> वह एक कला है, कला का धर्म है। इससे इस बात को बल मिलता
> है कि **कला का ध्येय अनुकरण है**, नाटकों को खेले जाने का
> लक्ष्य यथार्थ का आभास है।"[१]

यह मत निर्विवाद नहीं है कि कला अनुकरण है या किसी कला का लक्ष्य केवल अनुकरण हो सकता है। शेल्डन चेनी ने अनुकरण की कला की जो बात कही है, वह केवल यथार्थाभासी प्रस्तुति को परिभाषित करती है। प्राचीन भारतीय नाट्य चिन्तन में दशरूपक के लेखक ने भी कुछ ऐसी ही बात नाटक के यथार्थाभासी स्वरूप को लक्ष्य कर कही थी : 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'। इससे पहले भरतमुनि ने नाट्य की जो परिभाषा की थी वह कहीं अधिक संगत है। उस परिभाषा में 'अनुकरण' को नहीं 'अभिनय' को नाट्य माना गया है;

> योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
> सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते॥

यद्यपि भरत मुनि ने 'लोकधर्मी' प्रवृत्ति के रूप में 'अनुकरण' का अन्तर्भाव नाट्य या रंगमंच में स्वीकार किया है, फिर भी 'नाट्यधर्मी' प्रवृत्ति का प्रतिपादन कर नाट्य को 'अनुकरण' में सीमित नहीं माना है। उन्होंने 'नाट्य' को 'लोकस्वभावज' और 'लोकप्रमाण' कहा है, फिर भी इनका बल नाट्यधर्मी पद्धति पर रहा है, जैसा कि उनकी निम्नलिखित उक्ति से प्रकट होता है:

> नाट्यधर्मी प्रवृत्तं हि सदा नाट्यं प्रयोजयेत्।
> नाट्यांगाभिनयादृते किंचित् रागः प्रवर्तते॥

यही बात आज रंगयुक्तियों के प्रयोग को लेकर कही जा सकती है। मोहन राकेश के नाटक आधे अधूरे में एक अभिनेता से पाँच पात्रों का अभिनय कराने की परिकल्पना अनुकरण की सीमाओं का अतिक्रमण करती है। यदि रंगमंच के यथार्थवाद का अर्थ यथावत् अनुकरण है तो यह नाटक यथार्थवाद की सीमाओं को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



भंग करता है। इस नाटक की तुलना में राकेश के ही अन्य दो नाटकों :– **आषाढ का एक दिन** और **लहरों के राजहंस**– में अनुकरण का पक्ष कहीं अधिक प्रबल है। यदि अनुकरण ही रंगमंच के यथार्थवाद की पहिचान है तो उक्त दोनों नाटकों को आधे अधूरे से अधिक यथार्थवादी रंगमंच की कृतियाँ मानना पड़ेगा। यही समस्या सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के सम्बन्ध में भी उत्पन्न होती है। द्रौपदी में नकाबवालों की कल्पना और सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक में रंगस्थल पर एक ही शयनकक्ष के दृश्यबन्ध से राजा और नियोग-पुरुष के भिन्न शयनकक्षों की प्रतीति अनुकरण-विरुद्ध है। यदि अनुकरण ही यथार्थवाद है तो ये दोनों बातें यथार्थ का निषेध करती हैं; फिर भी इन दोनों नाटकों को अयथार्थवादी कहना दुस्साहस मात्र होगा। ज्ञानदेव अग्निहोत्री के नाटक शुतुरमुर्ग में विरोधीलाल को मंत्रिपद की शपथ जाल में लपेटकर दिलाई जाती है। यह दृश्य अनुकरणमूलक नहीं है और इसलिए अनुकरण के पर्याय-रूप में यथार्थवादी नहीं माना जा सकता, लेकिन यथार्थ की तीखी व्यंजना की दृष्टि से यह दृश्य अपूर्व है– इसमें कोई संदेह नहीं। शंकर शेष के फंदी में अनेक भूमिकाएँ एक अभिनेता द्वारा निभाई जाने की परिकल्पना अन्तर्भूत है। यह पद्धति स्पष्टतः अनुकरण-विरोधी है, फिर भी इस नाटक में जो समस्या उपस्थित की गई है उसमें यथार्थ का सीधे साक्षात्कार होता है। उन्हीं के एक अन्य नाटक– एक और द्रोणाचार्य– में महाभारतकालीन आचार्य और आधुनिक अध्यापक की बिम्ब-प्रतिबिम्बात्मकता अनुकरण का उल्लंघन है, लेकिन इस उल्लंघन ने यथार्थ को कलात्मक सार्थकता प्रदान की है।

ऊपर दिए गए सब उदाहरण उन नाटकों के हैं जिनमें यथार्थ का साक्षात्कार यथार्थाभासी प्रस्तुति के अतिक्रमण द्वारा कराया गया है। भरत मुनि की शब्दावली के प्रयोग की छूट ली जाए तो ये सब नाटक 'लोकस्वभावज' और 'लोकप्रमाण' हैं, लेकिन लोकधर्मी अभिनय की परिकल्पना में बँधे नहीं हैं। 'अवस्थानुकृति' की सीमाओं को लाँघकर सुखदुःख-समन्वित 'लोकस्वभाव' अभिनयोपेत है। आज की शब्दावली में कहा जा सकता है कि इन नाटकों में अनुकरण से विचलन यथार्थवाद-विमुखता का द्योतक नहीं बन सका है। इससे इस मत का स्वतः निराकरण हो जाता है कि यथार्थवादी रंगमंच अनुकरण की कला है या ऐसी कला है जिसका लक्ष्य अनुकरण है।

यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना का उपयोग सदैव यथार्थवादी नाटकों की रचना के लिए किया जाता हो– ऐसा भी नहीं है। त्रि. त्र्यं खानोलकर के **कालाम तस्मै नमः**, विष्णु प्रभाकर के **डॉक्टर**, मधुराय के **किसी एक फूल का नाम लो**, जैसे नाटकों में यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना में मनोवैज्ञानिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



विलक्षणताएँ अंकित की गई हैं। ये विलक्षणताएँ इतनी अपूर्व हैं कि इनकी सत्ता केवल इन कृतियों में मिलती है, 'लोकप्रमाण' का बल उन्हें प्राप्त नहीं है। ये लेखक की अपनी दिमागी उपज हैं, इसलिए मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कृतियाँ नहीं कहला सकतीं। इसी प्रकार जयवन्त दलवी के नाटक **संध्याछाया** और वि. वा. शिरवाडकर के **नट सम्राट** में पारिवारिक-सामाजिक सम्बंधों का भावरंजित अंकन होने से ये नाटक असंदिग्ध रूप से यथार्थवादी नहीं कहे जा सकते। गोविन्दवल्लभ पंत के **कठघर**– जैसे सोद्देश्य, प्रचारात्मक और मनोरंजन प्रधान नाटक तथा जगदीशचन्द्र माथुर के **कोणार्क** और **शारदीया** जैसे भावसिक्त एवं कल्पनारम्य नाटकों ने भी यथार्थाभासी प्रस्तुति–परिकल्पना में आकार ग्रहण किया है; लेकिन इस नाते इन्हें यथार्थवादी रंगमंच की कृतियाँ मानना 'यथार्थवाद' के अर्थ को रबड़ की तरह खींचकर क्षीण कर देना होगा।

यथार्थवादी रंगमंच की पूरी सम्भावना यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना के साथ लिखे गए यथार्थवादी भावबोध के नाटकों में निहित रहती है और इस कोटि के नाटकों को लेखक के रंगबोध के अनुरूप मंचित करने में यथार्थवादी रंगमंच प्रत्यक्ष हो उठता है। भीष्म साहनी का **हानूश**, मधुराय का **कुमार की छत पर** तथा विजय तेंदुलकर के **खामोश ! अदालत जारी है**, **गिद्ध** और **बेबी** इसी प्रकार के नाटक हैं। यदि 'यथार्थवादी रंगमंच' का प्रयोग बहुत कठोरतापूर्वक किया जाए तो इन जैसे नाटकों में ही वह सार्थक हो सकेगा।

लेकिन, रंग-लेखन की सर्जनात्मकता को 'अनुकरण' में बाँध रखने में अब बहुत कम नाटककारों की रुचि रह गई है। बहुत ही थोड़े नाटक मिलेंगे जिन में यथार्थाभास के सभी पक्ष– तद्वत् दृश्य-सज्जा, देशकालानुरूप वस्त्र-विन्यास एवं रूप-सज्जा, सहज भावमुद्राएँ एवं आंगिक चेष्टाएँ, प्रकृत रंग-भाषण और प्रेक्षागृह से रंगस्थल के बिलगाव की या प्रेक्षागृह की सत्ता के अभाव की धारणा के साथ प्रेक्षकों की उपस्थिति से निरपेक्ष घटनाक्रम की प्रत्यक्षता–विद्यमान हों। इसके विपरीत ऐसे नाटकों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है जिनमें यथार्थाभासी प्रस्तुति के उपर्युक्त पक्षों में से किसी-न-किसी की स्पष्ट अवमानता की गई है। गिरिराज किशोर के **प्रजा ही रहने दो** में अन्त्यानुप्रासयुक्त संवादों में अनुकरणमूलक रंगभाषण की खुली उपेक्षा देखी जा सकती है। लक्ष्मीनारायण लाल के **यक्षप्रश्न** में रंगभाषण तो लोकस्वभावानुरूप है, लेकिन दृश्यसज्जा यथार्थाभासी नहीं है। गिरीश कारनाड के नाटक **तुग़लक** में बहुदृश्यी विधान होने पर भी प्रत्येक दृश्य का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नाटक के मंचन में दिल्ली से दौलताबाद तक फैले दृश्यों का संकेत एक ही दृश्यबंध के विभिन्न भागों में कर दिया गया। मुद्राराक्षस के **योअर्स फेथफुली** में दृश्यसज्जा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



और संवाद अनुकरणमूलक हैं, लेकिन घटनाक्रम यथार्थ की व्यंजना तद्वत्ता के के अतिक्रमण के माध्यम से करता है।

यथार्थाभासी प्रस्तुति की अपनी सीमाएँ हैं क्योंकि रंगस्थल पर यथार्थ का भ्रम बहुत कम अंशों में उत्पन्न किया जा सकता है। सिनेमा के अविष्कार से यह बात बहुत साफ़ हो गई है कि यथार्थ के प्रत्यंकन के लिए विशाल क्षेत्र खुला पड़ा है, लेकिन नाटक उसका बहुत सीमित उपयोग कर सकता है। नाटक में यथार्थाभास न तो उतना गतिमय हो सकता है न उतना वैविध्यमय और व्यापक, न उतना यथावत् जितना सिनेमा में सम्भव है। यही कारण है कि विजय तेंदुलकर जैसे यथार्थवादी नाटककार की प्रस्तुति-परिकल्पना या तो एक ही दृश्यबन्ध में समय के अन्तराल से अनेक दृश्यों की सृष्टि करती है या फिर नाटक के आरम्भ से अन्ततक एक ही दृश्य चालू रहता है। पहली विधि का विनियोग **सखाराम बाइंडर** और **गिद्ध** में हुआ है जब कि दूसरी विधि **खामोश ! अदालत जारी है** में दिखलाई देती है। यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने के मामले में रंगमंच सिनेमा की तुलना में अपने-आपको बहुत हीन पाता है, इसलिए यथार्थ की प्रस्तुति के नए रास्ते खोजकर अपनी अस्मिता का पुनराविष्कार उसके लिए अपरिहार्य हो गया है। यथार्थ की प्रतीति कराने के लिए वह तद्वत् प्रदर्शन के भरोसे अब नहीं रह सकता। आधुनिक भारतीय नाटकों में अपनी पहिचान के लिए रंगमंच की सचेष्टता स्पष्ट दिखलाई देने लगी है और उसी में यथार्थवादी रंग-सर्जन की विलक्षण भंगिमाएँ भी सामने आई हैं।

यथार्थवादी भावबोध के प्रेषण की नई विधियों की खोज में आधुनिक भारतीय रंगमंच यथार्थाभास-भंजक प्रस्तुति-परिकल्पना तक पहुँच गया है और यहाँ तक पहुँचने के लिए उसने ब्रेख्त के रंगमंच से लेकर भारतीय लोकरंग और संस्कृत रंगमंच की प्रकृति के परिज्ञान तक से पाथेय ग्रहण किया है। आधुनिक भारतीय रंगमंच के, संभवतः, सबसे प्रखर यथार्थवादी सर्जक विजय तेंदुलकर का कृतित्व ही इसका सबसे समर्थ प्रमाण है। जहाँ अपने अन्य यथार्थवादी नाटकों में उन्होंने यथार्थाभासी प्रस्तुति-परिकल्पना का सहारा लिया है, वहीं **घाशीराम कोतवाल** में उन्होंने यथार्थाभास-भंजन द्वारा यथार्थ को अत्यन्त प्रभावशाली रूप में प्रेषित किया है। इस नाटक में रंग-भाषण से लेकर दृश्यविधान और रंग-व्यापार तक में अनुकरण का निषेध स्पष्ट दिखलाई देता है। इसी निषेध के बल पर तेंदुलकर ने भ्रष्टाचार-व्यभिचार-अनाचार-अत्याचार-अन्याय की घृणास्पदता उभारी है। समय और समाज की विकृतियों की व्यंजना के लिए नाटककार ने इन्सानी पर्दे का प्रयोग किया है। ऐसा करके वह विकृतियों की व्यापकता का भान कराने में बहुत सफल रहा है। रंगस्थल पर पात्रों की असामान्य गतिविधि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



ने विकृति-बोध को प्रखरता प्रदान की है। यथार्थ का यह विस्फारित अंकन मर्म-प्रहार की अपूर्व क्षमता से सम्पन्न है। विकृति को उभार कर सामने लाने की जो क्षमता कार्टून में होती है वह यथावत् चित्रांकन में नहीं होती। **घासीराम कोतवाल** की प्रभाव-क्षमता का रहस्य इसी बात में निहित है।

उक्त नाटक में यथार्थाभास-भंजन से यथार्थ का सम्प्रेषण बाधित नहीं हुआ। तो इसका कारण यह है कि अनुकरण का निषेध होते हुए भी उसमें प्रतिविधान अक्षुण्ण रहा है। इससे यह प्रकट होता है कि यथार्थ की अभिव्यक्ति अनुकरण पर नहीं, प्रतिनिधान पर निर्भर रहती है। गिरीश कारनाड के **हयवदन** में भी, इसलिए, यथार्थाभास को जानबूझकर बार-बार खंडित किए जाने के बावजूद मनोवैज्ञानिक यथार्थ का सम्प्रेषण अक्षुण्ण रहा है।

प्रतिनिधान अनुकरण-निर्भर नहीं है, फिर भी अनुकरण उसका सबसे लोकप्रिय रूप अवश्य है। **आधे-अधूरे, द्रौपदी, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, शुतुरमुर्ग, फंदी, एक और द्रौणाचार्य** आदि नाटकों में रंगयुक्तियों के प्रयोग से अनुकरण अक्षुण्ण न रहने पर भी गेस्टाल्ट या समग्र स्वरूप की दृष्टि से प्रतिनिधान अनुकरणपरक ही रहा है — कम-से-कम अनुकरणप्रधान अवश्य रहा है; लेकिन **घासीराम कोतवाल** में अतिरंजना और विद्रूपण द्वारा अनुकरण से जो छूट ली गई है, उसके कारण इस नाटक में प्रतिनिधान का स्वरूप अनुकरणात्मक नहीं रह गया है। इससे भी आगे की स्थिति गिरीश कारनाड के **हयवदन** में देखने को मिलती है जिसमें अनुकरण को अपनाते हुए भी उसे रंगयुवितयों एवं संकेतधर्मी अभिनय की परिकल्पना से रह-रह कर बाधा पहुँचाई जाती रही है और प्रेक्षकों को सीधे सम्बोधित करते हुए उन्हें बार-बार यह याद दिलाकर कि वे जो देख रहे हैं वह नाटक है, यथार्थ नहीं, अनुकरण की अनुभूति या यथार्थ के भ्रम को निरस्त कर दिया गया है। फिर भी नाटक की कथानक-निर्भरता में प्रतिनिधान विद्यमान है। इस प्रकार के प्रतिनिधान को अनुकरणभंजक या यथार्थाभास-भंजक कह सकते हैं। यथार्थवादी रंगमंच अपनी प्रतिनिधानपरकता में अनुकरण का पथ ग्रहण कर सकता है तो उसकी अवमानना करते की क्षमता भी उसमें है।

यथार्थवादी रंगमंच के लिए प्रतिनिधान आवश्यक है, पर्याप्त नहीं। यथार्थवादी भावबोध को रंगस्थल पर आकार देने का निमित्त बनकर ही प्रतिनिधान रंगमंच को यथार्थवादी बना सकता है। यथार्थवादी भावबोध के अभाव में न तो अनुकरणपरक प्रतिनिधान रंगमंच को यथार्थवादी बना सकता है न अनुकरणभंजक प्रतिनिधान। इस दृष्टि से तेंदुलकर के नाटक **पंछी ऐसे आते हैं** की चर्चा बहुत प्रासंगिक जान पड़ती है। इस नाटक में लेखक ने प्रतिनिधान के अनुकरणपरक और अनुकरणभंजक रूपों को एक-दूसरे से टकरा दिया है। तेंदुलकर ने अपनी इस रचना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



में 'कट आउट' के दिखाई देने, सरककर भीतर चले जाने और फिर-फिर काम में लिए जाने का क्रम आरम्भ से अन्त तक बनाये रखकर यथार्थाभासी दृश्य-सज्जा का जो निधान किया है, वह नाटककार की अनुकरणपरक प्रस्तुति-परिकल्पना का द्योतक है। इसके साथ ही रंगभाषण तथा पात्रों की चेष्टाओं का अंकन भी अनुकरणपरक प्रतिनिधान के अनुरूप है; लेकिन घटनाक्रम जिस रूप में उन्मीलित है, वह यथार्थाभास को बहुत ज़ोर का धक्का देता है। नायक अरुण एक स्मृत प्रसंग के रूप में यह नाटक रंगस्थल पर उपस्थित करता है और अन्य पात्रों के साथ स्वयं भी नाटक के भीतर का व्यक्ति बन जाता है। इस प्रकार वह पूर्वप्रसंग की याद करनेवाला होने के साथ ही अपनी याद की दृश्यात्मक परिणति का अंग बनकर भी दर्शकों के सामने आता है. लेकिन नाटक के बीच रहकर वह चाहे जब उससे बाहर निकल आता है और नाटक के घटनाक्रम तथा पात्रों पर इस प्रकार चुटकियाँ लेने लगता है मानो वह दर्शकों में है, पात्रों में नहीं। जब वह दर्शकों को सम्बोधित करता है तो यह आभास देता है कि वह जो-कुछ कह रहा है, उसे केवल दर्शक सुन रहे हैं; उस समय रंगस्थल पर पात्रों की सत्ता मानो उसके लिए है ही नहीं। रंगस्थल पर जो दृश्य दिखलाई दे रहा है वह रंगस्थल पर नहीं, नायक की स्मृति में है। इससे ऐसा लगता है कि रंगस्थल पर का दृश्य केवल मानली गई सचाई है। उसकी दृष्टिगोचरता प्रतीति या आभास भर है– इसका भान नायक दर्शकों को निरन्तर कराकर आभास की शक्ति को क्षीण करता है। इस प्रकार इस नाटक की प्रस्तुति–परिकल्पना में तेंदुलकर ने प्रतिनिधान के परस्पर विपरीत रूपों का जो द्वन्द्व उपस्थित किया है, उसने नाटक को रोचक बनाने में ही योग दिया है, उससे नाटक की प्रतिनिधानमूलकता पर कोई आँच नहीं आई है; फिर भी यह नाटक यथार्थवादी रंगमंच का नहीं रह गया तो इसलिए कि यह एक मनोरंजक स्थिति का प्रतिनिधान है, यथार्थबोध-सम्पन्न स्थिति का नहीं।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यथार्थवादी भावबोध से सम्पन्न होने के नाते ही कोई नाटक यथार्थवादी रंगमंच की कृति कहला सकता है। यदि किसी नाटक की रंग-संरचना इस सीमा तक यथार्थ-निवारक हो कि अंर्तनिहित यथार्थ प्रस्फुटित ही न हो सके, तो उसमें यथार्थवादी रंगमंच की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में यथार्थबोध या तो बिखर जाता है या रंग-कौतुक में खो जाता है। लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक सबरंग मोहभंग में यथार्थबोध की उपस्थिति अस्वीकार नहीं की जा सकती, किन्तु देशकाल के बोध का अतिक्रमण होने के साथ तार्किक व्यतिक्रम के फल स्वरूप यह नाटक रोचक एवं कौतुकपूर्ण दृश्यों की श्रृंखला बन गया है, जिसमें यथार्थ की गंधभर शेष रह गई।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अभिव्यक्तिवादी नाटकों में रंगमंच का यथार्थवाद प्रायः दो कारणों से कुंठित हो जाता है। एक तो ऐसे नाटकों में अभिव्यक्ति की विश्रृंखलता में यथार्थ छिन्न-भिन्न हो जाता है, दूसरे प्रतीकात्मकता उसे आच्छादित कर देती है। परिणाम यह होता है कि यथार्थ विच्छिन्न और प्रच्छन्न होकर रह जाता है और रंगमंच कौतुक की सृष्टि का उपादान बन जाता है। इसीलिए मणि मधुकर के **रसगन्धर्व** में यथार्थ के अग्निकण होते हुए भी यथार्थवाद उभर नहीं पाया है।

मुख्य बात नाटक की रंग-संरचना और उसके मूल में नाटककार के रंगबोध की है। यथार्थवादी रंग-संरचना कौतुकधर्मी रंग-संरचना से इस नाते भिन्न होती है कि जहाँ कौतुकधर्मी रंग-संरचना में कुतूहलपूर्ण, रोचक एवं मनोरंजक दृश्य-शृंखला की **उद्भावना** अभीष्ट होती है, वहाँ यथार्थवादी रंग-संरचना यथार्थबोध के **सम्प्रेषण** की ओर अभिमुख होती है। इसलिए प्रतिनिधान का कोई-न-कोई रूप उसमें अनिवार्यतः रहता है। सार-रूप में कहा जा सकता है कि **रंगस्थल पर यथार्थवादी भावबोध के प्रतिनिधान** में यथार्थवादी रंगमंच की पहिचान निहित है। जब कोई नाटक इस प्रकार की रंग-संरचना को अंगीकार करता है तभी उसके भीतर यथार्थवादी रंगमंच रूपग्रहण करता है।

हिन्दी–विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

–जगदीश शर्मा

## टिप्पणी

१. शेल्डन चेनी, **रंगमंच**, पृ. ५४५ (अनुवाद : श्रीकृष्णदास), हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# माया की अवधारणा : नागार्जुन और शंकर

बौद्ध चिन्तन-धारा में माध्यमिक-दर्शन और वेदान्त-सिद्धान्त में अद्वैत-वेदान्त अपनी चरम परिणति में प्रफुल्ल-कुसुम के समान सुशोभित है। यद्यपि इनकी चिन्तन-प्रक्रिया और शब्द-विन्यास में विषमता दिखाई देती है, फिर भी पुष्प में पराग के समान उनकी ज्ञानगरिमा की गंध दोनों रूपों में हृदयग्राही है। यही कारण है की कुछ विद्वानों ने इन मतों के प्रतिपादक आचार्यों को एक-दूसरे की चिन्तन धारा से प्रभावित माना है।

दोनों सिद्धान्तों में मायावाद का महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सम्प्रत्यय को लेकर यहाँ हम उनके चिन्तन सौष्ठव पर प्रकाश डालते हुए वैषम्य में साम्य का सूत्र खोजने का प्रयास करेंगे।

माध्यमिक-दर्शन में माया की समस्या जिस विशाल वृक्ष के रूप में दिखाई देती है उसके बीज बौद्ध दर्शन में प्रारम्भ से ही विद्यमान् थे। बुद्ध के वचनों में वह अविद्या के रूप में अंकुरित हुआ और नागार्जुन-दर्शन में नाना शाखाओं-प्रशाखाओं के साथ दूर तक छा गया। गौतम बुद्ध ने दुःखों के हेतुओं की खोज करते हुए अविद्या को उसका मूलकारण निर्धारित किया था। अविद्या से संस्कारों आदि की उत्पत्ति होती है और प्राणी दुःखों के चक्र में पड़ जाता है। धम्मपद में हम ये जब वचन देखते हैं कि "व्यक्ति इस संसार को जल बद्बुद या मृग मरीचिका के समान देखता है तो उस पर यमराज अपनी दृष्टि डालने का साहस नहीं करते।" तो हमें संसार की नश्वरता और मिथ्यात्व का संकेत मिलने लगता है।[1] वे आगे कहते हैं कि बाल बुद्धि के मनुष्य ही इस संसार में आसक्ति रखते हैं, ज्ञानी जन इस में लिप्त नहीं होते।[2]

धम्मपद के इन वचनों में यह निहितार्थ स्पष्ट है कि यद्यपि यह जगत् नश्वर और मिथ्या है, किन्तु अविद्या के कारण मनुष्य को नित्य और सत्य प्रतीत होता है और वह उसमें आसक्त हो जाता है। विद्या का उदय होने पर जगत् का यथार्थ मिथ्या रूप दिखाई देने लगता है और उसमें मोह नहीं रह जाता।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ४, सितम्बर, १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



बुद्ध के उपरान्त बौद्ध दर्शन के वैभाषिक आदि मत विकसित हुए और उन के वस्तुवाद से प्रत्ययवाद की ओर बढ़ने के साथ ही माया की प्राक्कल्पना उभड़ कर सामने आई और उसने तत्त्वमीमांसीय रूप धारण कर लिया।

सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र में कहा गया है कि समस्त धर्म, जीवजगन्मय सम्पूर्ण बुद्धि-ग्राह्य पदार्थ स्वभावशून्य हैं। वे माया और स्वप्न के समान मिथ्या, कदली-स्तम्भ की भांति निःसार, प्रतिध्वनि के समान अलीक हैं। अज्ञान के कारण वे सत्य प्रतीत होते हैं और उनमें मोह उत्पन्न होता है जो बंधन और दुःख का कारण है। जिस में पारमार्थिक दृष्टि उत्पन्न हो गयी है वह सर्वत्र सम देखता है, सब निश्चित रूप में सर्वदा सम है और केवल "समत्व" का ही सार्वभौम साम्राज्य है—ऐसा समझने वाला ही निर्वाण भी जानता है।[३]

अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र में इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि बुद्धिगम्य सभी पदार्थ स्वभावशून्य हैं। वे परस्परसंभवन से अस्तित्ववान् प्रतीत होते हैं। प्रज्ञापारमिता बुद्ध और निर्वाण भी अन्ततः मिथ्या है। यदि निर्वाण के बाद भी कोई अन्य धर्म बुद्धिग्राह्य हो तो उसे हम मायोपम या स्वनोपम ही कहेंगे।[४]

शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र में बुद्ध दर्शन माया की अवधारणा की ओर एक पग और आगे बढ़ जाता है। अभी तक सभी बुद्धिगम्य धर्म माया के समान मिथ्या कहे जाते थे, किन्तु अब उन्हीं को माया घोषित कर दिया गया। यहाँ कहा गया है कि सब धर्म नामरूपमय हैं और नामरूपमय होने से मायामय हैं क्योंकि नामरूप ही माया है और माया ही नामरूप है।[५] माया का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि माया न सत् है, न असत्, न सदसत्। माया का यही लक्षण है। वह विचार सहन नहीं कर सकती, विचार करते ही वह विलीन हो जाती है। उसका अपना कोई स्वभाव नहीं है।

माध्यमिक सम्प्रदाय को सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने वाले विचारक नागार्जुन ने जगत् को मायिक ही सिद्ध किया है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ मध्यमकशास्त्र का आद्योपान्त यही प्रयोजन है। जितने भी इंद्रियगोचर या बुद्धिगम्य धर्म हैं उन सब को नागार्जुन ने एक-एक कर के अपने चतुष्कोटि न्याय द्वारा स्वभावशून्य सिद्ध किया है। उनके मतानुसार विचार करने से ज्ञात होता है कि धर्मों का न निषेध है, न उत्पत्ति; वे न अनित्य हैं, न नित्य; वे न एक हैं और न अनेक; उनका न आना होता है और न जाना। हमारी ज्ञानदृष्टि में यह प्रतीत्यसमुत्पाद है, और तत्त्वतः यही प्रपंचशून्यता है।[६]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



पहले हम देखेंगे कि नागार्जुन जगत् का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए किन दृष्टान्तों को प्रयोग में लाते हैं। इससे स्पष्ट हो जायगा कि जगत् के सम्बन्ध में उनकी क्या धारणा है। वे कहते हैं कि जैसे माया हो अथवा गंधर्वनगर हो, अथवा स्वप्न हो वैसे ही समस्त धर्मों की उत्पत्ति होती है, वे स्थित रहते हैं और भंग हो जाते हैं। [७] रागादि क्लेश, शुभाशुभ कर्म, शरीर, आत्मा और कर्म के फल ये सभी गंधर्वनगर जैसे हैं, मृगमरीचिका के समान है। अथवा स्वप्न सदृश हैं। [८]

इन प्रसंगों की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति जगत् को मायामय मानने का कारण बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जैसे माया आदि स्वभाव से अनुत्पन्न और अविद्यमान है वैसे ही सभी धर्म स्वभाव से अविद्यमान हैं। नागार्जुन अपने शिष्यों को अनुग्रहपूर्वक यह दृष्टान्त देकर समझाते हैं। [९] चन्द्रकीर्ति पुनः स्पष्ट करते हैं कि जैसे मायाहस्ति को देखकर बालक उसे सत्य मान लेते हैं वैसे समस्त लौकिक पदार्थ मायामय होते हुए भी बाल बुद्धि के अज्ञानी मनुष्य उसे सत्य मानते हैं। अविद्या तिमिर से उपहत मतिनयन में मिथ्या संसार भी सत् भासित होता है। [१०]

गंधर्वनगर का दृष्टान्त भी धर्मों के मिथ्यात्व का बोधक है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं–क्लेशादि अर्थों को गंधर्वनगर के समान निःस्वभाव समझना चाहिए। [११]

चन्द्रकीर्ति अपनी व्याख्या के समर्थन में अन्य बौद्धग्रन्थों का उद्धरण देते हैं जिनमें इन दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है और निर्णय रूप में सभी धर्मों को स्वभावशून्य या मिथ्या कहा गया है। [१२] चतुःशतक में अलातचक्र, जल में चन्द्र-बिम्ब, प्रतिध्वनि आदि दृष्टान्त भी दिए गये है। चन्द्रकीर्ति ने समाधिराजसूत्र का वह श्लोक कई बार उद्धृत किया है जिसमें उस कुमारी का दृष्टान्त दिया गया है जो स्वप्न में देखती है कि उसने एक पुत्र को जन्म दिया है और फिर वह मर भी जाता है। पुत्र पाकर कुमारी प्रसन्न होती है और उसके मर जाने पर रोने लगती है। [१३] यह स्वप्न के दृष्टान्त को विस्तृत और स्पष्ट कर देता है। समधिराज सूत्र में ही यह भी कहा गया है कि जिस प्रकार गंधर्वनगर, मृगमरीचिका, माया या स्वप्न स्वभावशून्य हैं वैसे ही सभी धर्मों को स्वभावशून्य जानना चाहिए। [१४]

नागार्जुन माया और जगत् के धर्मों को समान लक्षण वाला पाते हैं। दोनों स्वभावशून्य हैं, दोनों मिथ्या हैं, दोनों कृतक ( बनावटी ) हैं और दोनों अविद्या-जन्य हैं।

यदि किसी वस्तु का स्वभाव है तो वह अकृतक ही होगी – " अकृत्रिमः स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च। " किन्तु सभी वस्तुयें उत्पन्न और नष्ट होनेवाली

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



दिखाई देती हैं अर्थात् वे कृतक हैं। कृतक और स्वभावशून्य होना एक ही बात है। इसे चन्द्रकीर्ति लंकावतार सूत्र का एक श्लोक उद्धृत करते हुए स्पष्ट करते हैं कि किसी के नेत्रों में तिमिर हो जाने पर जिस प्रकार हवा में उड़ते हुए बाल दिखायी देते हैं यद्यपि वे मिथ्या हैं, हवा में उड़ते नहीं है उसी प्रकार संसार के सभी धर्म मिथ्या होते हुए भी अज्ञानी को सत्य प्रतीत होते हैं। [१५]

इस मायिक प्रपंच को यथार्थ मान लेने का कारण बताते हुए चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि "अयोनिशो हि रूपादिकं विकल्पयतो बालपृथग्जनस्य क्लेश उपजायते"। अर्थात् गंभीरता से विचार न कर सकनेवाले सामान्य मनुष्य रूपादि को सत् मान कर राग द्वेष आदि क्लेशों से पीड़ित हो जाते हैं। [१६]

नागार्जुन कहते हैं कि विचार करने से इस माया का बोध हो सकता है। विचार किस प्रकार करना चाहिए उसकी विधि का विवेचन वह मध्यमकशास्त्र में आद्योपान्त करते हैं। चन्द्रकीर्ति अपनी व्याख्या में मध्यमकशास्त्र की रचना का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि इस की रचना संशय और मिथ्या ज्ञान नष्ट करने के लिए की गयी है। [१७]

नागार्जुन के मतानुसार संसार का मूल संस्कार है और संस्कार अविद्वान् में में ही उत्पन्न होते हैं। यदि अविद्या निरुद्ध हो जाय तो फिर संस्कार संभव नहीं है। [१८] चन्द्रकीर्ति के शब्दों में "प्रहीण अविद्यस्य संस्कारा निरुध्यन्ते" अर्थात् अविद्या के नष्ट होने पर संस्कार अवरुद्ध हो जाते हैं। अविद्या को नष्ट करने के लिए नागार्जुन चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग करते हैं। यही उनकी विचार पद्धति है।

वेदान्त में भी माया की अवधारणा क्रमशः विकसित हुई है। ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग इन्द्रजाल या छद्म के अर्थ में हुआ है। उपनिषदों में वही माया जगत् की रचना करनेवाली ईश्वरी शक्ति बन गई। शंकर के अद्वैतवेदान्त में समस्त जगत् ही मायामय हो गया।

ऋग्वेद संसार का सब से प्राचीन साहित्य है। उसमें माया शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। उसका सब से प्रसिद्ध वाक्य है–

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" [१९] अर्थात् इन्द्र माया-शक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। यहाँ माया के साथ शुभ और अशुभ दोनों भाव जुड़े हैं। राक्षस की माया छल करने वाली और धोखा देने वाली है किन्तु मित्र और वरुण माया के द्वारा ही वर्षा करते हैं, अतः यह कल्याणकारी भी है। [२०] माया के कारण ही सूर्य और चन्द्र अस्त और उदित होते हैं। दोनों ही भावों में माया शब्द प्रयोग किसी रहस्यमय शक्ति का सूचक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अथर्ववेद में हम देखते हैं कि माया उत्पन्न होती है।[२१] यहाँ माया शब्द का प्रयोग करनेवाला ऋषि माया को एक रहस्यमयी शक्ति तो मानता ही है साथ ही उससे उत्पन्न होने वाली रचना (कार्य) को भी माया ही स्वीकार करता है। माया कारण और कार्य दोनों है।

उपनिषदों में ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति बताई गई है और वहाँ माया शब्द का प्रयोग भी किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् यद्यपि यजुर्वेद का एक अंश है फिर भी उसका ऋषि ऋग्वेद के प्राचीन मंत्र "इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते" को नये प्रसंग और नये अर्थ में प्रयोग करता है। वह कहता है कि ब्रह्म नाम-रूप धारण कर नानाविधि से हो गया। ईश्वर माया से अनेकरूप प्रतीत होता है। ये रूप कहीं दस, कहीं हजार, कहीं अनन्त हैं।[२२]

श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं– "वेद, यज्ञ, ऋतु, व्रत, भूत, भविष्य और वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं वह सब मायावी माया से ही उत्पन्न करता है और उस में ही माया से अन्य-सा होकर बाँधा रहता है।[२३] इससे स्पष्ट है कि समस्त देश-काल और कार्य-कारण सहित जगत् उस परमेश्वर से रचित है जो मायिक शक्ति का धारणकर्ता है; और माया के कारण ही जीव ब्रह्म से अन्य-सा होकर इस मायामय जगत् में बँधा है। अगले मंत्र में ऋषि अधिक स्पष्ट करते हुए स्वयं कहते हैं– "प्रवृत्ति को जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयवभूत से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।"[२४] यहाँ इस बात का भी संकेत मिलता है कि माया (प्रकृति) अवयवभूत है। यह लक्षण उसके स्वामी महेश्वर में नहीं है। संभव है ऋषि का संकेत माया के अवयवभूत सत्व, रज और तम तीन गुण ही हों।

प्रश्नोपनिषद् के पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि जिनमें न कुटिलता है, न अनृत है और न माया है उन्हीं को वह निर्विकार ब्रह्मलोक मिलता है।[२५] यहाँ माया से तात्पर्य जगत् या जगत् कर्तृ-शक्ति नहीं है। यह माया या तो मनुष्य का छल प्रपंच-कपट जैसा कोई मानसिक दोष है या अविद्या है। पहला अर्थ मानना इसलिए उचित नहीं है कि उनके पर्यायवाची शब्द "जिह्मम्" और "अनृतम्" का प्रयोग स्वयं ऋषि करते हैं। अतः माया का तात्पर्य अविद्या ही होना चाहिए जिससे मुक्त होने पर मनुष्य ज्ञानस्वरूप परम सत् को जान लेता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में चार-पांच बार माया शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं यद्यपि अजन्मा हूँ और समस्त भूतों का स्वामी हूँ किन्तु प्रकृति को अपने वश में कर के अपनी माया के द्वारा अवतरित होता हूँ।[२६]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



इसका तात्पर्य है कि अधिष्ठान में जब उसके विपरीत लक्षण दिखाई देते हैं तो वह माया के कारण है। इस माया का परिचय कराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं– "मेरी माया गुणमयी है और उसे पार करना कठिन है; जो मेरी शरण में आते हैं वही उसके पार जा पाते हैं।[२७] गीता के अनुसार गुणमयी प्रकृति ही है[२८] और गुण सत्व, रज और तम हैं जिनसे जगत्-रूप इन्द्र-जाल उत्पन्न हुआ है। यहाँ माया शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है– १ जगत् की रचना करने वाली त्रिगुणात्मक प्रकृति और २. जीव को बंधन में डालनेवाली मोहिनी शक्ति। अन्यत्र श्रीकृष्ण स्वयं स्पष्ट करते हैं कि माया ज्ञान को अपहृत कर लेती है।[२९] यह भी कहा गया है कि "अज्ञान से ज्ञान आवृत" है। दोनों की एकवाक्यता करने पर माया को अज्ञान ही मानना पड़ता है।[३०]

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार माया सृष्टिकर्ता की शक्ति है और मनुष्य का अज्ञान भी। जीव अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता।

शङ्कर के दादा गुरु गौड़पादाचार्य माया के द्वारा ही जगत् की रचना और जीव का बंधन मान कर इस शब्द का व्यापक प्रयोग करते हैं। वे अपनी माण्डूक्य कारिकाओं में माया को स्वप्न और गंधर्वनगर के तुल्य मानते हैं– "जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसा गन्धर्वनगर जाना गया है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषों ने वेदान्त में इस जगत् को देखा है।[३१] इससे स्पष्ट है कि गौडपाद माया को एक ऐसी शक्ति मानते हैं जो प्रतीत तो सत् होती है, किन्तु तत्त्वतः उसका अस्तित्व नहीं है। यह जगत् भी ऐसा ही है। उनके मन में यह माया आत्मा की ही एक शक्ति है जो अभेद में भेद की प्रतीति उत्पन्न करती है। वे कहते हैं– "स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं ही कल्पना करता है और वही सब भेदों को जानता है– यही वेदान्त का निश्चय है।[३२] इस प्रकार आत्मा माया से नानात्व की कल्पना नहीं करता वरन् अपने स्वरूप को भूलकर जीव भाव धारण कर लेता है। वे कहते हैं– "जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है, उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध होता है।[३३] इसका तात्पर्य है कि माया अनादि है और वह जीव को सुप्तावस्था में डाले रहती है।

इस प्रकार गौडपाद के अनुसार माया आत्मा या ब्रह्म की शक्ति है जो द्वैत का आभास उत्पन्न करती है। उससे एक ओर जगत् का विस्तार होता है और दूसरी ओर जीव उसी के कारण जगत् को सत् समझकर परम सत् को भूल जाता है या उसीसे पृथक् सा हो जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



शंकर को माया विषयक अपनी अवधारणा निर्मित करने में उपनिषद्, गीता और गौडपाद-कारिका की पृष्ठभूमि उपलब्ध थी। वे अपने पूर्ववर्ती इन वेदान्त ग्रन्थों से अवश्य प्रभावित हुए हैं। उन्होंने माया शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है उसे स्वयं स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार "माया परमेश्वर की शक्ति है जिसका नाम है अव्यक्त। वह अनादि है, अविद्यारूप है, त्रिगुणात्मक है और परा है। बुद्धिमान मनुष्य उसके कार्य को देखकर कारणरूपा माया का अनुमान लगा सकते हैं। यह माया बड़ी अद्‌भुत और अनिर्वचनीय है। इसे किसी परिभाषा में नहीं बांधा जा सकता है क्यों कि यह न सत् है, न असत् है और न उभयात्मक ही; यह परम तत्त्व से न भिन्न है, न अभिन्न और न उभयात्मक; यह न अंगों वाली है, न अंगरहित अखण्ड एक है और न उभयात्मिका ही।[३४]

शंकर के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वे 'माया को परमेश्वर की शक्ति मानते हैं, जैसे शक्तिवान् से शक्ति पृथक् अस्तित्व नहीं रखती, वैसे ही माया का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह शक्ति परमेश्वर पर आश्रित है।[३५] माया से ही जगत् का विस्तार होता है। निष्क्रिय, अचिन्त्य, स्थाणु ब्रह्म स्वतः संसार की रचना नहीं करता, माया ही इसके लिए उत्तरदायी है। इसीलिए वे माया को परा कहते हैं। कार्य से कारण "पर" होता है। तीसरे यह माया ही जीव की अविद्या है। ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए शंकर माया की अवधारणा स्पष्ट करते हुए कहते हैं— "यह अविद्यात्मक बीजशक्ति अव्यक्त नाम से निर्दिष्ट है। वह परमेश्वर के आश्रित मायामयी एवं महासुषुप्ति है जिसमें स्वरूप ज्ञान से रहित संसारी जीव सोते हैं।... यह माया अव्यक्त ही है क्योंकि यह सद्रूप अथवा असद्रूप है, ब्रह्म से भिन्न है अथवा अभिन्न है। इस प्रकार इस का निरूपण नहीं किया जा सकता।"[३६] उपनिषदों में जो अव्यक्त शब्द आया है वह अविद्या या माया ही है। शंकर कठोपनिषद् का मंत्र "महतः परमव्यक्तम्" उद्धृत कर स्पष्ट करते हैं कि "अविद्या ह्यव्यक्तम्[३७] अर्थात् यह अविद्या ही अव्यक्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माया का सम्प्रत्यय नागार्जुन और शंकर दोनों के दर्शनों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है और दोनों में बहुत कुछ समानता भी है फिर भी ये दोनों दार्शनिक माया के विषय में अपने स्वतन्त्र विचार रखते हैं।

माया का स्वरूप दोनों में एक समान है, उसका कार्य भी एक समान है, किन्तु दोनों की तात्त्विक स्थिति या आधार में भेद है। स्वरूपतः, नागार्जुन माया को स्वप्न, इन्द्रजाल या गन्धर्वनगर के समतुल्य मानते हैं "यथा माया यथा स्वप्नो गंधर्वनगरं यथा"[३८] अर्थात् जैसे माया या स्वप्न या गंधर्वनगर हो वैसे ही यह जगत् भी है। गौडपादाचार्य की एक कारिका भी इसी के समतुल्य इस प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है– – " स्वप्नमाये यथा दृष्टे गंधर्वनगरं यथा, तथा विश्वमिदं " [३९] अर्थात् जैसे स्वप्न माया, गंधर्वनगर दिखाई देतीं हैं वैसे ही यह विश्व भी है। शंकर भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हुए इस प्रकार कहते हैं – – – " क्षेत्रं च मायानिर्मित-हस्ति स्वप्नदृष्टवस्तु गंधर्वनगरादिवद् असद् " अर्थात् क्षेत्र जगत् माया से रचे हुए हाथी, स्वप्न में देखी हुई वस्तु या गंधर्वनगर आदि की भांति असत् है। [४०]

इससे स्पष्ट है कि माया स्वप्न या गंधर्वनगर की भाँति देखने में सत्यवत् प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः वह असत् होती है। इस जगत् की प्रकृति या स्वरूप भी ऐसा ही है, इसलिये यह सब माया है। इस दृष्टि से दोनों दार्शनिक एक मत हैं।

इसके अतिरिक्त माया में अज्ञान की अवधारणा भी सम्मिलित है। उस के प्रति भी इन दोनों दार्शनिकों में मतभेद नहीं है। हम मायिक जगत् को अविद्या के कारण जैसा है वैसा न समझ कर अन्यथा मान बैठते हैं अर्थात् उस असत् को हम सत् समझते हैं। हमारी यह भ्रांति अविद्या–जन्य है। यह अविद्या भी माया ही है या माया का ही रूप है।

नागार्जुन के मतानुसार अविद्या के नष्ट होने से माया नष्ट हो जाती है। हमारी अविद्या नष्ट करने के लिए ही वह चतुष्कोटि न्याय या प्रसंगापत्ति [४१] का प्रयोग करते हैं। इसके द्वारा भ्रान्त धारणायें नष्ट हो जाती हैं। भ्रान्ति-निवृत्त ज्ञान के स्वच्छ प्रकाश में मायिक जगत् की सीमा विलुप्त हो जाती है। नागार्जुन इसी को निर्वाण या बुद्धत्व मानते हैं। [४२]

शंकर भी कहते हैं कि, " असद् एव सद् इव अवभासते इति एवं निश्चित विज्ञानो यः तस्य मिथ्या ज्ञानं अपगच्छति " अर्थात् जो व्यक्ति " यह वास्तव में नहीं है तो भी सत् की भांति प्रतीत होता है ऐसा निश्चय पूर्वक जान लेता है उस का मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है। [४३]

यह अविद्यात्मक माया दोनों आचार्यों के मत से अनादि है। दोनों ही जीव का पुनर्जन्म मानते हैं। इसलिये इस जन्म के पहले भी अनेक जन्म हो चुके हैं और उन सब जन्मों में अविद्या का बंधन रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रारम्भ कब हुआ। नागार्जुन इस प्रश्न पर सीधे विचार नहीं करते कि अविद्या का प्रारम्भ कब हुआ किन्तु बौद्ध दर्शन में सर्वमान्य द्वादश निदान पर विचार करते हैं जिसमें संसार का कारण अविद्या माना गया है। अविद्या की उत्पत्ति इसी जन्म के साथ नहीं हुई है, वह तो पूर्व जन्मों से चली आ रही है। इसलिये उसे अनादि ही माना जायेगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



शंकर अविद्या को स्पष्ट रूप से अनादि मानते हैं। "अनादि अविद्या" ४४ अविद्या अनादि है। जगत् की उत्पत्ति करने वाली माया भी अनादि है. किन्तु वह अव्यक्त और व्यक्त दो रूपों में देखी जाती है। अव्यक्त माया परमेश्वर की शक्ति है। वह प्रलय और सृष्टि काल में सदा विद्यमान है। व्यक्त माया सृष्टि काल में ही उपलब्ध होती है। व्यक्त माया अव्यक्त माया का कार्य है।

शंकर और नागार्जुन में माया के संप्रत्यय पर उस समय बिल्कुल भेद हो जाता है, जब हम देखते हैं कि शंकर माया को ईश्वराश्रित मानते हैं और नागार्जुन ऐसे किसी आश्रय पर न विश्वास करते हैं और न उसका उल्लेख ही। यदि माया के पीछे किसी नित्य, स्थिर, अचल वस्तु की कल्पना की जाय तो वह भी माया ही होगी। उसका शून्यवाद न किसी नित्य वस्तु को टिकने देता है और न नितान्त अभाव ही स्वीकार करता है। जैसे तिमिर रोग होने पर नेत्रों के सामने रोये से उड़ते दिखाई देते है और उनका आधार कुछ भी नहीं होता है वैसे ही यह सभी सृष्टि जिस में अपना व्यक्तित्व भी सम्मिलित है, निराश्रित मायिक सृष्टि है।

शंकर अविद्या के निवृत्त होने पर अपने नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप को पाते हैं। उसे आत्मा, सर्वात्मा या ब्रह्म कहते हैं। नागार्जुन अविद्या निवृत्त हो कर किसी नित्य का दर्शन नहीं करते हैं। वह समस्त दृष्टियों या धारणाओं से मुक्त होकर ही निर्वाण प्राप्त कर लेते है। उनके निर्वाण का अर्थ किसी नित्य आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं है, वरन् सर्व प्रकार के आत्मभाव से निवृत्त होना ही निर्वाण है।

नागार्जुन विद्या से अविद्या की निवृत्ति और उससे समस्त दृष्टियों का निषेध मान कर माया मुक्त हो जाते हैं, किन्तु अज्ञानी व्यक्तियों के लिए विषयगत जगत् अनन्त काल तक चला करता है। वे व्यक्ति से स्वतंत्र मायिक जगत् के आदि अन्त पर विचार करना आवश्यक नहीं मानते हैं। वे इस प्रश्न पर चुप रहते हैं कि यह जगत् कभी लय होगा या नहीं। यदि वे संसार का लय मानें तो उन्हें यह भी बताना पड़ेगा कि वह किस नित्य वस्तु में लय होता है और यदि पुनः उत्पन्न होता है तो क्यों और कैसे ? इन सब प्रश्नों से बचने के लिए वे जगत् की उत्पत्ति आदि प्रश्नों में नहीं पड़ते हैं।

दोनों आचार्यों की माया विषयक अवधारणाओं का तुलनात्मक मूल्यांकन करने पर हम देखेंगे कि वे अपनी सम्प्रदाय परम्परा से विमुक्त नहीं होना चाहते हैं। बौद्ध और वेदान्त दर्शनों में प्रारम्भ से ही संसार से विरक्त रहने का उपदेश दिया जा रहा था। वे विरक्त रहने के लिए संसार को नश्वर, क्षणिक और भ्रान्तिरूप बता रहे थे। नागार्जुन और शंकर ने भी उनके कथन को सत्य प्रमाणित करने के लिए तर्क की युक्तियाँ खोज ली और अपने चिन्तन की अंतिम अवस्था में इस जगत् को मायामय देखने लगे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



दोनों में जो अन्तर दिखाई देता है वह उनकी चिन्तन प्रक्रिया के कारण है। नागार्जुन का चिन्तन निषेधात्मक है और शंकर का विधेयात्मक। नागार्जुन की निषेधात्मकता उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है जब वे कह देते हैं कि "मेरी कोई प्रतिज्ञा ही नहीं है।" यदि वे जगत् या परम तत्त्व के विषय में कुछ अस्तिनास्ति कहते हों तब तो उसकी आलोचना या खण्डन किया जा सकता है। वे "सर्व दृष्टि प्रहाणाय" माध्यमिक दर्शन की उद्भावना करते हैं। परिणामस्वरूप यह नहीं कहा जा सकता कि मायिक जगत् के मूल में कोई सत् वस्तु है। कदाचित् हो भी तो नागार्जुन उसके अस्ति-नास्ति के अथवा लौकिक पारमार्थिक स्वरूप के विषय में कोई प्रतिज्ञा नहीं कर सकते। वे निर्वाण की भी कोई विधेयात्मक अवस्था नहीं मानते हैं। वैसा करने पर एक निश्चित दृष्टि बन जाती है और वह उनके भूत सिद्धान्त से विरुद्ध पड़ती है।

इसके विपरीत शङ्कर की दृष्टि विधेयात्मक है। वे एक अखण्ड अद्वितीय सत् तत्त्व (ब्रह्म) का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उसका ज्ञाता उससे पृथक् या भिन्न नहीं है। यदि कहीं कोई नानात्व दिखाई देता है तो वह इन्द्रियादि उपकरणों के माध्यम से प्रतीत होने वाला आभास मात्र है। उसे शङ्कर मायिक रचना मानते हैं। विधेयात्मक दृष्टि से यदि कुछ सत् माना जाता है तो वह अद्वितीय होना ही चाहिए। समान स्तर के दो सत् हो ही नहीं सकते, क्योंकि उस स्थिति में वे सीमित, परिछिन्न और नश्वर होंगे। नश्वर वस्तु सत् नहीं हो सकती है। इसलिए शंकर का विधेयात्मक तर्क ब्रह्म से पृथक् जगत् का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर सकता है। जगत् नामरूप मात्र मायिक प्रतीति है जो परम सत् पर अध्यारोपित है। यह मत हमारी बुद्धि की इस स्वाभाविक माँग की पूर्ति करता है कि कोई भी नश्वर या परिवर्तनशील वस्तु का एक स्थिर आधार होना चाहिए।

शङ्कर के मत में यह एक दोष हो सकता है कि परम सत् उस के कार्य रूप बुद्धि के द्वारा ग्राह्य या अनुमान में आनेवाला न होने पर भी बुद्धि उसके विषय में कुछ परिकल्पना करके एक मिथ्या धारणा बना सकती है। यह अनुचित है। इसे शंकर भी स्वीकार करते हैं और उसके लिए बुद्धि के परे जाने का आग्रह करते हैं। नागार्जुन इस कठिनाई से बचने के लिए बुद्धि में किसी प्रतिज्ञा करने या किसी दृष्टि को निर्धारित करने की स्वीकृति नहीं देते। समस्त दृष्टि विहीन होकर तथता प्राप्त की जा सकती है। भले ही शङ्कर के ब्रह्मज्ञान से नागार्जुन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



की तथता अधिक यथार्थ हो किन्तु इतना तो हर प्रकार से निश्चित है कि जगत् का नानात्व मायिक आभास मात्र है।

दर्शन विभाग — हृदयनारायण मिश्र
सागर विश्वविद्यालय
सागर (म. प्र.)

## टिप्पणियाँ

१. यथा बुद्बुदकं पस्से, यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोक अवेक्खन्तं, मच्चुराजा न पस्सति ॥ (धम्मपद–१७०)
२. वहीं १७१
३. सर्वधर्माः समाः सर्वे समाः समसमाः सदा।
एवं ज्ञात्वा विजानाति निर्वाणममृतं शिवम् ॥ (सद्धर्म. पृ. १४३)
४. यदि निर्वाणादप्यन्यः कश्चिद् धर्मो विशिष्टतरः स्यात्।
तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपममिति वदेयम् ॥ अष्ट. पृ. ४०
५. नामरूपमेव मायैव नामरूपम्। शत सा. पृ. ८९८
६. मध्यमकशास्त्र, कारिका १ व २
७. यथा माया यथा स्वप्नो गंधर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं भङ्ग उदीरितः ॥ म. शा. ७.३४
८. क्लेशाः कर्माणि देहाश्च कर्तारश्च फलानि च।
गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसंनिभाः ॥ म. शा. १७. ३३
९. प्रसन्नपदा, पृष्ठ ७४
१०. वही पृ. ७२
११. वही पृ. १४३
१२. चतुःशतक–१३. २५
१३. समाधिराजसूत्र ९. १७
१४. वही. ९. ११
१५. केशोण्डुकं यथा मिथ्या गृह्यते तैमिरिकैर्जनैः
तथा भावविकल्पोऽयं मिथ्या बलैर्विकप्यते ॥ लंकावतारसूत्र ३:५१
१६. म. शा. पृ. १४९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



१७. म. शा. पृ. १३
१८. वही, पृष्ठ, २४४
१९. ऋग्वेद ६.४७.१८
२०. वही ५–६३.३
२१. अथर्ववेद ८.९.५
२२. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति... । बृह २.५.१९
२३. छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि, भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धा श्वे. ॥ ४.९
२४. मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जनत् ॥ (श्वे. ४.१०)
२५. तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति। (प्रश्न. १.१६)
२६. संभवाम्यात्ममायया (गीता ४.६)
२७. दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया (गीता ७. १४)
२८. गीता १४-५
२९. गीता ७.१५
३०. गीता ५.१५
३१. स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरे यथा। तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ (गौ. का. २.३१)
३२. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया। स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्त निश्चयः ॥ (गौ. का. २.१२)
३३. गौ. का १.१६
३४. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥ (वि. चू. १०८)
३५. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गा ह्युभयात्मिका नो
महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा ॥ वि. चू. १०९
३६. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। ...अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्, ब्र. सू. १.४.३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



३७. ब्र. सू. १. ४. ३
३८. म. शा. ७.३४
३९. गौडपादकारिका
४०. गीता १३.२९
४१. चन्द्रकीर्ति लिखते हैं– "आचार्यो भूयसा प्रसंगापत्तिमुखनैक परपक्ष निराकरोति स्म" अर्थात् नागार्जुन बार-बार प्रसंगापत्ति के द्वारा पर-पक्ष का निराकरण करते है। म. शा. १–३ (पृष्ठ ८)
४२. संसारमूलान्संस्कारानविद्वान् संस्करोत्यतः। म. शा. २९.१०
अविद्या निरुद्धा संस्काराणामसंभवः। म. शा. २९–११
४३. गीता, १३, २६
४४. विवेक चूडामणि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# क्या 'युक्तियां' क्रिया की 'कारण' कही जा सकती हैं ?

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य समकालीन क्रिया-दर्शन (फिलासफी ऑफ एक्शन) की एक महत्वपूर्ण समस्या : 'क्या युक्तियां ( रीजन्स ) क्रिया की कारण है ?'* पर पक्ष और विपक्ष द्वारा दिये गये तर्कों को प्रस्तुत करना एवं यह इंगित करना है कि इस सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में दिये गये तर्क कितने सबल एवं कमजोर हैं।

स्पष्टता के लिए समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है ; मान लीजिए कि एक मनुष्य ( म ) ने एक क्रिया ( क ) की। 'क' को करने के लिए 'म' की युक्ति 'य' कारण थी या 'म' द्वारा 'क' को करने के 'कारण' का एक अंश मात्र थी ? कोई मनुष्य जब अपनी किसी क्रिया ( क ) की व्याख्या के रूप में युक्तियाँ देता है तब दार्शनिक प्रश्न यह उठता है कि युक्तियों के वर्णन में क्या किसी प्रकार की कारणात्मक शक्ति है ? 'कारण सिद्धान्त', तब और अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है जब युक्तियों के रूप में वह अपनी इच्छाओं, चाहों एवं पसंदों को व्यक्त करता है। लेकिन दूसरी ओर 'अभिप्राय-वादी सिद्धान्त' को मानने वाले विचारकों की समस्या यह है कि जब किसी प्रकार की कारणता कार्य नहीं कर रही है तो युक्तियाँ एवं इच्छाएँ कैसे प्रभाव-कारी हो सकती हैं ? इन दार्शनिकों का यह मानना है कि युक्तियों को क्रिया का कारण नहीं माना जा सकता। 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' की पुष्टि के लिए इन दार्शनिकों द्वारा दिये तर्कों में 'कारण सिद्धान्त' को मानने वाले दार्शनिकों ने त्रुटियाँ दर्शाई हैं। 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' में त्रुटियाँ दर्शाने के साथ-साथ ये दार्शनिक कुछ और अधिक कहना चाहते हैं। 'यह और अधिक है' कि 'युक्तियाँ' क्रिया की कारण हैं।

डॉनाल्ड डेविड्सन[1] द्वारा प्रतिपादित 'कारण सिद्धान्त'–'युक्तियाँ' क्रिया की कारण हैं – के विरुद्ध 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' को मानने वाले दार्शनिक



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



( एन्सकॉम्ब, हार्ट, मेल्डन आदि ) युक्तियों एवं क्रिया के बीच सम्बन्ध को कार्य-कारण के बीच के सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न मानते हैं। युक्तियां-क्रिया तथा कारण-कार्य के बीच निम्न तीन प्रमुख भेद हैं –

अ – कारण एवं कार्य एक दूसरे से तार्किक रूप से स्वतंत्र हैं जब कि युक्तियां एवं क्रियाएँ नहीं हैं।

ब – कारण तथा कार्य-सम्बन्ध सामान्यीकरण के उदाहरण हो सकते हैं जब कि युक्तियाँ—क्रिया सम्बन्ध नहीं हो सकते।

स – कारणात्मक सम्बन्धों को आगमनिक साक्ष्यों के आधार पर जाना जा सकता है जब कि कोई व्यक्ति अपनी स्वयं की क्रिया के लिए दी गई युक्तियों को उपरोक्त प्रकार के साक्ष्यों के बिना ही जान सकता है।[2]

डॉनाल्ड गस्टेपसन्[3] ने इन भेदों को क्रमशः 'प्रत्यात्मक तर्क,' 'सामान्य अनुलग्नता तर्क' तथा 'अन्तःस्थज्ञान के आधार पर दिया गया तर्क' कहा है।

उपरोक्त आलोचनाओं का विश्लेषण एवं डेविड्सन द्वारा उनका समाधान अब हम क्रमशः प्रस्तुत करेंगे।

( अ ) 'युक्तियाँ' क्रिया की कारण हैं इस मत के विरुद्ध प्रथम आपत्ति यह है कि ऐसा माना जाता है कि कारण उसके परिणाम ( या कार्य ) से तर्किक रूप से जुडा नहीं है अर्थात् यह तार्किक रूप से सम्भव है कि कारण उत्पन्न हो तथा इसका कल्पित कार्य उत्पन्न न हो। 'आकस्मिक कारणता' की जड़ें ह्यूम के दर्शन में देखी जा सकती है। कारण के बारे में इस मत को वर्तमान परम्परा-वादी मत के रूप में लिया जा सकता है। लेकिन युक्ति (अर्थात् इच्छा या प्रेरणा या घटना आदि ) तार्किक रूप से इसके परिणाम अर्थात् क्रिया से सम्बन्धित है। क्योंकि युक्तियों को, उन से उत्पन्न होनेवाले व्यवहार के सन्दर्भ बिना पहचाना नहीं जा सकता या उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए 'किसी के हाथ उठाने' के लिए युक्ति को उस के परिणाम या क्रिया को निर्दिष्ट करके ही पहचाना जा सकता है तथा इस 'संकल्प' को वर्णित करने का एकमात्र तरीका है कि इसे 'हाथ उठाना संकल्प' कहा जाय। दूसरे शब्दों में, अभिकथित कारण का वर्णन अभिकथित कार्य के स्वरूप द्वारा ही होता है। चूंकि युक्तियां अपने से उत्पन्न होने वाले व्यवहार से तार्किक रूप से स्वतन्त्र नहीं हैं अतः वे कारणात्मक रूप से सम्बन्धित नहीं हो सकती।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



डॉनाल्ड डैविड्सन इस मत का खण्डन यह कहकर करते हैं कि कारण एवं कार्य आकस्मित रूप से सम्बन्धित नहीं हैं। उनके अनुसार यह कथन कि 'प्रत्येक सत्य कारणात्मक कथन आनुभविक है,' गलत है। डैविड्सन के लिए 'कारणात्मक कथन' आभासी रूप से किसी भी कथन, जिसमें 'कारण' या 'कार्य' शब्द हों को निर्दिष्ट करता है। अतः उनका यह दावा कि युक्तियाँ क्रिया की कारण हैं– स्पष्ट रूप से सही है। स्पष्टता के लिए इस तर्क पर विचार कीजिए: अ, ब को उत्पन्न करता है सत्य है तब ब का कारण 'अ' होगा। इसको स्थानापन्न करने पर हमें प्राप्त होगा 'ब' के कारण ने 'ब' को उत्पन्न किया। लेकिन 'ब' के कारण ने 'ब' को उत्पन्न किया सचमुच ही अन्-आनुभविक सत्य कारणात्मक कथन है। डैविड्सन के अनुसार किसी कारणात्मक कथन की सत्यता इस बात पर आधारित है कि कौनसी (व्हाट) घटनाओं का वर्णन किया जाता है तथा वह कथन विश्लेषणात्मक या संश्लेषणात्मक है इस बात पर आधारित है कि घटनाएँ कैसे वर्णित की जाती हैं।

डैविड्सन यह स्वीकार करते हैं कि कारण कार्य आकस्मिक रूप से सम्बन्धित हैं या नहीं यह इस पर निर्भर करता है कि हमने घटनाओं का वर्णन किस प्रकार किया है। लेकिन डैविड्सन का यह दावा उपरोक्त तर्क का खण्डन नहीं करता। प्रथम प्रतिज्ञप्ति यह कहती है कि यह तार्किक रूप से सम्भव है कि घटना, जिसे 'कारण' नाम दिया जाता है, उत्पन्न होती है तथा घटना, जिसे 'कार्य' नाम दिया जायेगा, उत्पन्न नहीं होती। उदाहरण के रूप में यह तार्किक रूप से संभव है कि एक बिलियार्ड गेंद दूसरी गेंद पर चोट करे और दूसरी गेंद में गति न हो। डैविड्सन यह नहीं बताते कि यह या इसी प्रकार के कारणात्मक कथन गलत हैं। [४]

प्रथम आपत्ति (युक्तियाँ एवं क्रियाएँ एक दूसरे से कारण और कार्य की भाँति तार्किक रूप से स्वतन्त्र नहीं होती) के विरुद्ध और एक तर्क यह भी दिया जाता है कि कार्य-कारण के ऐसे बहुत से सामान्य उदाहरण मिल जाएँगे जहाँ उनका वर्णन तार्किक रूप से स्वतन्त्र नहीं है। 'चेहरे पर धूप से हुए काले धब्बों का कारण सूर्य है'– यह एक ऐसा उदाहरण है कि जिसमें कारण के द्वारा कार्य का वर्णन किया जा रहा है। 'क्षय रोग क्षय कीटाणुओं से उत्पन्न होता है'– इस उदाहरण में कारण का वर्णन उसके परिणाम द्वारा किया जा रहा है। फिर भी, उपरोक्त दोनों उदाहरण कारणात्मक सम्बन्ध के वास्तविक उदाहरण हैं। जब दो घटनाएँ कारणात्मक रूप से सम्बन्धित होती हैं तो हम उनका कुछ कुछ वर्णन जान सकते हैं जो कारणात्मक सम्बन्ध पर प्रकाश डालता हो तथा ऐसा करने से हमें किसी प्रश्न की अभ्यर्थना भी नहीं करनी पड़ती।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



इस तथ्य के बावजूद भी कि हम क्रिया के वर्णन के बिना युक्तियों को इंगित नहीं कर सकते, उपरोक्त आपत्ति ठीक नहीं है क्योंकि जब युक्ति को वर्णित करने के लिए क्रिया के बारे में कहा जाता है तो इससे यह आपादित नहीं होता कि क्रिया घटित होगी। इतना ही नहीं अगर क्रिया घटित हो भी जाय तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह उन कारणों की वजह से हुई है। इस युक्ति के पक्ष में व्यापार के क्षेत्र में शेयरों के भाव बढ़ने का उदाहरण ले सकते हैं। शेयर भावों के बढ़ने की प्रत्याशा के बढ़ने से शेयरों के भाव का बढ़ना दोनों तार्किक रूप से स्वतन्त्र हैं। इन दोनों के बीच कारणात्मक सम्बन्ध है, यह बात सर्वथा ठीक है।

किसी व्यक्ति की युक्तियाँ उसके विश्वास एवं इच्छाएँ होती हैं और ये क्रियाओं से तार्किक रूप से स्वतन्त्र होती हैं। उदाहरण के तौर पर मैं यह विश्वास करता हूँ कि मुझे गश (चक्कर) आने वाला है और अगर मैं अपने घुटनों के बीच अपने सिर को दबालूँ तो मैं अपने आपको मूर्छित होने से रोक सकता हूँ। लेकिन इसके विपरीत बात भी इसे सिद्ध नहीं करती। अतः क्रिया विश्वास और इच्छा दोनों का अनिवार्य परिणाम नहीं है। उदाहरण के लिए युक्ति एवं अवसर होने पर भी मैं अपनी आत्म-हत्या करने की इच्छा को पूरी नहीं करता।

(ब) आम तौर पर जब हम किसी घटना की व्याख्या पूर्व परिस्थितियों के आधार पर करते हैं तो हम स्पष्ट रूप से या छुपे हुए रूप से सामान्यीकरण की बात करते हैं। सामान्यीकरण (जब कभी भी पूर्व अवस्थाएँ होंगी घटना घटित होगी) कार्य-कारण को जोड़ता है। यह स्पष्ट है कि युक्तियाँ एवं क्रिया इस माँग को पूरा नहीं करते (जैसे कि चक्कर आने पर घुटनों के बीच सिर को दबाना– क्रिया)। अतः कुछ दार्शनिक [५] यह मानते हैं कि यहाँ कारणात्मक सम्बन्ध नहीं है। इस द्वितीय आपत्ति का उत्तर निम्नप्रकार दिया जा सकता है–

प्रथम बात यह है कि हम कुछ ऐसे उदाहरणों, जो निर्विवाद रूप से कारणात्मक सम्बन्धों के उदाहरण हैं, को बता सकते हैं जिनके आधार पर किसी उपयुक्त सामान्यीकरण की बात नहीं की जा सकती। उदाहरण के रूप में 'पत्थर की चोट से खिड़की के शीशे का टूटना' को लें। यहाँ हम सदैव यह कहने की स्थिति में हैं कि 'जब कभी भी इस प्रकार का खिड़की का शीशा होगा तथा उससे इस आकार एवं वेग से आता हुआ पत्थर चोट करेगा तो शीशा टूट जायेगा।' यद्यपि हम कोई विशिष्ट सामान्यीकरण की बात यहाँ नहीं कर रहे हैं तो भी हमें इस बात में बिल्कुल सन्देह नहीं है कि पत्थर का टकराना खिड़की के शीशे के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



टूटने का कारण है। इस उदाहरण में सामान्यीकरण के बिना हम कारणात्मक सम्बन्ध की बात कर सकते हैं तो हमें युक्तियों एवं क्रिया के बीच सम्बन्ध को सिर्फ इस तर्क के आधार पर कि इनके बीच सामान्यीकरण की बात नहीं कही जा सकती– अस्वीकार नहीं करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि अगर युक्ति एवं क्रिया को जोड़ने वाला कोई सरल नियम नहीं है तो कोई ऐसा जटिल नियम होगा जिसमें ये सम्मिलित होंगे। मेरे द्वारा दोनों घूटनों के बीच सिर देने का आंशिक कारण यह भी है कि मैं यह काम सार्वजनिक स्थान पर नहीं कर रहा हूँ। सार्वजनिक स्थान पर अगर मैं यह काम करता हूँ तो लोग-बाग इसे अच्छा नहीं कहेंगे या मज़ाक उडायेंगें। अतः जब मैं अपनी क्रिया (घुटनों के बीच सिर देना) के लिए युक्ति देता हूँ तो यह आंशिक ही होती है। अगर में पूर्ण युक्ति दूँ तो सामान्यीकरण भी किया जा सकता है।

इस प्रकार सामान्यीकरण का स्वरूप इस प्रकार होगा– जब कभी भी इस प्रकार की परिस्थितियाँ होंगी तब वह इन-इन तरीकों से क्रिया करेगा। इस प्रकार का सामान्यीकरण सभी व्यक्तियों एवं सभी कालों के लिए सत्य न हो। यह बात सम्भवतः बौद्धिक व्यक्ति के बारे में या व्यक्ति, जब बौद्धिक होता है, पर लागू हो। अतः युक्ति एवं कारण के बीच में कोई ऐसी बात नहीं है जो सामान्य कारणात्मक सम्बन्धों से कम हो।

(स) सामान्य कारणात्मक सम्बन्धों की एक अन्य एवं महत्वपूर्ण विशेषता, जो कि युक्ति– क्रिया में दिखाई नहीं देती, यह है कि अ, ब का कारण है न कि मात्र 'ब' से पहले घटित होता है, ऐसा कहने के लिए साक्ष्य होना चाहिए। यह साक्ष्य उसी प्रकार के उदाहरणों के रूप में होना चाहिए अथवा जटिल उदाहरणों में अथवा विस्तृत प्रकारों की अनुमानात्मक तर्कणा के रूप में होना चाहिए। युक्ति–क्रिया के क्षेत्र में जब हम इस बात पर ध्यान रखते हुए विचार करते हैं तो यह पाते हैं कि बहुत से उदाहरणों में कर्ता एक विशिष्ट युक्ति के लिए क्रिया करता है। वह कर्ता सामान्य प्रकार के उदाहरणों को जानने की आवश्यकता के बिना अथवा अन्य प्रकार की अनुमानात्मक तर्कणा को जाने बिना भी अपनी क्रिया के लिए उत्तरदायी युक्ति को जान सकता है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति सर्वप्रथम आकाशीय विद्युत् देखता है और (बादलों की) घड़-घड़ाहट सुनता है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि आकाशीय विद्युत् ने घड़-घड़ाहट उत्पन्न की, क्योंकि घड़-घड़ाहट से पूर्व ऐसी बहुत सी घटनाएँ घटित होती हैं जो कि घड़-घड़ाहट का कारण कही जा सकती हैं। जब हम बार-बार यह अनुभव करते हैं कि विद्युत् प्रकाश के बाद घड़-घड़ाहट होती है तथा कुछ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अन्य भौतिकीय सैद्धान्तिक सूचना का ज्ञान होता है तब यह कहा जा सकता है कि विद्युत् प्रकाश ने घड़घड़ाहट उत्पन्न की। लेकिन युक्ति एवं क्रिया के बार में यह बात सही नहीं हैं। समान उदाहरणों अथवा अतिरिक्त सैद्धान्तिक ज्ञान के विना कर्ता अपनी क्रिया की युक्ति को जानता है। उदाहरण के लिए 'चक्कर खाकर गिरने से बचने के लिये मैं अपना सिर टांगो के बीच दबा लेता हूँ,' ऐसा करने के लिए मुझे इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों अथवा सैद्धान्तिक सूचनाओं की आवश्यकता नहीं है।

जब मैं टांगों के बीच मेरे सिर को झुकाता हूँ तो उस समय तथा उससे पूर्व मेरे अन्दर अन्य बहुत सी इच्छाएँ एवं विश्वास हो सकते हैं लेकिन मैं उनका किसी प्रकार का अनुभव किये बिना यह जानता हूँ कि मेरा उस प्रकार की क्रिया (टांगों के बीच सिर झुकाना) का हेतु (या युक्ति) चक्कर आने से बचना था। मेरे चक्कर आने और सिर झुकाने के कारणात्मक सम्बन्ध का अनुमान मैं अन्य लोगों के व्यवहार एवं सामान्य ज्ञान के आधार पर नहीं करता। हाँ यह हो सकता है कि कोई मेरे व्यवहार को देख कर इन प्रकार के ज्ञान (जब चक्कर आए तो सिर को टांगों के बीच झुकाना चाहिए) की वैधता को सिद्ध करने के लिए विभिन्न स्रोतों से सूचना एकत्रित करे।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर हम दो निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। प्रथम, युक्तियों एवं क्रियाओं के बीच कारणात्मक सम्बन्ध नहीं होता। द्वितीय, युक्ति एवं क्रियाओं के बीच एक अनोखा ( जो ह्यूम के प्रकार का नहीं है ) कारंणात्मक सम्बन्ध होता है। अर्थात् जहाँ एक घटना के आधार पर कार्य एवं कारण के बीच अनिवार्य संबंध की बात कही जा सकती है अतः अन्य उदाहरणों को जानने की आवश्यकता नहीं।

युक्तियों एवं क्रिया के बीच कारणात्मक सम्बन्ध साधारण प्रकार का होता है। लेकिन यह बात भी सही है कि जब कोई व्यक्ति अपनी किसी क्रिया के लिए कोई युक्ति देता है तो उसे बाह्य या अन्य साक्ष्य की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा कहने का आधार यह है कि व्यक्ति की अपनी मानसिक स्थितियां व्यक्तिगत होती हैं। अतः उसका उनके बारे में कथन ही साक्ष्य है। अगर कोई अन्य व्यक्ति उस व्यक्ति की इच्छाओं, विश्वासों, प्रेरणाओं आदि को जानना चाहता है तो उसे उनके व्यवहार का निरीक्षण करना पड़ेगा तथा निरीक्षण के आधार पर वह उनका अनुमान करेगा। लेकिन स्वयं वह व्यक्ति बिना निरीक्षण के क्रिया करने से पूर्व अपनी इच्छाओं एवं विश्वासों की तीव्रता एवं उनकी मात्रा को जान सकता है। अतः अन्य व्यक्तियों की तुलना में वह व्यक्ति अपनी क्रिया के लिए युक्तियाँ देने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



में अधिक सुविधाजन्य स्थिति में है। इतना ही नहीं अगर कोई व्यक्ति कर्ता की मानसिक स्थिति को जानता हो तो अनुमान लगाये बिना उसकी इच्छाओं, विश्वासों एवं प्रेरणाओं के बारे में कह सकता है। दूसरे शब्दों में, अगर किसी व्यक्ति की मानसिक वृत्ति सार्वजनिक रूप से ज्ञात है, तो 'विशेष पहुँच' की आवश्यकता ही नहीं होगी।

यहाँ एक अहम् प्रश्न है जिस पर ध्यान देना अनिवार्य है। वह प्रश्न है किसी कथन की वैधता कैसे स्थापित की जाय ? क्योंकि ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति अपनी क्रिया के लिए युक्ति दे रहा है और वह ईमानदारी से यह विश्वास करता है कि यही युक्ति उसकी क्रिया का कारण है लेकिन वह फिर भी पहचानने में त्रुटी कर सकता सकता है। यह एक तथ्य है कि व्यक्ति क्रिया कि युक्ति के बारे में स्वयं को धोका देते हैं। टांगो के बीच सिर देने का कारण चक्कर आना होते हुए भी व्यक्ति के मन में ( अवचेतन रूप से ) यह बात भी हो सकती है कि वह अन्य लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहता हो या खेल को बिगाड़ना चाहता हो , आदि।

क्रिया करने के लिए दी गई युक्ति या हेतु या कोई विशिष्ट विश्वास त्रुटीपूर्ण है यह हम कैसे प्रदर्शित कर सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि समान प्रकार के उदाहरणों के आधार पर ऐसा किया जा सकता है। हम कह सकते है कि ऐसे अवसरों पर यह व्यक्ति अजीबो-गरीब व्यवहार करके लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। लेकिन अन्य उदाहरणों का सहारा लेकर हम उसके दावे पर संदेह नहीं करते लेकिन इस दावे पर कि 'उसने सिर झुकाया क्योंकि उसने चक्कर अनुभव किया,' पर संदेह किया जा सकता है। इस दृष्टि से अगर हम समस्या का विश्लेषण करें तो कारणों एवं युक्तियों के बीच का भेद समाप्त हो जाता है।

यद्यपि यह बात सही है कि युक्ति एवं क्रिया तथा कारण एवं कार्य के बीच किसी विशिष्ट भेद की ओर इंगित करना कठीन है फिर भी ऐसा लगता है कि ये दोनों (युक्ति एवं कारण) एक दूसरे से अलग हैं। इस प्रकार लगने के कई कारण हैं। अगर हम क्रिया के 'कर्ता' [६] सिद्धान्त की दृष्टि से इस समस्या को देखें तो युक्ति के कारण मानने पर कर्ता क्रिया नहीं कर सकता। दूसरी बात यह है कि अगर क्रियाएँ किसी चीज की परिणाम हैं तो वे किसी व्यक्ति पर घटित होती हैं, ऐसी स्थिति में व्यक्ति निष्क्रिय एवं असहाय मात्र है। [७] लेकिन अगर मेरी क्रियाएँ मेरे व्यक्तिपूर्ण विचारों का परिणाम हैं तो व्यक्ति को असहाय कहना ठीक नहीं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अन्त में एक बात यह कही जा सकती है कि इस अस्पष्टता का आधार है 'कारणता' के बारे में सीमित दृष्टिकोन का होना। युक्तियाँ बिना यांत्रिक हुए कारण हो सकती हैं।[८] यह आवश्यक नहीं हैं कि युक्तियां हमारे अन्दर उसी प्रकार गति उत्पन्न करें जिस प्रकार एक बिलियार्ड गेंद दूसरी बिलियार्ड गेंद में गति करती है।

दर्शन विभाग — के. एल्. शर्मा
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

## टिप्पणियाँ

*. युक्तियों को क्रिया के कारण के रूप में मानने वाले दार्शनिकों के मत को हम आगे 'कारण सिद्धान्त' (का. सिद्धान्त) कहेंगे और विरोधी दार्शनिकों के मत के लिए 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' पद का प्रयोग करेंगे। 'का. सिद्धान्त' एवं 'अभिप्रायवादी सिद्धान्त' के आधार पर प्राकृतिक विज्ञानों एवं समाज विज्ञानों में भेद करने का प्रयत्न किया गया है। अतः इस दृष्टि से यह समस्या एक महत्वपूर्ण समकालीन दार्शनिक समस्या है।

१. डॉनाल्ड डेविड्सन : "एक्शनस्, रीजन्स एण्ड कॉजेज;" **जरनल आफ फिलासफी**, जिल्द ६०, सं. २३, नवम्बर ७, (१९६३) पृ. ६८५–७००

२. डेविड पीअर्स; "आर रीजन्स फॉर एक्शन्स कॉजेज ?" **एपिस्टैमालॉजी : न्यू एसेज इन दि थ्योरी आफ नालेज** (सम्पादित) ए. स्ट्रोल, हारपर एण्ड रो, न्यूयार्क, १९६३. पृ. २०४–२२८

३. डॉनाल्ड गस्टेपसन : "ए क्रिटिकल सर्वे आफ दि रीजन्स : कॉजेज आरग्यूमेन्टस इन रीसेन्ट फिलासफी आफ एक्शन्स" **मैटाफिलासफी** जि. ४ सं. ४, अक्तूबर १९७३, पृ. २६९–२९७

४. एबेल्सन, आर : "डुइंग कॉजिंग एण्ड कॉजिंग टू डु;" **जरनल आफ फिलासफी**, जि. ६६ (१९६९) पृ. सं. १७८–१९२

इस समस्या– युक्ति और क्रिया के वर्णन परस्पर स्वतंत्र हो सकते हैं या नहीं– को देखने की दो दिशाएँ हो सकती हैं : १. क्रिया के वर्णन युक्ति के वर्णन से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्वतन्त्र हो सकते हैं तथा २. युक्ति के वर्णन क्रिया के वर्णन से स्वतन्त्र हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में किसी क्रिया को यदि 'घंटी बजाना' 'बिजली का बटन दबाना' आदि रूपों में वर्णित किया जाता है तो इस प्रकार के वर्णन युक्ति के वर्णन से स्वतंत्र हो सकते हैं क्योंकि युक्ति के वर्णन होंगे 'अमुक को बुलाने के लिए,' 'कमरे में प्रकाश करने के लिए' आदि।

५. हार्ट, एच. एल. ए. एण्ड हॉनेरे, ए. एम.; **काजेसन् इन ला**; ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, न्यूयोर्क (१९५९) पृ. ५२

६. रिचार्ड टेलर; **मेटाफिजिक्स**, प्रिन्टिस हॉल, पृ. ५०-५३। रिचार्ड टेलर ने इस सिद्धान्त को अपनी एक अन्य पुस्तक **एक्शन एण्ड परपज** (प्रिन्टिस हॉल) के अध्याय ८ में विकसित किया है और उस की पुष्टि की है।

७. आई. ए. मैल्डन; **फ्री एक्शन** (१९६१) अध्याय १३

८. आई. ए. मैल्डन: 'डिजायर्स एज काजेज ऑफ एक्शनस' **करेंट फिलासफीकल इस्यूज** (सं.) एफ् डायमेअर (१९६६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# वैधता और सत्यता–सारिणी

तर्कशास्त्र का यह एक प्रतिपादित सिद्धान्त है कि कोई युक्ति वैध है अथवा नहीं, इस का ज्ञान हमें युक्ति के आकार से होता है विषय वस्तु से नहीं। दो युक्तियों का विषय वस्तु अलग अलग होते हुए भी उन का आकार एक है तो वे या तो वैध होती हैं या अवैध। किन्तु उस में से किसी एक का वैध और दूसरे का अवैध होना तर्कतः असम्भव है। कारण है कि वैधता और अवैधता युक्ति का एक विशुद्ध आकारिक लक्षण है। वैधता का युक्ति के विषय वस्तु से सम्बन्ध न होने के कारण वाक्यों के तथ्यगत सत्यता मूल्यों से भी उनका कोई सम्बन्ध कभी ही नहीं होता है।

पर जब यह कहा जाता है कि किसी युक्ति के वैध अथवा अवैध का होना युक्ति के आधार पर निर्भर करता है तो प्रश्न उठता है कि कोई युक्ति-आकार वैध है अथवा नहीं, इस का ज्ञान हमें कैसे होता है? क्योंकि जब तक हमें युक्ति आकार की वैधता और अवैधता का ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक हम कोई युक्ति वैध है अथवा नहीं, इस का परीक्षण ही नहीं कर सकते हैं। अत एव युक्ति आकार की वैधता का ज्ञान युक्ति परीक्षण के लिये अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में तर्कशास्त्रीयों का मत है कि कोई युक्ति आकार वैध है अथवा नहीं, इस का ज्ञान हमें युक्ति आकार के सभी स्थानापन्न उदाहरणों ( Substitution Instances ) के सत्यता मूल्यों के क्रमों के द्वारा हो जाता है। यदि किसी युक्ति आकार का कोई भी स्थानापन्न उदाहरण सत्य आधार वाक्य और असत्य निष्कर्ष वाला नहीं होता है तो वह वैध होती है, अन्यथा अवैध। प्रत्येक युक्ति-आकार का स्थानापन्न उदाहरण सदैव एक युक्ति होती है जो युक्ति-आकार में आये हुए वाक्य चरों ( Sentence Variables ) की जगह वाक्य अचरों ( Sentence Constants ) को रखने से फलित होता है।

पुनः समस्या उठ खड़ी होती है कि किसी युक्ति आकार का कोई भी स्थानापन्न उदाहरण सत्य आधार वाक्यों और असत्य निष्कर्ष वाला है अथवा नहीं, इस



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



का ज्ञान हमें कैसे होता है ? क्योंकि जब तक हमें युक्ति आकार के सभी स्थानापन्न उदाहरणों के सत्यता मूल्यों का ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक हम किसी भी युक्ति आकार की वैधता का परीक्षण ही नहीं कर सकते हैं। अत: स्थानापन्न उदाहरणों के सत्यता मूल्यों का ज्ञान युक्ति-आकार की वैधता के परिक्षण के लिए अनिवार्य है। किन्तु हमें युक्ति-आकार के सभी स्थानापन्न उदाहरणों के सत्यता मूल्यों का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि इसके अनन्त उदाहरण हो सकते है। इसके सम्बन्ध में तर्कशास्त्रियों का कथन है कि कोई युक्ति आकार वैध है अथवा नहीं, इस का परीक्षण स्थानापन्न उदाहरणों के सम्भावित सत्यता मूल्यों के क्रमों के द्वारा हो जाता है। इस के लिए स्थानापन्न उदाहरणों के सत्यता मूल्यों को यथार्थ रूप में जानना आवश्यक नहीं है। यदि किसी युक्ति आकार के किसी भी स्थानापन्न उदाहरण का सम्भावित सत्यता मूल्य सत्य आधार वाक्य और असत्य निष्कर्ष वाला नहीं होता है तो वह वैध होती है, अन्यथा अवैध। परीक्षण की इस प्रणाली को सत्यता-सारिणी की प्रणाली कहा जाता है। उदाहरण के लिये निम्न युक्ति आकार लीजिये —

प ⊃ फ
प/ ∴ फ

यह एक वैध युक्ति आकार है क्योंकि इस के एक भी स्थानापन्न उदाहरण का सम्भावित सत्यता मूल्य सत्य आधार वाक्य और असत्य निष्कर्ष वाला नहीं है जिस का औचित्य प्रदर्शन सत्यता – सारिणी के द्वारा इस प्रकार किया जाता है।

| प | फ | प⊃फ |
|---|---|---|
| स | स | स |
| स | अ | अ |
| अ | स | स |
| अ | अ | स |

( पतले अक्षर प, फ वाक्य चरों के प्रतीक है )

चूंकि प ⊃ फ, प/ ∴ फ युक्ति-आकार एक वैध युक्ति-आकार है इसलिए इस आकार की सभी युक्तियां वैध हैं जैसे :—

क ⊃ ख
क/ ∴ ख
( मोटे अक्षर क, ख वाक्य अचरों के प्रतीक है )

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



पर क्या वैधता सम्बन्धी विवेचन को दोष-युक्त विवेचन कह सकते हैं ? कदापि नहीं। क्योंकि इस में एक तरफ तो युक्ति आकार से युक्ति की वैधता को सिद्ध किया जाता है और दूसरी तरफ स्थानापन्न उदाहरणों ( जो सदैव एक युक्ति होती हैं ) के सत्यता मूल्यों के क्रमों द्वारा युक्ति आकार की वैधता को सिद्ध किया जाता है। वैधता को युक्ति का एक विशुद्ध आकारिक लक्षण कहा जाता है। यदि यह सत्य है तो फिर उसे वाक्यों के सत्यता मूल्यों में पारिभाषित करना एक न्याय असंगत बात होगी क्योंकि (१) वाक्य-आकार और वाक्य सत्यता मूल्य में अन्तर है। वाक्य आकार-वाक्य चरों का एक समूह होता है जिसके फलस्वरूप न तो सत्य होता है और न ही असत्य यानी इसका कोई सत्यता मूल्य नहीं होता है। जबकि वाक्यों के ऊपर यह बात लागू नहीं होती है। वाक्यों में वाक्य – अचर होते हैं। वाक्य–अचर होने से वे या तो सत्य होते हैं या असत्य, यानी इनका एक सत्यता मूल्य होता है। (२) वाक्यों का आकार एक होते हुए भी उनके सत्यता मूल्यों में भेद हो सकता है। जैसे " सभी भारतीय मनुष्य हैं " और " सभी कुत्ते बिल्लियाँ हैं " दोनों वाक्यों का आकार एक है। दोनों वाक्य सर्वव्यापी स्वीकारात्मक वाक्य हैं। किन्तु जहां तक इन के सत्यता-मूल्यों का प्रश्न है उस में भेद है। पहले वाक्य का सत्यता मूल्य सत्य है जब कि दूसरे वाक्य का सत्यता-मूल्य असत्य। युक्तियों के ऊपर भी यही बात चारितार्थ है। दो युक्तियों का आकार एक हो सकता है किन्तु उनके सत्यता-मूल्यों में अन्तर पाया जा सकता है। जैसे :–

(क)

सभी ग्रीक मनुष्य हैं
सभी मनुष्य मरणशील हैं
अतः सभी ग्रीक मरणशील हैं

(ख)

सभी कुत्ते बिल्लियां हैं
सभी बिल्लियां मनुष्य हैं
अतः सभी कुत्ते मनुष्य हैं

परम्मपरागत तर्कशास्त्र के अनुसार इन दोनों युक्तियों का आकार आ, आ, आ है किन्तु उनके सत्यता मूल्यों में अन्तर है। पहली युक्ति के सभी वाक्य वस्तुतः सत्य हैं जब कि दूसरी युक्ति के सभी वाक्य असत्य हैं। (३) वाक्यों के आकार को देखकर सत्यता - मूल्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। जैसे संश्लेषणात्मक वाक्य। इस प्रकार के वाक्यों का सत्यता मूल्य आकार निर्भर न हो कर संवादित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



तथ्यों के ऊपर निर्भर करता है। यदि इन के अनुरूप तथ्य होता है तो वे सत्य होत हैं अन्यथा असत्य। अतः आकार और सत्यता-मूल्यों में अन्तर है। जब आकार और सत्यता मूल्य में अन्तर है और वैधता एक विशुद्ध आकारिक लक्षण है तो फिर युक्ति आकार की वैधता को सत्यता मूल्य में पारिभाषित करना न्याय असंगत बात है।

कहा जाता है कि युक्ति की वैधता आपादन सम्बन्ध ( ' ⊃ ' ) पर निर्भर करती है। आपादन सम्बन्ध एक सत्यता फलन सम्बन्ध है। पर क्या इस अर्थ में ' ⊃ ' का प्रयोग युक्ति आकार में किया जा सकता है ? कदापि नहीं। क्योंकि युक्ति आकार वाक्य आकारों का एक विन्यास हैं। वाक्य-आकार में वाक्य-चर होते हैं। वाक्य - चर होने से वाक्य आकारों का कोई सत्यता मूल्य नहीं होता है। वाक्य आकारों का सत्यता मूल्य न होने से ' ⊃ ' का प्रयोग ' सत्यता फलन ' सम्बन्ध ' ( Truth Functional Connective ) के अर्थ में इन में होना अप्रयोज्य हो जाता है। यह कठिनाई युक्ति में नहीं उठती है क्योंकि इस में वाक्य होते हैं। वाक्य का एक सत्यता मूल्य होता है। वाक्यों का सत्यता मूल्य होने से ⊃ ' का प्रयोग 'सत्यता-फलन-सम्बन्ध' के अर्थ में इन में होना तर्कतः प्रयोज्य है। उदाहरण के लिए निम्न युक्तिआकार और युक्ति को लीजिये :–

| (१) युक्ति आकार | (२) युक्ति |
|---|---|
| य ⊃ र | च ⊃ छ |
| य / ∴ र | च / ∴ छ |
| ( पतले अक्षर य,र वाक्य चरों के प्रतीक हैं ) | (मोटे अक्षर च, छ वाक्य अचरों के प्रतीक हैं ) |

उदाहरण (१) में ' ⊃ ' का प्रयोग ' सत्यता-फलन-सम्बन्ध ' के अर्थ में होना तर्कतः असम्भव है क्योंकि इस में वाक्य चर हैं। य, र वाक्य चरों के संकेत हैं।वाक्य-चर होने से य, र का कोई सत्यता मूल्य नहीं है अर्थात् वे न तो सत्य हैं और न ही असत्य। य, र का सत्यता मूल्य न होने से ' ⊃ ' का प्रयोग उदाहरण (१) में ' सत्यता फलन सम्बन्ध' के अर्थ में होना तर्कतः असम्भव है जब कि यह समस्या उदाहरण ( २ ) में नहीं पैदा होती है क्योंकि इस में वाक्य हैं। च, छ वाक्य अचरों के प्रतीक हैं। च, छ का सत्यता मूल्य होने से उदाहरण ( ३ ) में ' ⊃ ' का प्रयोग ' सत्यता-फलन सम्बन्ध ' के अर्थ में होना नियमत; सम्भव है। उदाहरण ( १ ) में ' ⊃ ' का प्रयोग आकारिक-सम्बन्ध ( Formal Implication ) के अर्थ में हुआ है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ' ⊃ ' का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रयोग प्रत्येक 'वस्तुगत-आपादन' (Material Implication) के अर्थ में किया जाता है। वस्तुगत और आकारिक आपादन में अन्तर है। यद्यपि '⊃' संकेत आकारिक आपादन के आंशिक अर्थ को व्यक्त करता है किन्तु यह एक अन्य बात है। तर्कवाक्यात्मक तर्कशास्त्र में तर्कशास्त्री '⊃' का प्रयोग युक्ति-आकार और युक्ति दोनों में 'सत्यता-फलन-सम्बन्ध' के अर्थ में करते हैं जो तर्क असंगत है। जब '⊃' का प्रयोग 'सत्यता-फलन-सम्बन्ध' के अर्थ में युक्ति-आकार में असम्भव है तो सत्यता-सारिणी की प्रणाली युक्ति आकार में अपने आप अप्रयोज्य हो जाती जाती है।

जब उदाहरण (१) से उदाहरण (२) को उदाहरण (१) में आए हुए वाक्य चरों की जगह वाक्य अचरों को रख कर प्राप्त किया जा सकता है तो उस समय '⊃' के मान में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है। '⊃' का मान ज्यों का त्यों बना रहता है। परिवर्तन वाक्य चरों और वाक्य अचरों में होता है। य, र वाक्य चरों की जगह प, फ वाक्य चर हो सकते हैं। जैसे प⊃फ। इसी प्रकार च छ वाक्य अचरों की जगह क, ख वाक्य अचर हो सकते हैं जैसे क⊃ख। किन्तु इनके परिवर्तन से '⊃' के मान में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस से यह सिद्ध होता है कि उदाहरण (१) से जब उदाहरण (२) को प्राप्त किया जाता है तो ⊃ का सम्बन्ध उदाहरण (२) में आये हुए वाक्यों के सत्यता-मूल्यों से नहीं होता है जिस के फलस्वरूप ⊃ का प्रयोग उदाहरण (२) में भी सत्यता-फलन-सम्बन्ध के अर्थ में स्वीकार करना असम्भव हो जाता है। उदाहरण (२) में ⊃ का प्रयोग सत्यता-फलन-सम्बन्ध के अर्थ में अप्रयोज्य होने से सत्यता सारिणी की प्रणाली जिस के द्वारा ⊃ को पारिभाषित किया जाता है और वैधता का परीक्षण किया जाता है, अपने आप अप्रयोज्य हो जाती है।

तर्क के लिये यदि यह मान भी लिया जाता है कि वैध- युक्ति में आपादन आधार-वाक्यों और निष्कर्ष के सत्यता मूल्यों में होता है तो फिर हमें यह मानना पड़ेगा कि (क) एक असत्य वाक्य किसी वाक्य को आपादित करता है और (ख) एक सत्य-वाक्य किसी वाक्य द्वारा आपादित होता है। जैसे –

(१)

सभी पत्थर मरणशील हैं – असत्य
सुकरात एक पत्थर है – असत्य
अतः सुकरात मरणशील है – सत्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



(२)

सभी कुत्ते बिल्लियां हैं — असत्य
सभी बिल्लियां मनुष्य हैं – असत्य
अतः सभी कुत्ते मनुष्य हैं — असत्य

(३)

सभी जानवर मरणशील हैं – सत्य
सभी मनुष्य जानवर हैं — सत्य
अतः सभी मनुष्य मरणशील हैं – सत्य

किन्तु ऐसा मानना एक न्याय असंगत बात होगी। इस के अतिरिक्त आपादन को सत्यतामूल्यों में मानने से तर्कशास्त्र के अन्य सिद्धान्त का भी खण्डन होता है। तर्कशास्त्र का यह एक सिद्धान्त है कि सत् से सत् और असत् से असत् का प्रादुर्भाव होता है किन्तु सत् से असत् अथवा असत् से सत् का प्रादुर्भाव होना बिलकुल असम्भव है ( नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः )। सत् से सत् और असत् से असत् का सम्बन्ध कल्पनीय है। किन्तु सत् से असत् अथवा असत् से सत् का सम्बन्ध अकल्पनीय है। उल्लिखित उदाहरण वैध युक्तियों के उदाहरण हैं। इस बात का खण्डन कोई भी तर्कशास्त्री नहीं करता है। यदि आपादन उनके वाक्यों के सत्यता मूल्यों में होता तो आपादन और आपादित वाक्यों के सत्यता-मूल्यों में कोई भी अन्तर न होता। किन्तु उन के सत्यता-मूल्यों में अन्तर है। उदाहरण (१) का आधार वाक्य असत्य और निष्कर्ष सत्य है। सत्यता-मूल्यों में अन्तर होते हुए भी युक्ति वैध है। इस से यह सिद्ध होता है वैधता का वाक्यों के न तो सम्भावित और न ही यथार्थ सत्यता मूल्यों से कोई लेन देन है। यदि यह कथन सत्य है तो फिर आपादन को एक सत्यता-फलन-सम्बन्ध कहना और सत्यता-सारिणी द्वारा पारिभाषित करना दोनों बाते गलत हैं।

वास्तव में किसी युक्ति परीक्षण में हमारा विचार जो होता है वह वाक्यों के सत्यता मूल्यों से बिलकुल स्वन्त्र होता है। हमारा जो विचार होता है वह इस प्रश्न पर होता है कि क्या आधार वाक्यों को स्वीकार करके निष्कर्ष को अस्वीकार किया जा सकता है अथवा नहीं ? यदि आधार वाक्यों को स्वीकार कर के निष्कर्ष को अस्वीकार करना असम्भव होता है तो हम मानते है कि उनमें तार्किक सम्बन्ध है और युक्ति वैध है, अन्यथा अवैध। इस प्रकार का विचार वाक्यों के सत्यता मूल्यों से बिलकुल भिन्न विचार है। वाक्यों के सत्यता-मूल्यों में अन्तर होते हुए भी उन में तार्किक सम्बन्ध पाया जा सकता है जो उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। सत्यता-सारिणी पद्धति भ्रमोत्पादक पद्धति है क्योंकि इसमें उन्हीं उदाहरणों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



के क्रमों को लिया जाता है जिस में आधार वाक्यों और निष्कर्ष दोनों सत्य होते हैं। यदि सम्भावित सत्य आधार वाक्य और असत्य निष्कर्ष के क्रम का कोई भी उदाहरण नहीं है तो माना जाता है कि युक्ति वैध है, अन्यथा अवैध। अन्य बाकी क्रमों ( जैसे असत्य आधार-वाक्य और असत्य निष्कर्ष, असत्य आधार-वाक्य और सत्य निष्कर्ष ) के उदाहरणों की अवहेलना की जाती है जब कि यह सत्य है कि इस प्रकार के क्रमों की युक्तियां भी वैध होती हैं। वैधता में केवल सत्य सत्यता-मूल्य के क्रमों को लेने का अभिप्राय यह है कि वैधता का सम्बन्ध वाक्यों के अन्य सत्यता-मूल्यों से नहीं होता है-जैसे-असत्य सत्यता मूल्य। किन्तु कोई तर्कशास्त्री इस बात का अनुमोदन नहीं करता है। इस प्रकार वैधता का सत्य-मूल्य में परिभाषित करना दोष मुक्त नहीं है।

दर्शन-विभाग — जगत पाल
उत्तर-पूर्वीय पर्वतीय
विश्वविद्यालय
शिलांग ( मेघालय )

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# स्मृतिकार मनु और राजा का देवत्व

राजा के देवत्व का प्रारम्भ अथवा राजा को देवता का अंश मानना राजा की दैवी उत्पत्ति का ही परिणाम है। प्राचीन भारतीय आचार्यों में संभवतः मनु ही दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त के सबसे सशक्त प्रतिपादक आचार्य हैं। उन्होंने बालक राजा को भी 'महती देवता' माना है। मनुस्मृति में राजपद को अत्यंत पुनीत माना गया है। इस पद पर जो भी व्यक्ति आसीन होता है वह देवत्व को प्राप्त माना जाता है। राजा चाहे बालक ही क्यों न हो, उसे मनुष्य समझ कर तिरस्कृत नहीं करना चाहिए। क्योंकि बालक के रूप में वह पृथ्वी-तल पर विचरण करने वाला महान् देवता है।[1] राजा की क्रोधाग्नि की समता अग्नि से की है। राजा की क्रोधाग्नि अग्नि के ताप से भी अधिक शक्तिशाली होती है, क्योंकि अग्नि सिर्फ उसी व्यक्ति को जलाती है जो उस के पास जाता है, परन्तु राजा की क्रोधाग्नि क्रोध-पात्र के कुल तथा सम्पत्ति को भी जला देती है।[2] अक्षत्रिय राजा को क्षत्रिय राजा से संभवः हीन माना है इसी से मनु ने अक्षत्रिय राजा को देवत्व प्रदान नहीं किया है।[3] मनुस्मृति में राजा की वृत्तियों की तुलना चारों युगों (सत्, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग) से की है। राजा को ही युग कहते हैं। राजा सो जाय तो कलियुग है, जागता रहे, तो द्वापर है। कर्मानुष्ठान में लगा रहे तो त्रेता, विचार से कर्म करे तो सतयुग है।[4] इसी से राजा के कर्मों कीतुलना इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि ओर पृथ्वी से की है।[5]

यह स्पष्ट है कि राजा के देवत्व की जो भावना ईसा की पहली शताब्दी में व्याप्त थी, वह वैदिक काल में वर्तमान न थी। उस काल में राजा का पद पूर्णतः लौकिक था। सार्वजनिक हित के लिए अथवा राष्ट्र व जन का अनिष्ट दूर करने के लिए होनेवाले किसी यज्ञादि का संचालन राजा के कार्यों में निहित न था। ऋग्वेद ने पुरुकुत्स को अर्धदेव का विशेषण दिया है।[6] पुरुकुत्स को अर्धदेव संभवतः इसलिए कहा गया है कि उसकी विधवा माँ ने उन्हें इन्द्र और वरुण के विशेष प्रसाद से प्राप्त किया था। अथर्ववेद में परीक्षित को मर्त्यों का देवता कहा है।[7]

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ४, सितम्बर, १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



जिस ऋचा में परीक्षित को मर्त्यों का देवता कहा गया है वह उनकी प्रशंसा में लिखी गयी थी। वैदिक साहित्य में अन्य किसी राजा को देवत्व प्रदान नहीं किया गया हैं। इसके संबंध में अल्तेकर का अनुमान है कि राजा के देवत्व की कल्पना राजा द्वारा उपकृत कुछ दरबारियों के मस्तिष्क तक ही सीमित थी। [८] परन्तु अल्तेकर का मत एकांगी सा प्रतीत होता है। हालांकि स्पष्ट रूप से वैदिक साहित्य में राजा की दैवी उत्पत्ति या उसके देवत्व का उल्लेख नहीं है, फिर भी जैसे हमने दिखाने का प्रयास किया है, वैदिक साहित्य में राजा की तुलना एवं उसकी विभिन्न देवताओं से समानता की जा रही थी। चूँकि इस तुलना के आधार पर ही कालान्तर में राजा की दैवी उत्पत्ति एवं उसके देवत्व के सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ, इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि राजा का वैदिक देवत्व सीमित था। वैदिक युग हर दृष्टि से विकासोन्मुख है। फलस्वरूप उस में राजा का देवत्व बीज-रूप में अनुमेय है।

परवर्ती काल में बौद्ध लोग भी राजा को सम्युतिदेव कहते थे। [९] इस विरुद्ध का संकेत है कि राजा का देवत्व प्रजा सम्मत है। दीर्घ निकाय के अनुसार स्वर्णयुग के उपरान्त की अराजक अव्यवस्था के अन्त के लिए जनता ने जिन महाजन सम्मत को अपना राजा बनाया वे स्वतः उत्पन्न दिव्य और अयोनिज शरीर वाले व्यक्ति थे। इस से बौद्धों द्वारा विश्वस्त एक प्रकार का नृप देवत्व अनुमित है। [१०]

उत्तर वैदिक युग में इस भावना का थोड़ा और विकास हुआ। धार्मिक विधि और विचारों के उत्तरोत्तर बढ़ने से ब्राह्मण काल में ऐसा वातावरण बनने लगा जिस में देवत्व की भावना पनप सकती थी। एतरेय ब्राह्मण में युद्ध में विजय इन्द्रदेव की कृपा के फलस्वरूप मानी जा रही थी और शनैः शनैः इन्द्र की उपाधियाँ भी राजा के लिए प्रयुक्त होने लगीं। [११] राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित कहते थे कि भगवान् सविता के आदेश पर ही अभिषेक किया जाता है, एवं यह अभिषेक मनुष्यों के हाथों द्वारा नहीं वरन् पूजन और अश्विनी कुमार द्वारा होता था। ऐसा माना जाता है कि अभिषेक के अवसर पर अग्नि सविता और बृहस्पति आदि राजा में प्रवेश करते हैं। [१२] इस प्रकार इतने देवता राजा में प्रवेश कर जाते थे। अतः इससे उन्हें देवत्व प्राप्त हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा देवाधिदेव प्रजापति का प्रत्यक्ष प्रतीक था। संभवतः इसी कारण प्रजा एक ही राजा का पालन करती थी। [१३] इस काल में ब्राह्मण अपने को भूदेव कहकर देवत्व का दावा करते हैं। संभवतः ब्राह्मणों ने अपने देवत्व को स्थिर एवं मान बनाये रखने की दृष्टि से राजाओं में भी दैवी अंश खुलकर स्वीकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



करना शुरु कर दिया। क्षत्रियों ( राजाओं ) के हाथ में वास्तविक शक्ति थी। उन्हें प्रसन्न किये बगैर ब्राह्मण शायद अपने उद्देश्य में सफल न होते। मनु ने स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को परस्पर सौहार्द से अपने कार्य करने चाहिए।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा भी राजा के देवत्व का ज्ञान होता है। उन के अनुसार राजा का पद इन्द्र और यम का पद है। वही प्रत्यक्ष रूप से लोगों को दंड एवं पुरस्कार देता है। जो लोग उसकी अवज्ञा करते हैं, उन्हें स्वयं देव की ओर से दंड मिलता है। अतः राजाओं का कभी अपमान नहीं होना चाहिए।[१४]

रामायण में कहा गया है की राजा देवता है। वह मनुष्य शरीर में इस पृथ्वी पर विचरण करता है। अतः किसी भी व्यक्ति को राजा की हिंसा अथवा निंदा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में एक देवता है।[१५] अयोध्या-काण्ड में कहा गया है कि राजा से यम, कुबेर तथा इन्द्र, अग्नि आदि देव भी छोटे हैं।[१६] महाभारत में राजा की उत्पत्ति यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि देवों के अंश से हुई बताई गयी है।[१७] मनुस्मृति के समान ही महाभारत में राजा को मनुष्य समझकर उसका तिरस्कार किये जाने का निषेध किया गया है क्योंकि वह मनुष्य के शरीर में देवता स्वरूप है।[१८] विष्णु पुराण में कहा गया है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं।[१९]

विश्वरूपाचार्य ने एक लम्बे वैदिक अंश ( आगम ) को उद्धृत कर ऐसा लिखा – " देवों ने प्रजापती से कहा – कि हम लोग सोम, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, वैश्रवण ( कुबेर ) एवं यम से क्रमानुसार महत्ता, दीप्ति, शक्ति, विषय औदार्य, एवं नियंत्रण लेकर मानव रूप में राजा के लिए व्यवस्था करेंगे।[२०] जब इस प्रकार राजा बन गया तो उसने देवों से अपने मित्र के रूप में धर्म की याचना की जिस से कि वह लोगों की रक्षा कर सके और तब देवों ने धर्म ( अर्थात् दण्ड ) को मित्र के रूप में उसे दिया।[२१] नारदस्मृति भी राजा के दैवी स्वरूप को मान्यता प्रदान करती है। नारद कहते हैं कि राजा अतुल शक्ति सम्पन्न होने पर पाँच प्रकार के स्वरूप ग्रहण करता है– वह अग्नि, इन्द्र, सोम, यम तथा कुबेर के स्वरूप को ग्रहण करता है।[२२] नारद राजा के देवत्व संबंधी पाँच स्वरूप की पूर्ण विवेचना करते हैं। उनके अनुसार राजा के अकारण अथवा किसी कारण से क्रोधित होने पर क्रोध से, दूसरे को जलाने अर्थात उत्पीडित करने के कारण वह अग्नि के समान होता है, अपनी शक्ति के ऊपर निर्भर करता हुआ जब वह शस्त्र उठाकर शत्रुओं पर विजय की आकांक्षा से आक्रमण करता है तब वह इन्द्र का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्वरूप ग्रहण करता है। जब राजा तेज से लोगों को जलाने वाले स्वरूप को हटाकर सौम्य भाव से जनता के सामने उपस्थित होता है तब वह सोम का स्वरूप ग्रहण करता है। अपने न्यायासन पर बैठकर न्याय करते समय वह यम का स्वरूप ग्रहण करता है। सम्मानित व्यक्तियों को अथवा जिन को किसी वस्तु का अभाव हो उन्हें उपहार प्रदान करने पर कुबेर कहा जाता है।[२३]

कुछ स्मृतियों और पुराणों में राजा को देवत्व प्रदान किया गया है। मनु के अनुसार राजा नर रूप में महान् देवता है। ब्रह्मा ने आठों दिशाओं के दिग्पालों के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया है।[२४] विष्णु पुराण तथा वायु पुराण से यह सूचना मिलती है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं।[२५] भागवत पुराण से यह भी ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम राजा वेण के शरीर में विष्णु के शरीर के नाना लांछन भी विद्यमान थे।[२६] यद्यपि अधिकांश स्मृतियों और पुराणों में केवल राजा और देवताओं के कार्यों की समता का उल्लेख किया गया है।[२७] अस्तु अधिकांश ग्रन्थों में राजा और देवताओं के विभिन्न कार्यों की समता पर ही बल दिया गया है। वे अनेक बार राजा के कार्यों की देवताओं के कार्यों से तुलना करते हैं पर यह नहीं कहते कि राजा स्वयं देवता हे।[२८]

कुशाण राजा अपने को देवपुत्र कहते थे।[२९] अपने सिक्कों में अपने कंधो से अग्नि की लपटें निकलते हुए दिखाते थे। गुप्त राजाओं ने भी इस प्रकार की अपनी उपाधियां अपने अभिलेखों और सिक्कों में खुदवायी।[३०] यही नहीं उन्होंने अपने सिक्कों पर कुशाण राजाओं की तरह अपने सिर के इर्द- गिर्द प्रभामंडल भी अंकित कराया।[३१] शिलालेखों से यह भी सूचना मिलती है कि यही गाहड़वाल वंश के चन्द्र व गोविन्दचन्द्र राजा क्रमशः ब्रह्मा और हरि के अवतार थे।[३२] पृथ्वी-राजा विजय में कवि ने राजा को रामचन्द्र के अवतार के रूप में माना है। इस प्रकार राजा के देवत्व की परिकल्पना स्वीकार की गई।

प्राचीन समय में मिश्र में राजा या 'फारओ' 'श' (सूर्य) देवता का पुत्र माना जाता था। सार्वजनिक यज्ञ का संचालन और देवता में किसी बात की याचना करने का अधिकार केवल उसे ही था। प्राचीन वेबिलोनिया और असीरिया में भी राजा ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाते थे और देवताओं की भांति पूजा के भाजन होते थे। प्राचीन ग्रीस में भी राजा देवाधिदेव मयूख के वंशज माने जाते थे। देवताओं की इच्छा जानने की भी शक्ति केवल उन्हीं में ही थी। १० ई. के बाद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्राचीन रोम के सम्राट करने के बाद देवता घोषित कर दिये जाते थे और उनकी पूजा के लिए मन्दिर भी बनाये जाते थे।

शोध-छात्र — राजदेव दुबे
दर्शन विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी – २२१००५

## टिप्पणियाँ

१. बालोऽपि नावमंतव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ – मनुस्मृति, ७।८; मिलाइये
महा. शांति., ६८।४०; पराशर माधव व्यवहार मयूख, पृ. ५
२. एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरूपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ – मनुस्मृति, ७।६
३. न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्य प्रसूतितः।
सूना चक्रध्वजवतां वेशनैव चजीवताम् ॥
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेवः च ॥ – मनु; ४।८४,९२
४. मनु. ६।३०१,३०२
५. इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपूचरेत् ॥ मनु; ६।३०३
५. देखिए, ए. एस. अल्तेकर, **प्राचीन भारतीय शासनपद्धति**, पृ. ५६
७. यो देवो मर्त्यान्। अथर्ववेद, २०, १२७, ७
८. देखिए, ए. एस अल्तेकर; **प्राचीन भारतीय शासनपद्धति**, पृ. ५६
९. देखिए, ए. ए अल्तेकर; **प्राचीन भारतीय शासनपद्धति**, पाद टिप्पणी, पृ. ११
१०. देखिए वही, पृ. १३
११. ऐतरेय ब्राह्मण, ८।२
१२. शतपथ ब्राह्मण, १२, ४, ३ मिलाइए तैत्तिरीय ब्राह्मण, १८।१०
१३. शतपथ ब्राह्मण, ५ १५, १४
१४. अर्थशास्त्र, १।१३।१०–१३
१५. रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, ४२।१८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



१६. रामायण, अयोध्याकाण्ड, ३५।६७
१७. महाभारत, शांतिपर्व, ६८।४१
१८. वहीं, ६८।४०
१९. विष्णुपुराण, १।१३–१४
२०. विश्वरूपाचार्य, याज्ञ; १।३५०
२१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, हिन्दी अनुवाद, पृ. ५६२
२२ नारदस्मृति, पृ. १३३ श्लोक सं. २६, जोली का अनुवाद
२३. नारद स्मृति, जोली का अनुवाद, पृ. ११३–११४, श्लोक २७–३२
२४. मनु., ८।५
२५. विष्णुपुराण, १।१३–१४, वायुपुराण, ५७।५६–५८
२६. भागवत, ४।१३, २३
२७. महाभारत, १२-६७।४०, नारदस्मृति, १७।२६, शुक्रसृष्टि ७२ मत्स्य पुराण, २२।६, मार; २७।२१ ।, अग्नि पु; २२५।१६, पद्म पु; सृष्टि ३०।४५
२८. ए. एस. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासनपद्धति पृ. ६१
२९. डी. सी. सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स पृ. ११५, १४०, १४१, १४४
३०. पंजाब म्यूजियम कैटलाग, पृ. १४३ ।
३१. डी. सी. सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ. २६३, २६५, २७५, २७८ २८३, २८५, ३१३, ३१८, ३१९, ३२१, ३२८
३२. गुप्तकालीन मुद्रायें ४२, ४३, ४४, ४८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण ( ८ )

मू. " क्वचिद्वस्तुभूत इति चेत् । " निर्धूमत्वमपि क्वचिद्वस्तुभूतमिति तेनापि विरोध एव । तस्माद्यथा काल्पनिकी विपत्तिर्न दोषाय, तथा काल्पनिकी सम्पत्तिरपि न गुणायेति व्यतिरेकभङ्गः ।

काल्पनिक धूम काल्पनिक कूर्मरोम में विद्यमान हो सकने के कारण धूम हेतुक वन्ह्यनुमान में व्यभिचार दोष की संभावना का पीछे उद्भावन किया गया । उस पर यह प्रतिवाद सम्भव है कि वन्ह्यनुमान में हेतु होनेवाला धूम वास्तविक है काल्पनिक नहीं और वह कूर्मरोम जैसे अवस्तु या अलीक में विद्यमान नहीं होता जिस से उक्त अनुमान व्यभिचारित हो । विचार कर देखने पर यह उत्तर ठीक प्रतीत नहीं होता । निर्धूमत्व भी जलाशयादि में जो हुआ करता है वह वास्तविक ही है, वह अग्निरहित अलीक में ( जो विपक्ष है ) नहीं रह सकता । इसलिये विपक्ष जलह्रद ( अलीक या काल्पनिक ) में अविद्यमानता धूम में नहीं होगी । यह बात धूम के सद्हेतु होने में बाधक होगी । यदि इसपर कोई कहे कि वास्तविक धूम कूर्मरोम में–जो वास्तविक वन्हि रहित है—रह सकता ही है तब उस में विपक्षवृत्तिता होने के कारण सद्धेतुता नहीं रहेगी तो उस पर यह भी कह सकते हैं कि ऐसे काल्पनिक पदार्थ में काल्पनिक वन्हि की विद्यमानता में भी कोई आपत्ति नहीं होगी । उस परिस्थिति में कूर्मरोम विपक्ष ही नहीं होगा जिससे धूम विपक्ष-वृत्ति होने की नौबत उपस्थित हो । इतना ही नहीं, तब शशशृंग जैसे अलीक में सत्व और क्षणिकत्व इन दोनों का साहचर्य भी ( काल्पनिक ) संभव हो जायेगा । इस कारण सत्व एवं क्षणिकत्व की व्यतिरेक व्याप्ति ही उस हालत में नहीं सिद्ध हो पायेगी । इन सब बातों को देखते हुए यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि वास्तविक हेतु की काल्पनिक विपक्षवृत्तिता जैसे हेत्वाभास का कारण नहीं हो सकती वैसे ही सत्व तथा क्षणिकत्व की काल्पनिक विपक्षावृत्तिता भी सत्व की सद्धेतुता में सहायक नहीं हो सकती । अतः अनुमान के लिये आवश्यक व्याप्ति-ज्ञान ही असंभव हो जायेगा ।



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मू. " अस्तु तर्हि ध्रुवभावित्वेन विनाशस्याहेतुकत्वसिद्धेः क्षणभङ्गः । " न, विकल्पानुपपत्तेः । तद्धि तादात्म्यं वा, निरुपाख्यत्वं वा, तत्कार्यत्वं वा, अभावत्वमेव वेति । न पूर्वः, निषेध्यनिषेधयोरेकत्वानुपपत्तेः, उपपत्तौ वा विश्वस्य वैश्वरूप्यानुपपत्तेः ।

सत्ता और क्षणिकता इनके व्याप्तिसंबंध के आधार पर क्षणिकता का अनुमान किसी भी प्रकार संभव नहीं यह बात विस्तार के साथ अब तक स्पष्ट की गयी । अब दूसरे प्रकार से वस्तुमात्र की क्षणिकता सिद्ध की जा रही है । बौद्ध कहते हैं कि वस्तुमात्र का विनाश अवश्यंभावी होने के कारण विनाश स्वयं अकारण सिद्ध होता है । जिस बात का घटित होना हर हालत में अनिवार्य है वह बात किसी कारण पर निर्भर नहीं रह सकती । अतः उत्पन्न वस्तु का उत्पत्ति-क्षण के अव्यवहित्तोतर क्षण में विनष्ट होना अनिवार्य होना चाहिये । इसके लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये । इसी बात पर से वस्तुमात्र की क्षणिकता सिद्ध हो जाती है । विनाश की अवश्यंभाविता के स्वरूप के संबंध में पांच विकल्प संभव हैं। ये क्रमशः वस्तुतादात्म्य, वस्तुनिरुपाख्यत्व, वस्तुकार्यत्व, वस्तुव्यापकत्व तथा वस्त्वभावस्वरूपत्व ये हैं । इनमें पहला विकल्प ' विनश्यमान वस्तुतादात्म्य ' यह ग्राह्य नहीं हो सकता । विनाश और विनाश्य वस्तु इन दोनों में तादात्म्य का स्वीकार करना विनाश्य को अपने ही विनाश के स्वरूप मानना होगा । किन्तु वस्तुमात्र ही विनाश्य होने से ( बौद्धमतानुसार ) विनाश ही वस्तुमात्र का स्वरूप बन जायेगा । यह बात मान ली जाये तो वस्तुओं को विविधता समाप्त हो जायेगी ।

मू. " ननु कालान्तरेऽर्थक्रियां प्रत्यशक्तिरेवास्य नास्तिता, सा चाकालान्तरे समर्थेतरस्वभावत्वमेवेति चेत् " । नन्वयमेव क्षणभङ्गः, तथाचासिद्धमसिद्धेन साध्यतः कस्ते प्रतिमल्लः ?

तादात्म्य के एक दूसरे संभाव्य अर्थ को लेकर अब पहले ही विकल्प का समर्थन किया जा रहा है । वस्तुमात्र का विनाश तादात्म्य, जिस काल में कोई वस्तु अपना कार्य संपन्न नहीं करती उस काल में उसका अर्थक्रिया के प्रति असामर्थ्य ही है । अपने काल में अपना कार्य करने में समर्थ होते हुए भी कालान्तर में प्रत्येक वस्तु कार्यकरणासमर्थ ही होगी । यही उस की नास्तिता मानी जा सकती है । इस कथन पर आपत्ति यह है कि पीछे स्पष्ट किये मुताबिक क्षणभङ्ग का अर्थ भी यही है । किन्तु यह असामर्थ्य प्रसङ्ग विपर्ययानुमान से ही सिद्ध हो सकता है । अतः स्वयं असिद्ध असामर्थ्य के द्वारा क्षणभङ्ग सिद्ध करने में कौनसी समझदारी है ? अबतक सामर्थ्याभाव ( कालान्तर में ) सिद्ध करने के लिए ही बौद्धों ने अन्यान्य प्रयास किये किन्तु वे सब निष्फल सिद्ध हुए । ऐसे असिद्ध सामर्थ्याभाव के द्वारा क्षणभङ्ग कैसे सिध्द किया जा सकता है ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मू. अपि च देशान्तरकालान्तरानुषङ्गिणय्स्थ नास्तिता यद्ययमेव, नूनमनक्षरमिदमुक्तं 'यदयमेव देशान्तरकालान्तरानुषङ्गी 'ति। यदि वा स्वदेशकालवत् कालान्तरदेशान्तरयोरपि नास्तिताननुषङ्गेऽस्तित्वप्रसङ्गः। "अशक्तेः कथमस्तु शक्तेः सत्तालक्षणत्वादिति चेत्"। अथ कालान्तरकार्यं प्रति स्वकालेऽशक्तिरसत्त्वम्, किंवा स्वकार्यमपि प्रति कालान्तरेऽशक्तिरसत्त्वम्। आद्ये स्वकालेऽप्यसत्त्वप्रसङ्गः, तदानीमपि तस्य तादूप्यात्। "कालान्तरकार्यप्रति एवमेतदिती चेत्" किमयं मन्त्रपाठः, नहि यो यत्राशक्तः स तदपेक्षाया नास्तीति व्यवह्रियते, नहि रासभापेक्षाया धूमो जगति नास्ति, तत्कस्य हेतोः? न ह्यशक्तस्य स्वरूपं निवर्तत इति।

विनाश या नास्तित्व को विनाश्य वस्तुस्वरूप मानने में एक अन्य आपत्ति भी है जिसको अब प्रस्तुत किया जा रहा है। अन्य देश या काल में (समर्थ) वस्तु का जो विनाश या अभाव हुआ करता है वह वस्तुस्वरूप ही होने से देशान्तर कालान्तर में भी वस्तु विद्यमान ही होती है ऐसा उक्त कथन से निष्कर्ष निकलता है। वस्तु की नास्तिता अन्य देशकाल में होती है यह कहने का मतलब ही यह है कि वस्तु भी अन्य देश-काल में बनी रहती है। इस पर यदि कहा जाय कि अपने देश-काल में तो वस्तु रहती है अतः तब उसकी नास्तिता नहीं होती और इसी प्रकार अन्य देश-काल में भी उसको नास्तिता विद्यमान नहीं होती तो इसका भी मतलब यह होगा कि अन्य देश-काल में वस्तु (उसकी नास्तिता तब न होने से) बनी ही रहती है। इस पर कह सकते हैं कि अन्य देश-काल में वस्तु यदि अर्थक्रिया समर्थ ही नहीं हुआ करती तो कैसे उसका अस्तित्व तब संभव होगा? शक्ति और सत्ता दोनों जब एक ही हैं तब, जब वस्तु अशक्त होगी तब वह असत् या अविद्यमान ही होगी? इस प्रत्याख्यान का प्रतिवाद 'अशक्ति' के अर्थों के संबंध में जो संभाव्य विकल्प हैं उनका खण्डन कर अब किया जा रहा है। वस्तु की अशक्तिरूप जो असत्ता है वह या तो कालान्तर में घटित होनेवाले कार्य के प्रति अपने (देश) काल में सपन्न करने का असामर्थ्य होगा या वह अपने ही कार्य को कालान्तर में संपन्न करने का असामर्थ्य होगा। इनमें प्रथम विकल्प स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि अपने (अस्तित्व) काल में ही, कालान्तरभावि कार्य के संबंध में असामर्थ्य वस्तु में होने के कारण वह असत् हो जाएगी। 'कालान्तरभावि कार्य के संबंध में (उसकी अनुत्पादक) वस्तु 'असत्' ही होती है ऐसा समझने में क्या आपत्ति है?' ऐसा यदि कोई पूछे तो उसका उत्तर यह होगा कि इस तरह के असंगत कथन से विरोध-परिहार की अपेक्षा करना उसे मन्त्रपाठ जैसा चमत्कार कारक मानने जैसा होगा। कारण यह है कि जो वस्तु जिसके उत्पादन में असमर्थ है उसके संबंध में वह असत् होती है ऐसा कोई नहीं समझता। रासभ धूम को उत्पन्न नहीं करता। क्या इस कारण उसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



रासभ के संबंध में असत् कहा जाता है ? यदि नहीं तो इसका कारण यही होगा कि वस्तुविशेष के संबंध में किसी वस्तु में (उत्पादन) सामर्थ्य न भी हो तो भी उसकी सत्ता भङ्ग नहीं होती।

मू. द्वितीये तु यदि कालान्तराधाराऽशक्तिः, कथं तदात्मिका ? तदाधारा चेत्, तर्दवासत्त्वप्रसङ्गः, कालान्तरे तु विपर्ययः। तस्मात्

विधिरात्माऽस्य भावस्य निषेधस्तु ततः परः।
सोऽपि चात्मेति कः प्रेक्षः शृण्वन्नपि न लज्जते ॥

'अशक्ति' के अर्थ संबंधी दूसरे विकल्प का खण्डन अब प्रस्तुत करते हैं। अपने ही कार्य के प्रति कालान्तर में करण का असामर्थ्य (यदि यह 'अशक्ति' का अर्थ हो) तो कालान्तर में ही विद्यमान होगा। उस समय यह वस्तु क्षणिक होने के कारण नष्ट हो गयी होगी। ऐसी (कालान्तराधारित) अशक्ति अविद्यमान वस्तुरूप होगी ही कैसे ? यदि यह अशक्ति वस्तु के स्वकाल में ही विद्यमान मानी जाय तो स्वकाल में ही अपने कार्य का कोई वस्तु संपादन नहीं कर पायेगी और अन्य काल में यह अशक्ति उसमें न होने के कारण अपना (स्वकाल) कार्य अन्य काल में संपन्न करना उसके लिए संभव हो जायेगा। अतः यह स्वीकार करना आवश्यक है कि किसी भी वस्तु का स्वरूप विध्यात्मक ही होता है। निषेध या अभाव इस स्वरूप से नितान्त भिन्न है। ऐसा निषेध-वस्तु का स्वरूप है यह बात सुनने पर भी जिसे लज्जा का अनुभव न हो ऐसा कौन अभिज्ञ व्यक्ति होगा ?

मू. "अस्तु तर्हि भावस्वरूपातिरिक्ता निवृत्तिर्नास्तीति वाक्यस्य सोपाख्येति शेषः"। नन्वयमपि क्षणभङ्गस्योद्गारः, स च कफोणिगुडायितो वर्तते। भवतु वा निवृत्तिसमर्था, तथाप्यहेतुकत्वे तस्याः किमायातम् ? "तुच्छस्य कीदृशं जन्मेति चेत् ?" यादृशः कालदेशनियमः। "सोऽपि तस्य कीदृश इति चेत् ?" एवन्तर्हि न घटनिवृत्तिः क्वापि कदापि वा सर्वत्रैव सदैव वेति स्यात्।

उक्त दोष के कारण पहला विकल्प परित्याज्य है। अब 'निरुपाख्यत्व'-रूप दूसरे विकल्प को, धर्मकीर्ति के व्याख्याकार प्रज्ञाकर गुप्त के एक वाक्य के द्वारा, प्रस्तुत किया जा रहा है। उस वाक्य में प्रज्ञाकर कहते हैं कि वस्तुस्वरूप से अतिरिक्त सोपाख्य याने वर्णनार्ह निवृत्ति या विनाश नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि विनाश निरुपाख्य अर्थात् वर्णनातीत या अलीकवत् है। विनाश निरुपाख्य होने से वह अहेतुक भी हो तो उत्पन्न होते ही वस्तुओं का विनाश घटित होना चाहिए। लेकिन विनाश तब अलीक सिद्ध होगा जब सत् पदार्थ सब क्षणिक सिद्ध होंगे। किन्तु यही बात जब असिद्ध है तब विनाश को अलीक या निरुपाख्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? कुहनी पर लगे हुए गुड का चाटना जैसे असंभव है वैसे ही क्षणभङ्ग-साधन का प्रयास भी व्यर्थ है। मान भी लें कि विनाश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



असमर्थ या अलीक है तो भी इससे उसकी अहेतुकता कैसे प्रस्थापित होगी ? कह सकते हैं कि जो सर्वधर्म-शून्य एक तुच्छ पदार्थ है उसकी उत्पत्ति ही असंभव है किन्तु विनाश देश-विशेष तथा काल-विशेष में ही घटित होता हो (जिससे देश-काल नियमों से नियंत्रित उसकी सत्ता माननी पडती हो) तो उसकी उत्पत्ति मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसपर यह पूछ सकते हैं कि देश-काल-नियम भी तुच्छ को लागू कैसे हों ? यदि वस्तु-निवृत्ति के साथ देशकाल–संबंध ही न होने पायें (क्यों कि वह तुच्छ है) तो वस्तु-निवृत्ति कहीं और कभी भी नहीं घटित होगी। यदि एतदर्थ निवृत्ति के साथ देशकाल–संबंध तो मान लिया जाय लेकिन देशकाल का नियम उसके संबंध में न माना जाय तो कहीं भी और किसी भी समय निवृत्ति घटित होने लगेगी।

मू. "भवतु प्रथम एवेति चेत् ?" सोऽयं भावनास्तितास्वरूपप्रतिषेधो वा, भावप्रतिषेधेन निवृत्तिस्वरूपनिरूक्तिर्वेति। आद्ये भावस्यैव सदातनत्वप्रसङ्गः। द्वितीये तु निवृत्तेरेवेति।

उक्त बात को ही अधिक विशद रूप से पुनः प्रस्तुत करते हैं। वस्तुनिवृत्ति के साथ देश-काल–संबंध नहीं होता इस कथन का स्वीकार कर लिया जाय तो उसमें से दो विकल्प प्रकट होते हैं। एक विकल्प देश-काल–संबंध के निषेध का और दूसरा निवृत्ति के निषेध का। इनमें से पहला इसलिये अस्वीकार्य है कि निवृत्ति का किसी देशकाल से संबंध घटित न होने के कारण वह जिसकी निवृत्ति है उसकी भी विरोधक नहीं हो सकेगी जिसके फल-स्वरूप निवर्त्य वस्तु सार्वत्रिक तथा सार्वकालिक हो जायेगी। दूसरे विकल्प का विचार करने पर उसमें से पुनः दो अन्य विकल्प प्रकट होते प्रतीत होते हैं। प्रथम के अनुसार निवृत्ति का ही निषेध होता है और दूसरे के अनुसार निवर्त्य वस्तु-संबंधी ही यह निषेध हुआ करता है। इनमें पहला विकल्प (निवृत्ति का निषेध) स्वीकारार्ह इसलिए नहीं है कि निवृत्ति का निषेध निवर्त्य वस्तु की सार्वकालिकता में परिणत हो जाता है। यदि निवृत्ति नहीं तो वस्तु की सत्ता सनातन हो जायेगी। दूसरा विकल्प भी अग्राह्य है क्यों कि निवर्त्य के सार्वकालिक (सार्वत्रिक) निरास-द्वारा उसकी निवृत्ति का ही स्वरूप यदि विशद करना अभिप्रेत हो तो ऐसे निरास के कारण वस्तु-निवृत्ति सार्वकालिक हो जाएगी।

मू "अस्तु तर्हि तत्कार्यत्वमेव ध्रुवभावित्वम्"। न, तस्यापि कार्य इति पक्षे विरोधात्, तस्यैव कार्य इत्यसिद्धेः। "यत् किञ्चिदुत्पन्नमात्रस्य कार्यम्, स एव तस्य नाश इति चेत् ?" (एवं) तर्हि यस्याः सामग्र्या यत्कार्यं तत् तदतिरिक्तान पेक्षमिति साधनार्थः, तमिमं को नाम नानुमन्यते ? कार्यमेव विनाश इति तु केनानुरोधेन व्यवहर्तव्यम् ? किं तद्विरहवत्त्वात्कार्यस्य, किं वा तद्विरहरूपत्वात् ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



ध्रुवभावित्व या अनिवार्यत्व (विनाश का) के दो अर्थों का विचार कर उनकी सदोषता अब तक विशद की गयी। अब तीसरे अर्थ 'तत्कार्यत्व' की चर्चा प्रस्तुत है। विनाश, विनाश्य वस्तु का कार्य ही होने से अनिवार्य अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति के दूसरे ही क्षण घटित होना आवश्यक है (जिससे क्षणभङ्ग सिद्ध होता है)। इस 'तत्कार्यत्व' का अर्थ 'तस्यापि कार्यं' याने 'उसका भी कार्य जो है वह' ऐसा लें तो तात्पर्य यह होगा कि वस्तु का विनाश वस्तु और तदन्य कारणों से उत्पन्न होता है। यह बात सही हो तो जहाँ वस्तु से भिन्न कारण उपस्थित न हों वहाँ विनाश उत्पन्न नहीं होगा। तब विनाश की ध्रुवभाविता की बात छोड़ देनी पड़ेगी। यदि इस आपत्ति के कारण 'तत्कार्य' का अर्थ 'तस्यैव कार्यं" ऐसा करें जिससे विनाश के लिए विनाश्य वस्तु से अन्य किसी की अपेक्षा नहीं ऐसा अर्थ निकले तो यह बात गलत सिद्ध होगी। अन्य कारणों की विनाश के लिए आवश्यकता सुस्पष्ट है। इसपर यह समाधान किया जा सकता है कि 'तत्कार्य' का अर्थ न 'उसीका कार्य' है न 'उसका भी कार्य' ऐसा ही है। किन्तु 'जो भी वस्तु की उत्पत्ति होते ही उससे उत्पन्न होता है वह विनाश है' ऐसा है। यह अर्थ लेनेपर उक्त आपत्तियाँ नहीं उपस्थित होंगी। बौद्धमतानुसार उत्पन्न होते ही वस्तु का अनन्तर क्षण में विनाश ही घटित होता है। अब 'अहेतुकत्व' का अर्थ 'कारण से भिन्न वस्तु की अपनी उत्पत्ति के लिए अपेक्षा न होना' यह होगा। विनाश विनाश्य वस्तु से अन्य की अपेक्षा नहीं रखता अतः वह 'अहेतुक' या 'ध्रुवभावी' है। उक्त अर्थ में 'कारण' शब्द का अर्थ 'कारणसामग्री' हो तो 'कारणसामग्री से भिन्न की कार्य (विनाश) की उत्पत्ति के लिये आवश्यकता नहीं ऐसा अर्थ 'अहेतुकत्व' का होगा। इस प्रकार का 'अहेतुकत्व' स्वयंसिद्ध है। उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु यदि 'कारण' से मतलब 'सामग्री के एकदेश' से हो, तब विनाश 'अहेतुक' कदापि नहीं हो पायेगा। पूरी कारणसामग्री बिना विनाश क्या, कोई भी बात घटित नहीं हो सकती। इस पर भी बौद्ध पूछ सकते हैं कि 'जो भी कार्य कोई वस्तु उत्पन्न होते ही उत्पन्न होता है वह उस वस्तु का विनाश ही है' इस मन्तव्य में क्या आपत्ति हो सकती है? उत्तर में नैयायिक पूछते हैं कि किस आधार पर वस्तु का कार्य ही विनाश है यह बात मानी जाय? क्या कार्य–विनाश कारणाभाव (भेद) मुक्त है इसलिए अथवा वह कारणाभावरूप है इसलिए उसे कारण-वस्तुरूप समझा जाय?

मू, न तावत्पूर्वः, सहकारिष्वपि तथाप्रसङ्गात्, विरहस्वरुपानिरूक्तेश्च। न द्वितीयः, स हि कार्यकाले कारणस्य योग्यानुपलम्भनियमाद्वा भवेत्, व्यवहारानुरोधाद्वा अतिरिक्तविनाशे बाधकानुरोधाद्वेति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उक्त दो आधारो में से पहला आधार युक्तिसंगत नहीं। कारण के सहकारी भी (विनाश के सिवा) कारण से भिन्न होते हैं जैसे पट के कारण तंतुओं से भिन्न वेमादि हैं वे तंतु के कार्य नहीं समझे जाते। अभाव अलीक होने से कार्य अभाव युक्त कैसे होगा यह भी इस आधार के संबंध में एक कठिनाई है। यदि कारणाभाव कार्य ही हो तो कार्य कैसे उससे युक्त होगा? दूसरा आधार भी विचारार्ह नहीं। कार्यविनाश कारणभावरूप होता है यह बात जो आधार के रूप में पीछे कही गयी उसके पीछे तीन में से एक कारण हो सकता है। पहला यह है कि कार्य (विनाश) जब घटित होता है तब कारण उपलंभ-योग्य होते हुए भी उपलब्ध नहीं होता (अतः कार्य कारणाभावरूप है)। दूसरा कारण, कार्य के संबंध में उसका कारणाभावरूप होने का संभाव्य सामान्य व्यवहार होगा। तीसरा कारण, कारणवस्तु से भिन्न उसका विनाश मानने में किसी बाधा का उपस्थित होना होगा। (ये तीनों कारण स्वीकारार्ह नहीं यह अगले परिच्छेदों में दिखाया जायगा।)

आचार्य एवं अध्यक्ष, — नारायणशास्त्री द्राविड
दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर (महाराष्ट्र)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# ग्रन्थ-समीक्षाएँ

## ( १ )

(१) **सम्बोधि :** युवाचार्य (मुनि नथमल); प्रका. तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्वभारती, लाडनूं, चुरु (राज्यस्थान), पृ... डिमाई ३०+४४६; सजिल्द; मूल्य-६० रु.।

२. **मन का कायाकल्प :** ले. तथा प्रका... वही; पृ. डिमाई २२६, सजिल्द; मूल्य-१६ रु.

जैन आचार्य तुलसीजी के शिष्य मुनि नथमलजी, जो अब युवाचार्य महाप्रज्ञ के रूप में ख्यात हैं, के द्वारा लिखित 'सम्बोधि' का यह तीसरा संस्करण है। युवाचार्य महाप्रज्ञ के द्वारा लिखित हिंदी-अंग्रेजी की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी रचनाएँ उनके विपुल ज्ञान और उनकी अनुभव-समृद्धि की परीचायिका रही हैं। मृदु-मधुर शब्दावली में जीवन के गहन तत्त्वों को वे जिस मर्मग्राही रीति से प्रस्तुत करते हैं वह सहज ही शील के प्रवर्तन और मनुष्य के मन के मलापनोदन में समर्थ है। जैन धर्म से गृहीत उपदेशों और सिद्धान्तों को धर्म-निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत करते हुए वे मनुष्यमात्र के लिए उपयोगी जीवन-दर्शन का निर्माण करते हैं। सरल भाषा में कही गई गहन और तात्त्विक बातों को भी कथात्मक शैली और आत्मीयतापूर्ण वचन-भंगिमा के कारण पाठक के लिए ग्राह्य बनाने और उसके अन्तरतम में गूढ से गूढ चिन्तन को भी अपनी सरल व्याख्याओं और जीवनानुभूतियों के सहारे उतार पाने में युवाचार्य महाप्रज्ञ की दक्षता अप्रतिम है। 'सम्बोधि' भी उनके इसी कौशल्य का एक प्रमाण है।

जैन धर्म के साथ प्रागैहासिक काल से सम्बन्धित सम्बोधि और कुछ नहीं, वस्तुतः आत्म-मुक्ति का मार्ग है जिसकी प्राप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र-बोधि के



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



माध्यम से होती है। इन तीनों के समवाय से ही आत्ममुक्ति संभव है। इसकी संभवनीयता का सीधा सम्बन्ध आत्म-कर्तृत्व से है। 'सम्बोधि' में उसी आत्म-कर्तृत्व को लक्षित कराया गया है। मनोनुशासन के लिए जिस योग-प्रक्रिया की आवश्यकता है उसे श्रीमद्भगवदीता की शैली में प्रस्तुत करते हुए 'सम्बोधि' की रचना की गई है। १६ अध्यायों मे संस्कृत में मूल श्लोक देकर उनकी हिन्दी में मार्मिक व्याख्या की गई है। मंत्रासार श्रेणिक का पुत्र मुनि मेघकुमार 'सम्बोधि' में श्रीमद्भगवद्गीता के अर्जुन की भुमिका में प्रस्तुत है। संवादात्मक शैली में सरलता और मौलिकता के साथ भगवान् महावीर की वाणी को लेखक ने नये नियोजन के साथ अपनी वाणी में उतार लिया है। साधना की भूमि में क्लीब बने मेघकुमार का उद्बोधन किया है भगवान् महावीर ने, जैसे समर-भूमि में भगवान् कृष्ण ने त्रस्तधनु अर्जुन को प्रबोध दिया था। इसी प्रबोधन के लिए युवाचार्य ने १६ अध्यायों में ७०३ श्लोकों में आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती, ज्ञाताधर्म-कथा, उपासकदशा, प्रश्नव्याकरण, दशाश्रुतस्कंध आदि आगमों से सार ग्रहण करके इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। १६ अध्यायों में क्रमशः स्थिरीकरण, सुखबोध, पुरुषार्थ-बोध, सहज-आनंद, साधनबोध, उद्बोधन, आज्ञावाद, बंध-मोक्षवाद, मिथ्या-सम्यक्-ज्ञानवाद, संयतचर्चा, पश्यत्ता, हेय-उपादेय-बोध, साध्य-साधन-संज्ञान, कर्म-बोध, अकर्म-बोध तथा मनःप्रसाद का विवेचन किया गया है और अन्त में परिशिष्ट में क्रमशः 'योग : एक मीमंसा' तथा 'संबोधि के आगमिक आधार स्थल' शीर्षक से विस्तृत रूप में योग तथा आधारभूत स्थलों का स्पष्टीकरण दिया गया है। परिशिष्ट भी ग्रंथ के मूल-भाग के समान ही महत्वपूर्ण, ज्ञानवर्धक और पठनीय हैं। संपूर्णतः ग्रंथ जीवन-सत्य की उपलब्धि में सहायक है, अतः उपादेय और मननीय है।

'सम्बोधि' के समान ही उपादेय और महत्वपूर्ण पुस्तक है 'मन का कायाकल्प'। प्रस्तुत पुस्तक में युवाचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रेक्षाध्यान शिबीर में दिये गये १८ प्रवचनों का संग्रह है, जिन्हें क्रमशः 'लोचन' और 'आत्मलोचन' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। जयाचार्य द्वारा निर्दिष्ट पद्धति पर इस ग्रंथ में मन का काया-कल्प किया गया है। परम आत्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव और आराधना उसका साध्य है। सहज-सरल भाषा में कथात्मक एवं संवादात्मक प्रश्नोत्तर शैली अपना-कर युवाचार्य ने आधुनिक मनुष्य के विकल मन को स्थिर और दृढ करने के उपायों का निर्देश दिया है। प्रवचन के आरंभ मे 'चौबीसी' तथा 'आराधना' से मूल पाठ देकर संकेतिका दी गई है और प्रवचन के मूल तत्त्व को प्रमुख कथनों में प्रस्तुत किया गया है। युवाचार्य आज की समस्याओं से उत्पन्न मनुष्य की व्यग्रता और विकलता को लक्षित करके चले हैं और अपने विवेचन को उनसे जोड़कर प्रवचनों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



को प्रासंगिकता प्रदान करते रहे हैं। उनका विवेचन सूक्ष्म विश्लेषणपरक, जिज्ञासा जागृत करनेवाला और आश्वस्तिकर है। जीवन की छोटी से छोटी घटना को भी वे ज्ञानोपदेश-लाभ के लिए बड़े सहज ढंग से चुन और गुन लेते हैं। साधकों और कवियों के कथन उनकी वाणी से प्रसंगतः स्फुरित होते रहते हैं। परिणामतः पाठक या उनके प्रवचनों का श्रोता गूढ-गंभीर विषयों का भी सरलता से आकलन करता चलता है। वस्तुतः ये प्रवचन मनुष्य को जीवनी-शक्ति प्रदान करते हैं। इनका हार्दिक स्वागत।

— आनंदप्रकाश दीक्षित

आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## ( २ )

**दमा और मधुमेह में योग का अभ्यास**
शोधकर्ता – स्वामी नत्यानंद सरस्वती
प्रस्तुत कर्ता – स्वामी शंकरदेवानन्द सरस्वती, एम. बी. बी. एस. ( सिडनी )
अनुवादक – स्वामी योग मुद्रानन्द सरस्वती
प्रकाशक – बिहार स्कूल आफ योग – मुंगेर
पृष्ठ संख्या – १८० : मूल्य रु. २०=००

संपादक ने प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि ' इस पुस्तक का प्रयोजन रोगी और डाक्टर दोनों के लिए एक सुलभ चिकित्सा पध्दती की स्थापना करना है; आधुनिक प्रचलित प्रणाली की अवहेलना करना अथवा स्थान लेना नहीं है '। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि योग का मार्ग लम्बा है परन्तु रोग पर इस का निश्चित ही प्रभाव पड़ता है।

जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है पुस्तक में दो बीमारियों का विवेचन और उपचार बताने का प्रयास किया गया है। इसलिए पुस्तक के दो खण्ड हैं – १ – ' दमा और योग ' और २ – ' मधुमेह रोग में योग प्रशिक्षण पाठ्यक्रम '। ' दमा के संबंध में लेखक ने अपने स्वयं के अनुभवों के आधार पर विवेचन प्रारंभ करते हुए रोग के यौगिक उपचार का सत्यापन किया हैं। इस खण्ड में दमा के विभिन्न पक्षों-आरंभावस्था, वंशानुगत दमा, स्नायु दुर्बलता, प्रकोपावस्था, निर्बलता, निष्क्रियता, पुनः प्रकोप भय और शारीरिक संगठन में दोष आदि का अधिकृत विवेचन है। इस के साथ ही श्वसन संस्थान, प्रकोप के दुष्परिणाम, सामान्य औषधि; भोजन और उपवास का बहुत ही स्पष्ट और उपयोगी वर्णन है। रोग निवारण में आहार-विहार का महत्त्व सर्वविदित है। इस दृष्टि से भोजन, पचन, कोष्ठबध्दता, अल्पाहार,उपवास तथा पूर्ण भोजन आदि का विवेचन निश्चय ही उपयोगी है।

' यौगिक चिकित्सा प्रणाली ' के अंतर्गत षड्कर्म, आसन और प्राणायाम एवं शिथिलीकरण आदि का सरल-सुलभ रीति विवेचन है। साथ ही आश्रम जीवन की चर्या का प्रतिपादन इस बात की पुष्टि करता है कि यौगिक उपचार घर पर रहकर भी संभव है। दमा का तीव्र प्रकोप रोगी में भय उत्पन्न कर देता है। इसलिए प्राकोपावस्था में उपयोगी अभ्यास क्रम का प्रतिपादन ( पृ. ४५ ) रोगी को



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



भय मुक्त करने में सहायक हो सकता है। अंत में योगोपचार के अतिरिक्त संक्षेप में अन्य उपचार पध्दतियों – वनस्पति उपचार, मालिश, स्नान, आयुर्वेदिक, होमियोपैथी, बायोकेमिक, स्पीलियो थेरॉपी, शिवांबु कल्प आदि का विवेचन भी रोगी को कष्ट मुक्त होने के कुछ दिशा निर्देश कर सकता है।

दूसरे खण्ड में सर्व प्रथम मधुमेह के अनेक प्रकारों और लक्षणों का निर्देश किया गया है (पृ ६२) जो सामान्य व्यक्ति के लिए भी उपयोगी है। लेखक का दावा है की 'योग के पास ९९ % अवसर हैं, परन्तु अधिकांश लोग तभी योग में आते हैं जबकि वे देखते हैं कि अब दवाओं से इसका निदान असंभव है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। यदि दवाओं के साथ योग का समन्वय किया जाय तो यह मधुमेह के निदान में एक शक्तिशाली क्रिया होगी।" (पृ. ६३) मधुमेह के लिए योगोपचार पद्धति के अंतर्गत ध्यान, हठयोग प्रक्रिया, आसन, प्राणायाम आदि का वर्णन है। 'हाइपरग्लायसेमिया' और 'हाइपोग्लाइसेमिया' का लक्षणों सहित विवेचन भी सामान्य जन के लिए ज्ञान वर्धक है। रोगी के दैनिक कार्यक्रम के अंतर्गत चार सप्ताह के एक कार्यक्रम का आकलन स्पष्टतः रोग मुक्ति के इच्छुक व्यक्तियों का मार्गदर्शन कर सकता है।

पुस्तक के अंत में अभ्यास खण्ड और परिशिष्ट जोड़ कर विषय को नितांत व्यवहारिक तथा अधिक उपादेय बनाने का प्रयास निश्चय ही सराहनीय है। अभ्यास के अंतर्गत षडक्रियाओं तथा आसन, योगनिद्रा ध्यान आदि पध्दतियों का सचित्र रोचक वर्णन है और परिशिष्ट के अंतर्गत शरीर के आंतरिक अंगों, अंतस्रावी ग्रंथियों तथा चक्रों आदि के सचित्र संकेत पटल सहित वर्णन किए गए हैं। मेडिकल शब्दावली पर दी गई टिप्पणियाँ भी उपयोगी हैं।

योग विशेषज्ञ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के साथ सहयोगी लेखक स्वामी शंकर देवानन्द सरस्वती (एम. बी. बी. एस्. पदवी प्राप्त) जैसे आधुनिक चिकित्सा विशेषज्ञ का यह सम्मिलित प्रयास एक महत्वपूर्ण बात है। योग साहित्य का यह आयाम समाजोपयोगी सिद्ध होगा और साथ ही चिकित्सा के अन्य क्षेत्रों में भी सहयोगी अनुसंधान करने की प्रेरणा प्रदान करेगा।

दर्शन विभाग
हडपसर महाविद्यालय
पुणे – २८

– अर्जुनदास बातरा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



# (३)

**योग-तरी तीरे-तीरे**
ले. – स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
प्रकाशक – बिहार योग विद्यालय, मुंगेर
पृष्ठ संख्या – १८५ ; मूल्य रु. ३०=००

प्रस्तुत पुस्तक 'बिहार योग विद्यालय, मुंगेर' के संस्थापक स्वामी सत्यानन्दजी सरस्वती के सन १९६८ में विश्व भ्रमण करते समय विभिन्न देशों में दिए गए योग संबंधी व्याख्यानों का संकलन है। मूलतः यह संकलन अंग्रेजी में, "Yoga: Shore to Shore" नाम से सन् १९७५ में प्रकाशित हुआ; जिससे सन् १९७६ में श्री मोहनलाल अवस्थी के द्वारा अनुवादित करके उक्त नाम से हिन्दी में प्रकाशित किया गया है।

योग के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से किए गए विश्व भ्रमण के समय स्वामीजी ने सिंगापूर, हाँगकाँग, आस्ट्रेलिया, जापान, अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस आदि अनेक देशों कि यात्रा की और इन देशों के अनेक स्थानों पर, योग के विभिन्न पक्षों को लेकर व्याख्यान दिए, रेडियो-टेलीविजन पर कार्यक्रम प्रस्तुत किए; प्रेस सम्मेलनों में प्रश्नों के उत्तर दिए और विभिन्न स्थानों पर योग-प्रशिक्षण कक्षाओं तथा शिविरों में अभ्यासुओं का प्रायोगिक मार्गदर्शन किया। इन्हीं विभिन्न कार्यक्रमों के व्याख्यानों एवं प्रश्नोत्तरों का एक सुंदर संग्रह है, – "योग-तरी तीरे-तीरे"।

संपूर्ण संकलन ३२ शीर्षकों में विभाजित किया गया है। ये शीर्षक हैं – योग क्या हैं ?, कर्मयोग; सजगता और कर्मयोग; योग की विश्व व्यापकता; आत्म साक्षात्कार और आधुनिक जीवन; योग–नव युग का राजमार्ग; योग-चिद्विलास की एक प्रक्रिया; योग तथा शिथिलीकरण; आध्यात्मिक क्रांति; अंतर्मुखी प्रतिभा का विकास, ध्यान योग, योग; योग और पश्चिम के लोग; एकाग्रता और ध्यान; ध्यान; ध्यान की बाधाएँ; राजयोग, लययोग, मंत्रयोग, क्रिया योग; कुंडलिनी योग; ध्यान द्वारा आमूल परिवर्तन, योग निद्रा और त्राटक, अंतमौन, अंतमौन का अभ्यास; ध्यान का अभ्यास, अजपा जप की उच्च साधना; सहज ध्यान; अंतमौन संबंधी कुछ अन्य सुझाव; सुलभ, सरल-शांतिदायक योग और योग तरी तीरे-तीरे (स्वामीजी के विश्व भ्रमण का प्रतिवेदन)

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ३, अङ्क ४, सितम्बर १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



इन शीर्षकों के अवलोकन से ही पुस्तक के विषय-योग–के विविध पहलुओं का सहज ही अनुमान हो सकता है। योग के विभिन्न आयामों का यह सारा विवेचन व्याख्यानों के माध्यम से ही प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि योग जैसे गहन विवेचन के लिए सार्वजनिक व्याख्यान पद्धति कोई विशेष उपयुक्त पद्धति नहीं कही जा सकती किंतु फिर भी व्याख्याता यदि अनुभवी और अपने विषय का सुलझा हुआ ज्ञाता हो तो किसी भी विषय को हृदयंगम करने में सफल हो सकता है। ये व्याख्यान इस बात के प्रमाण हैं। यह पुस्तक विषय-विवेचन की आधिकारिकता और शैली की रोचकता को अच्छे ढ़ंग से प्रतिपादित करती है। अपने इन्हीं गुणों के कारण स्वामीजी ने इन व्याख्यानों में प्रसंगानुकूल, आसन, प्राणायाम, ध्यान, क्रिया, मंत्र, लय, कुंडलिनी, त्राटक, योगनिद्रा, अजपाजप, शिथिलीकरण आदि योग के महत्वपूर्ण घटकों का एक सुलझा हुआ विवेचन प्रस्तुत किया है जो एक सामान्य पाठक को योग की ओर उन्मुख करने, एक जिज्ञासु को योगन्साधना में प्रवृत्त करने और योग- साधक को योग निष्ठा बनाए रखने की क्षमता रखता है।

स्वामीजी की दृष्टि में योग 'चेतना का विज्ञान है' ( पृ. ५ ) यह 'वैचारिक चेतन के पूर्ण विश्राम की प्रक्रिया है' ( पृ. २१ ) 'योग नव युग का राजमार्ग है जिस का उद्देश्य मन को शांत करना और मानसिक सजगता विकसित ( पृ. ३३ ) करना ही नहीं बल्कि अपरिमित आनन्द की प्राप्ति करना है। योग एक सर्वसुलभ सार्वजनिक और सार्वकालिक विज्ञान है, वह धर्म नहीं है। परन्तु धर्म का विरोधी ( पृ. ४८ ) नहीं है। स्वामी जी ने अपने इन व्याख्यानों में योग संबंधी अनेक शंकाओं और गलत धारणाओं का निराकरण भी किया है। उदाहरण के लिए एक प्रसंग में स्वामी जी कहते हैं, " किंतु लोगों का यह आम विश्वास है कि क्रिया योग में बहुत कुछ गोपनीय है, जो गुरुओं तक ही सीमित रहता है तथा हर कोई क्रिया योग के लिए योग्य नहीं होता। यह केवल एक गलत धारणा है। कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि क्रियायोग का अभ्यास उन गृहस्थों के लिए नहीं है जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते - - - - मेरा यह विश्वास है कि ब्रह्मचर्य का यौन प्रसंग से कोई संबंध नहीं होता। ब्रह्मचर्य का मस्तिष्क में, न कि जननेंद्रिय में शक्ति के संरक्षण से संबंध होता है। - - - - - इसलिए यौन प्रसंग उतने महत्व का नहीं है जितने मस्तिष्क में उठने वाले तद्विषयक विचार। " ( पृ. ११२ ) स्वामीजी के विचार युवा पिढ़ी के लिए मार्गदर्शक और परम्परा-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



वादियों के लिए एक आव्हान हो सकते हैं। भारत की इस अति प्राचीन योग-विद्या को स्वामीजी ने जीवन जीने के विज्ञान के रूप में प्रतिपादित किया है। सामान्यतः योग जिज्ञासुओं के लिए पुस्तक उपादेय मानी जा सकती है। लिंग भेद जैसी एकाध व्याकरणिक त्रुटि को नजरंदाज कर दिया जाय तो अनुवादक का परिश्रम भी सराहनीय है। भाषा को सहज रूप प्रदान करने में उन्होंने पर्याप्त परिश्रम किया है।

दर्शन विभाग
हडपसर महाविद्यालय
पुणे – २८.

– अर्जुनदास बातरा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श (हिन्दी) : खण्ड ३ के योगदाता

**अंक १ : दिसम्बर, १९८१**

| | |
|---|---|
| विभूतिसिंह यादव | टेम्पल विश्वविद्यालय, कॉलेज ऑफ लिबरल आर्टस्, डिपार्टमेन्ट ऑफ रिलिजन, फिलाडेल्फिया, पेन्सिल्वानिया (यू. एस्. ए.) |
| सुधाकर दीक्षित | सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी. |
| हिरेन्द्रप्रसाद साह | शोध छात्र, दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर. |
| नन्दकिशोर आचार्य | सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर (राज.) |
| नारायणशास्त्री द्राविड | दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र) |
| मोहनलाल मेहता | दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे (महाराष्ट्र) |

**अंक २ : मार्च, १९८२**

| | |
|---|---|
| छाया राय | वरिष्ठ व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग केलाबार विश्वविद्यालय, केलाबार, नाइजीरिया |
| उर्मिला चतुर्वेदी | दर्शन विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी |
| रेनू खन्ना | मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान विभाग, भारतीय तकनीकी संस्थान, कानपुर |
| सागरमल जैन | पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी (उ. प्रदेश) |
| गोरखनाथ मिश्र | दर्शन विभाग, धेम्पे महाविद्यालय, पणजी (गोवा) |
| अशोक भाटिया | १८, गोविन्द नगर, अम्बाला छावनी |
| यशदेव शल्य | पी–५१, मधुबन पश्चिम, टोंक फाटक, जयपुर (राजस्थान) |

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



| | |
|---|---|
| नारायणशास्त्री द्राविड | दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र) |
| जगदीश शर्मा | हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय जोधपुर (राजस्थान) |

अंक ३ : जून, १९८२

| | |
|---|---|
| माया दास | दर्शन विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (प. बंगाल) |
| नारायणशास्त्री द्राविड | दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र) |
| संजीवन प्रसाद | दर्शन विभाग, किसान कॉलेज, सोहसराय, नालन्दा (बिहार) |
| कैलासपती मिश्र | दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्रदेश) |
| रामजी सिंह | दर्शन विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर (बिहार) |
| विजयकुमार सिन्हा | १४३, अनुग्रह पुरी कोलोनी, गया (बिहार) |
| मो प्र. मराठे | दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे (महाराष्ट्र) |
| प्रेम मिश्र | अजित भवन, राइका बाग, जोधपुर |

अंक ४ : सितंबर, १९८२

| | |
|---|---|
| राममूर्ति त्रिपाठी | हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म. प्र ) |
| जगदीश शर्मा | हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय. जोधपुर (राजस्थान ) |
| हृदयनारायण मिश्र | दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.) |
| के. एल्. शर्मा | दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान) |
| जगत पाल | दर्शन विभाग, उत्तर-पूर्वीय-पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय) |
| राजदेव दुबे | दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ. प्र.) |
| नारायणशास्त्री द्राविड | दर्शन विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र) |

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

## आजीवन सदस्य (संस्था)

३) प्राचार्य,
प्रताप महाविद्यालय
अमलनेर, जि. जलगांव

४) प्राचार्य,
अहमदनगर महाविद्यालय
अहमदनगर

५) प्राचार्य,
संगमनेर नगरपालिका कला,
डी. जे. मालपाणी वाणिज्य एवं
बी. एन्. सारडा विज्ञान महाविद्यालय
संगमनेर, जिला– अहमदनगर

६) प्राचार्य
स. प. महाविद्यालय
पुणे– ४११ ०३०

७) प्राचार्य,
न्यू आर्टस्, साइन्स और कॉमर्स कॉलेज
अहमदनगर

८) प्राचार्य,
नौरोसजी वाडिया महाविद्यालय
पुणे– ४११ ००१

९) प्राचार्य,
चं. ह. चौधरी कला और शं. गो. पटेल
वाणिज्य महाविद्यालय, तळोदे,
जिला–धुलिया (महाराष्ट्र)

## आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

(३०) डॉ. सुरजीतकौर खालसा
दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे– ४११ ००७

(३१) श्रीमती समिता सु. टिल्लू.
गावडे कॉलोनी, जीवननगर
धोका बिल्डिंग, चिंचवड– ४११ ०३३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

---

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

---

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

---

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११ ०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श ( हिन्दी )


| | | |
|---|---|---|
| राममूर्ति त्रिपाठी | 'रहस्यवाद' से 'नवरहस्यवाद' तक : हिन्दी साहित्य के संदर्भ में | २६९ |
| जगदीश शर्मा | आधुनिक भारतीय संदर्भ में रंगमंच और यथार्थवाद | २९२ |
| हृदयनारायण शर्मा | माया की अवधारणा : नागार्जुन और शंकर | ३०२ |
| के. एल्. शर्मा | क्या 'युक्तियां' क्रिया की 'कारण' कही जा सकती हैं ? | ३१५ |
| जगत पाल | वैधता और सत्यता-सारिणी | ३२४ |
| राजदेव दुबे | स्मृतिकार मनु और राजा का देवत्व | ३३१ |
| नारायणशास्त्री द्राविड | आत्मतत्त्वविवेक का क्षणभङ्गवाद प्रकरण (८) | ३३७ |
| | ग्रंथ-समीक्षाएँ | ३४४ |


RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श

( हिन्दी )

खण्ड ४ अंक १

दिसम्बर १९८२

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श ( हिन्दी )

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तपरक त्रैमासिक पत्रिका

नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ※ राजेन्द्र प्रसाद ※ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ※ रमाकान्त सिनारी ※ विजयकुमार भारद्वाज ※ शारदा जैन संगमलाल पांडे ※ आर्. बालसुब्रमणियन् ※ अशोक रा. केळकर ※ के. जे. शहा ※ नारायणशास्त्री द्राविड ※ के. सच्चिदानंद मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन गुप्ता ※ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :

संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

| | | |
|---|---|---|
| ( १ ) | संस्थाओं के लिए | रु. १६–०० |
| ( २ ) | व्यक्तियों के लिए | रु. १२–०० |
| ( ३ ) | छात्रों के लिए | रु. ०८–०० |
| | एक प्रति | रु. ०५–०० |

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो दो रुपये अधिक जोड़ दें।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# समूह और शक्ति

## समूह

हम इतना अधिक किसी से नहीं डरते जितना कि अनजाने व्यक्ति के स्पर्श से। अँधेरे में अगर हमें कोई अचानक अप्रत्याशित ही छू ले तो हम सिहर या चीख उठते हैं। कपड़ों से भी कोई खास बचाव नहीं होता। यह बहुत आसान है कि कोई उन्हें फाड़ दे और हमारे नंगे, चिकने अरक्षित शिकार के जैसे माँस में कुछ भी चुभा दे। प्राचीन युगों में कवच पहने रहने पर भी लोग तीर-तलवार से मारे जाते थे न !

इसी डर से हम अपने चारों ओर एक फासला बनाये रखना चाहते हैं। ऐसे घर में, जिसमें कोई हमारे अनजाने में ही घुस न सके, हम जानोमाल की थोड़ी ज्यादा हिफाजत महसूस करते हैं। चोरों से हमें सिर्फ अपने लुटने का डर ही नहीं होता बल्कि यह भी कि अँधेरे में अचानक से कहीं हम पर "हावी" न हो जायें।

हर जगह जहाँ तक हो सके हम दूसरों की छुअन या स्पर्श से बचने की कोशिश किया करते हैं।... यह बात दूसरी है कि हम यदि किसी के प्रति आकृष्ट हों तो उसे स्वयं ही छूना चाहें। तब तो हम अपने व्यक्तित्व को ही विस्तृत करते हैं, संस्पर्श द्वारा।

किन्तु अनजाने में ही हमें कोई छू ले और फिर वह माफी न माँगे तो उसके प्रति मन में एक तरह की हिंसात्मक प्रतिक्रिया होती है। लगता है जैसे कोई हमारे निजी व्यक्तित्व की सीमा में जबर्दस्ती घुस आया है यहाँ तक कि नींद में, जबकि हम उतने सावधान नहीं रह पाते जितने कि जगे रहने पर, हमें किसी का भी स्पर्श विक्षुब्ध कर सकता है।

सिर्फ समूह या भीड़ में ही हमें अचानक छुअन के इस डर से छुटकारा मिलता है। खासतौर से ऐसी घनी भीड़ में, जहाँ एक शरीर दूसरी देह से सटे बिना आगे



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



ही न बढ़े सके। तब हमें यह खयाल नहीं रहता कि कहाँ, किसका, कौन-से देहांश पर कितना दबाव पड़ रहा है। क्योंकि भीड़ की मनोरचना एवं मनःस्थिति बहुत ही घनी और ठोस होती है। ज्यों ही हम भीड़ को समर्पित हुए कि हमने अपना स्पर्श-भय खोया; भीड़ में सभी बराबर होते हैं, उसमें कोई भेद-भाव नहीं बरता जा सकता। भीड़ में तो नर-नारी का भेद भी नहीं चल पाता, नर-नारी सभी 'एक-गात्र' हो जाते हों जैसे। तब आदमी अपने को अपनी ही तरह महसूसता है, मानो सब कुछ किसी एक ही शरीर में हो रहा है। शायद यही एक वजह ऐसी है कि भीड़ अपने आप में ही सिमटती चली जाती है और वह हर शख्स को स्पर्श-भय से एकदम मुक्त कर देना चाहती है। लोग जितना ज्यादा एक-दूसरे पर दबाव महसूसते हैं उतने ही ज़्यादा वे आपसी भय से मुक्त हो जाते हैं। भीड़ को जहाँ सबसे ज्यादा पायें वही सबसे ज़्यादा आराम-सा होता है, किसी का डर नहीं रहता।

भीड़ या समूह कहीं भी खुली या बंद जगह पर इकट्ठी हो सकती है चाहे इसकी शुरूआत ५–१० आदमियों से ही हुई हो। यह स्वतः जुटती और टूटती है। शुरूआत होते ही भीड़ की इच्छा यही होती है कि वह बढ़ती ही जाये। यही इसका पहला और सर्वोच्च गुण है। सहज भीड़ वही होती है जो अपने को और बढ़ने से कभी न रोके। किसी भी दिशा में, किसी भी जगह वह बढ़ती रहना ही चाहती है। भीड़ की बढ़वार रुकते ही वह जल्दी ही खत्म हो जाती है।

वस्तुतः खुली भीड़ जितनी जल्दी जमती है उतनी ही जल्दी टूटती भी है। यह अपनी स्वतः-स्फूर्तता में बहुत ही भाव-प्रवण होती है। जरा-सा भी कुछ हुआ कि यह तुरंत बिखर जाती है, तितर-बितर हो लेती है क्योंकि वह सबको अपने में बहुत जल्दी समा लेती है। लेकिन बंद भीड़ अपनी बढ़वार रोककर ज्यादातर तो मुकम्मिल ही रहना चाहती है। यह अपनी हदबंदी करते ही अपने को मिली सारी जगह प्रायः भर डालती है। इसमें शामिल होने के प्रवेश-द्वार भी सुनिश्चित से होते हैं, इसकी हदबंदी भी पुख्ता होती है; इसमें अंदर होने की फीस भी लगती है। जगह भर जाने पर फिर किसी और को नहीं घुसने दिया जाता। बाहर चाहे कितने भी शख्स क्यों न खड़े हों, वे अंदर की भीड़ का हिस्सा नहीं बन पाते।

भीड़ की हदबंदी का मतलब ही यही होता है कि उसकी अपनी अव्यवस्थित बढ़वार पर रोक लगी रहे। लेकिन भीड़ का बिखराना या मिटना भी आसान नहीं रह जाता। इस तरह भीड़ की शक्ति केंद्रित हो जाती है। इस पर बाहरी खतरनाक और विरोधी असर नहीं पड़ते। यह बिखरती भी है तो इस उम्मीद से कि जल्दी ही फिर जुटेगी या जमेगी। इसी से बंद भीड़ के लोग झट से जुटते-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



जमते हैं। बिल्डिंग भी उनका इन्तजार करती है। वह इसीलिए बनी होती है, लोग उसमें पहले की तरह ही इकट्ठे हो सकते हैं। खाली होने पर भी लोगों को भरी बिल्डिंग की याद आती रहती है।

भीड़ के समय का सर्वश्रेष्ठ क्षण वह होता है जबकि लोग एकात्म हों और वे अपने भेदभाव भूल कर एक जैसे हो जायें। वास्तव में, भेद-भाव तो सब बाहरी होता है, चाहे वह श्रेणी का हो, या पद-मर्यादा का, अथवा जमीन-जायदाद का या धन-संपत्ति का। व्यक्ति के नाते आदमी इन्हें कभी नहीं भूल पाता। ये उसे परस्पर अलग रखते हैं। अगर कोई सुरक्षित और सुपरिसीमित जगह पर खड़ा हो तो वह अपने अधिकार की दशा अपने प्रत्येक इंगित से दूसरों को दूर रखकर ही करना चाहता है। वह किसी के प्रति एकदम उदार और मुक्त चेष्टाएँ कभी नहीं कर पाता। सब जगह वह उच्च-नीच, प्रवर-अवर, छोटे-बड़े का भेद बनाये रहता है। यह भेद बहुत ही मुश्किल से, शायद कभी नहीं, मिट पाता। विभिन्न सामानों में ये फासले विभिन्न तरीकों से आपस में एक तरह का सन्तुलन सा कायम करते रहते हैं। कहीं जन्म से, तो कहीं पेशे और कहीं संपत्ति से, भेदभाव पर ही जोर दिया जाता है।

जाहिर है कि लोग भीड़ में एक-जुट होकर ही अपने सारे भेदभावों का वजन हलका कर सकते हैं। भीड़ में यही बात असानी से हो जाती है। वहाँ सब लोग अपनी खासियतें भूलकर यकसाँ महसूस कर पाते हैं। शायद इसीलिए लोग अक्सर भीड़ लगाना पसंद करते है। पर इसमें उन्हें एक भ्रान्ति भी होती है। वस्तुतः तो वे कभी एकात्म नहीं हो जाते। न वे हमेशा यकसाँ महसूस करते हैं। अपने-अपने घर आकर, अपने-अपने बिस्तरे पर पड़ते ही उन्हें अपनी सारी खासियतें याद आ जाती हैं। वे अपने विशेष नाते-रिश्ते छोड़कर अपने कुनबों से अलग नहीं हो जाते। सच्चा परिवर्तन तो वही होता है जो पुराने संबंध मिटाकर नयी-नयी संगतियाँ बैठा दें। कुछ संस्थाएँ तो इसलिए अपनी सदस्यता के नियम भी बड़े कठोर बना डालती हैं। फिर भी वे पूरी तरह से नियम और अपने उद्देश्य पूरे नहीं कर पातीं। भेदभाव नये रूपों में उभर आते हैं।

भीड़ का और भी एक विशेष गुण है– उसकी ध्वंस-कारिता। ऐसा क्यों है, इसकी कोई व्याख्या नहीं कर सकता ..भीड़, खासतौर से, चीजें और गृह-वाहन आदि तोड़ती-फोड़ती है। तोड़-फोड़ की आवाज़ से उसे सकून मिलता है। शायद उसे ऐसा लगता है तोड़-फोड़ की आवाज़ से, कि कुछ नया जनम रहा हो! भीड़ छोटी हो तब तो यह बहुत ही जल्दी और आसानी से हो जाता है; अच्छी से अच्छी मूर्तियाँ इसी तरह टूटती हैं। ईसाइयों ने यूनानी और मुसलमानों ने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हिंदुओं के देवी-देवताओं के हाथ-पैर तोड़े... लेकिन इससे पहले मुसलमान तो अपने सारे अपने कबीलों के बुत भी खत्म कर चुके थे...क्रांतिकारियों ने संतों की प्रतिमाएँ पहाड़ों के ऊपर से ढ़ाल-ढ़ालकर तोड़ीं फिर भी पूरी तरह नहीं टूटीं...

अपनी ध्वंसात्मक कार्यवाहियों से भीड़ यह जता देती है कि वह कोई ऊँच-नीच की परम्परा नहीं मानती। वह इसी तरह पहले से चले आये और जाने-माने भेदभाव मिटाती, और अपने को स्थापित भी करती है। सारी सीमाएँ मिटाकर वह सबको अपने में एक होने के लिए उकसाती है। भीड़ में व्यक्ति यह भी समझता है कि वह अपने व्यक्तित्व की भी हदबन्दी लांघ रहा है। भीड़ में वह फिर अपने आपमें बन्द नहीं रह पाता। भीड़ इस तरह हमें अपने-अपने संकुचित व्यक्तित्वों की काराओं से भी मुक्त करती रहती है।

भीड़ की हर इकाई यही चाहती है कि इस क्षण जो मुझे महसूस हो रहा है वही दूसरों को भी हो। भीड़ का हर व्यक्ति अपने जाने-अनजाने ही सारे भेदभाव या फरक मिटाकर मुक्ति का मज़ा सबको मुहैया करा देना चाहता है।

भीड़ द्वारा आग लगाना सबसे ज्यादा ध्वंसकारी होता है। वह दूर से ही देखा जा सकता है, तथा और भी ज्यादा भीड़ तुरन्त इकट्ठी करता है। आग में जला तो फिर किसी काम का नहीं रहता। और इस परम ध्वंस के बाद तो न आग रहती है, न भीड़, दोनों ही गायब-से हो जाते हैं।

बन्द भीड़ जब खुली भीड़ बनती है तो वह और भी ज्यादा लोगों को खींच लाती है। असन्तोष तब और भी अधिक व्यापक हो उठता है, सारे लोगों का निश्चय और भी ज्यादा पक्का हो जाता है। क्रान्तियाँ इसी तरह के विस्फोटों की संवाहिका होती हैं। क्रान्ति के दौरान सारी परम्पराएँ अपनी मर्यादाएँ खो देती हैं.. भीड़ को तब कोरे वायदे और नारे नहीं भरमाते, नहीं लुभा पाते। सारे छोटे युद्ध या महायुद्ध भी तो भीड़ें ही लड़ती हैं। वे अपनी पार्श्व-शक्ति और बल को इसी तरह महसूस करके अपनी स्थूल कार्यकारिता की या मूर्त प्रभावों की आजमाइशें किया करती हैं।

भीड़ कभी यह नहीं महसूसती कि बस अब और ज्यादा होने या बढ़ने की जरूरत नहीं। अगर कोई भीड़ बढ़ती ही नहीं जाती तो समझ लें कि वह "उपवास" कर रही है। याद रहे कि उपवास या अनशन करते रहने पर भी लोग काफी वक्त तक जीते रह सकते हैं। धार्मिक सम्प्रदायों ने उन्हें इसमें माहिर बना दिया है.. धर्मांधों की भीड़ न बढ़ने पर भी ज्यों की त्यों बनी रहती है। धार्मिक सम्प्रदाय धीरे-धीरे ठोस, स्थायी, संस्थानी सम्प्रदाय या संगठित समुदाय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



बन जाते हैं। शत्रुओं के मुकाबले उन्हें अपनी विविध संस्थाएँ खड़ी करनी पड़ती हैं जो कि समय के साथ बहुत ज़ोर पकड़ लेती हैं। धीरे-धीरे धर्मों की मूल अन्तःप्रेरणाएँ लुप्त हो जाती हैं। सिर्फ उनकी लाशें ही पूजती रहती हैं। जिन धार्मिक संस्थाओं पर राजकीय रोक लगायी जाती है वे अपना रूप बदल कर फिर सामने आ जाती हैं, सामाजिक सेवा-प्रतिष्ठानों की तरह और फिर से उनकी कार्यवाहियों की रोक-थाम करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। धार्मिक स्थानों पर जुटी भीड़ों में धीरे-धीरे एकता की भावात्मक घुट्टी पीते-पीते इतना बल आ जाता है कि उनका ऐक्य-भाव सहज ही नष्ट नहीं होता।

आशंका-जनित घबड़ाहट यों ही लगी हुई भीड़ को तितर-बितर करने में बहुत कारगर होती है, जैसा कि आग लगने पर बन्द भीड़ों में होता है। हर भीड़ पहले तो उस खतरे से लड़ने की चेष्टा करती है लेकिन यदि वह अपनी हार होती देखती है तो हर शख्स भीड़ की एकता का भाव खो कर अपनी इकाई (व्यक्तित्व) बचाने की कोशिश में दूसरी इकाइयों की प्राण-हानि की परवाह नहीं करता। आप ही भीड़ का विचित्र प्रतीक है, ऐसा कि भीड़ से अलग भाग कर अपनी जान बचाने वाले लोग दूसरों को कुचलने-रौंदने से भी नहीं हिचकिचाते, मानों वह एक तरह आग को ही कुचल रहे हों .. क्योंकि तब अपना भीड़ लगाना उन्हें अपनी जानलेवा गलती-सा प्रतीत होता है !...

अखाड़ों के चारों ओर जुटी चक्राकार खड़ी या बैठी भीड़ एकदम अलग तरह की होती है। वह बाहरी दुनिया और अपने आपके लिए एक तरह की संकुचित बन्द भीड़ होती है; अगर अखाड़ा खाली हो तो भी, यह भीड़ अपनी एकात्मता हाल ही नहीं खोती।

भीड़ों की किस्में और भी बहुत-सी हैं, जैसे : अपनी गति से बढ़ती भीड़, रुकती और भागती भीड़, वापसी की भीड़, लक्ष्य की ओर रेंगती भीड़, अदृश्य भीड़ (कब्रगाहों में, विशेषतः), तरह-तरह की भावनाओं पर जमी भीड़ें, नुमाइशों में लुभाती और हवाई जहाजों में उड़ती भीड़ें, विरोधी और प्रतिबन्धी भीड़ें (हड़तालों व घटनाओं में विशेषतः), दावत का मजा लेती भीड़ें, नर-नारियों के आधार पर विभाजित भीड़ें, जिन्दा लोगों और मुर्दों की भीड़ें, दुहरी भीड़ें (युद्ध-क्षेत्रों में) इनके केन्द्रीय तबके भी अलग होते हैं, प्रतीक भी अलाहदा रहते हैं और तदनुसार ही शक्ति एवं सामर्थ्य भी। भीड़ और झुण्डों में बहुत भेद होती है, जैसे दलों, वर्गों और जत्थों एवं टुकड़ियों में होता है। कबीलों के झुण्ड तो मशहूर हैं ही, उनके लिए वन-पर्वत ही "सामूहिक प्रतीक" बन जाते हैं !...

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## शक्ति

शक्ति हथिया ने और उसे कायम करने की समूची मानसिकता का अभी अच्छा और गहरा अध्ययन नहीं किया गया। मानव-समाज में इसके जैसी आदिम वस्तु दूसरी ढूंढे नहीं मिलेगी। इससे हम जानवरों की तरह बरतते हैं लेकिन इसकी ओर कभी ठीक ध्यान नहीं देते।

शक्ति का नंगा नाच या खेल हमें शिकार और शिकारी– जानवरों और आदमियों, दोनों में ही दीख पड़ता है। इसमें फरक इतना ही होता है कि आदमी जानवरों से ज्यादा धोखाधड़ी और चालाकी इस्तेमाल कर सकता है। वह खतरों और जोखिमों से अधिक सावधान हो पाता है। वह औजारों व हथियारों से अपनी शक्ति बहुत बढ़ा सकता है। उसकी पकड़ और पहुँच भी बहुत ज्यादा या व्यापक होती है– समय और स्थान– दोनों दृष्टियों से।

हाथ हमारी जैवस्तरीय शक्ति का सर्वप्रथम प्रतीक है, शक्ति के उपयोग का साधन है। वे गौर करें इन मुहावरों पर : "हाथ की बात है, या नहीं", "हाथ में नहीं, या है", "हाथ लगना", "हाथ का चक्का", "हाथों हाथ", "रंगे हाथ, लगे हाथ", "हाथ उठाना", "हाथ के नीचे या हाथतले आना", "हाथ जोड़ना", "हाथ मारना या खाली जाना", "हाथ आना", "हाथ खींचना", "हाथ चलाना", "हाथ छोड़ना, –छूटना, –डालना," "–पकड़ना", "हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना", "हाथ साफ करना", "हाथों-हाथ लेना"...। ऐसे मुहावरे सभी मानवीय भाषाओं में मिलते हैं जो हाथ को शक्ति के प्रयोग-प्रतीक रूप में पेश करते हैं। ('हाथ' की जगह आप चाहे तो 'पंजा' भी रख सकते है...लेकिन किसी के पंजे में न पड़िएगा।)

जर्मन और अँग्रेजी के हैंड (हांट) "हैंडल" आदि भी इस संदर्भ में अध्येय हैं। संस्कृत के हस्त, कर, और "हस्तो" और उससे बननेवाले अनेक सामासिक और योगिक रूप भी...

आदमी के हाथ की अँगुलियों और अँगूठा में जबसे अलगाव या प्रतिपक्ष आया तभी से उसकी शक्ति की पकड़ और सीमा बेहद बढ़ गयीं। हमारे हाथ अपने दबाव और दूसरी कारिस्तानियों से क्या नहीं कर सकते ?... जानवरों के पंजे, दाँत, नाखून हमारे हाथों के सामने मात खाते हैं, पानी भरते हैं। हमारे हाथों का ही यह करिश्मा है कि औजार-हथियार बने, शिल्प एवं कला-संस्कृति, सभ्यता, तकनीकी तरक्की–सभी कुछ संभव हुए हैं– मूर्त, इंद्रियगम्य, एवं ठोस तरीकों और रूपों में नहीं तो वे सब खयाली पुलाव ही बने रह जाते...हमारे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हाथों की सारी करामातें तो सचमुच वर्णनातीत हैं (इंका या इंदिरा जी ने हाथ का प्रतीक यों ही नहीं चुन लिया साहब !)

हाथों की शुरूआत वानस्पतिक जीवन से मानी जाती है। हाथों से शक्ति का ग्रहण और त्याग आसानी से संध जाते हैं। और वह भी एक साथ छोड़ने की क्रियाओं से। नर-वानर इसीसे प्राणि-जगत् के विशिष्ट जीव हैं। हमारे हाथों की हिंसात्मक और ध्वंसात्मक शक्ति की अपेक्षा इनकी शक्ति के रचनात्मक, सर्जनात्मक, निर्माणात्मक, संयोजनात्मक प्रयोग परीक्षण अनन्त होते हैं। कहाँ तक गिनाये कोई ? हमारे हाथों की सबसे बड़ी शक्ति तो इससे धैर्यपूर्वक काम करते रहने में व्यक्त होती है; देश-काल की सीमाओं को यह भी अनायास ही लाँघ जाती है।

अपने हाथों को धीरज सिखाना सचमुच टेढ़ी खीर होती है। अपनी अंगुलियों से, स्पर्श से, तो हमें सचमुच कमाल कर दिखाते हैं, नर-नारी की तो बात ही क्या, बंदरों के और वनमानुषों के जीवन में भी यही देखा, समझा जा सकता है।

यदि हमारे हाथ और उनसे बने औजार, हथियार, मशीनें आदि चीजें न होतीं तो हमारी सभ्यता में बर्तन, वास्केट, गहने, आवास, वस्त्र कलाकृतियाँ, दवाएँ आदि कुछ भी न होतीं। हाथों की भी मानों अपनी एक जिन्दगी है, अपनी दुनिया है. जिसके करिश्में एवं परिवर्तन सभी कुछ अपने हैं। भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में शब्द और संकेत का साथ तो बहुत पहले से चला आ रहा है। हाथ और चेहरा भी भावाभिव्यक्ति में एक दूसरे के सहायक या पूरक बन जाते हैं– शायद कुछ चीजें नष्ट भी करते हैं ! नर और वानर दोनों की ही हाथ और अंगुलियों का "व्यायाम" होता है। इसीलिए कभी-कभी तो अनचाहें ही हमारे हाथ बहुत-कुछ तोड़ फोड़ डालते हैं ! संसार-भर की सारी तकनीकें भी एक तरह से 'हाथों के मशीनीपन' का विकास हैं, जिन्हें उत्पादन और ध्वंस में समानतया लगाया या बरता जा सकता है।

मारनेवाले हाथों के प्रति भी आदर-सत्कार का प्रदर्शन भी मानव–समाज की एक विचित्रता है ! शक्ति उन्हीं के पास संचित होती है जो प्रायः मारने–काटने में लगे रहते हैं...जो लोग धीरज के साथ अपने दोनों हाथों से सिर्फ काम करते हैं वे तो हमेशा अनुयायी या दास ही बने रहते हैं।

शक्ति और दुरुस्त हाजमे में भी सीधा सबध है। जो खाकर, अपनाकर हजम या आत्मसात् किया जाता है वह अवश्य ही हमारी शक्ति बढ़ाता है। इसीलिए जो लोग साथ-साथ एक जगह बैठकर खाने में हिस्सा बँटाते है वे एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



तरह की गुट-शक्ति का भी अनुभव करते है। परिवारों में माँ की शक्ति इसीसें "अन्नपूर्णा" जैसी होती है। भरे पेट वाले लोग तो भूखों को कुचलते चले जाने में भी दुविधा नहीं करते। इस तरह "प्रीतिभोज" "शक्तिभोज" बन जाते हैं।

शक्ति के क्षणों का अनुभव बचे रहने या बच जाने में सबसे तीव्र होता है। मृत्यु का संत्रास संतोष बन जाता है, यह देखकर कि हम नहीं, कोई दूसरा ही मरा है। मृत व्यक्ति प्रायः ज़मीन या बिस्तरे पर पड़ा होता है जब कि बचा हुआ व्यक्ति जीता-जागता खड़ा होता है, मानों मरे और बचे हुए में से एक ने दूसरे को हराकर गिरा दिया हो...मानव की अमर होने की अभिलाषा में भी यही भाव उसके अनजाने की छिपा है। बचे हुए को बहुत-से मरे हुए लोगों का पता होता है, जीवित रहकर वह अपने को "खुश-किस्मत" समझता है। युद्धस्थल पर तो यह सर्वाधिक तीव्रता से महसूस होता है पर जीवन-संग्राम में भी प्रायः यही होता रहता है। बचे हुए लोग अपने को प्रायः ज्यादा अच्छा समझते है। "व्यक्ति का बचा रहना" जैसी बात इसीलिए कही जाती है।

आदमी का शरीर नंगा और विजेय होता है। हर वक्त सावधानी और चतुराई बरतने से ही वह अपनी रक्षा कर पाता है। किसी भी नायक या नेता की स्थिति तो प्रायः यही होती है। वह बचा रहकर ही गौरवशाली बनता है। गौरव माने, विजय और अधिकार। इसी से जिजीविषा भी तो मानव-मात्र की शक्ति-प्राप्ति की एक अभिलाषा ही है। चिंगिसखान, सिकंदर, सीजर, आदि तभी तक नायक माने गये जब तक वे युद्ध जीतते रहे और खुद बचे रहे। हारने या मरने पर नायक या नेता की मिट्टी खराब हो जाती है।

शासक गण अपने शासितों के बाद भी, बचे रहना चाहते हैं। उन्हें दूसरे बचे हुओं से आंतरिक घृणा है। अकबर, जहांगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब बाप बेटे हो कर भी इसी कारण एक दूसरे के दुश्मन बन गये थे क्योंकि ये शहंशाह अपने युवराज बेटों को जल्दी ही राजगद्दी नहीं सौंपना चाहते थे।

बचे रहने की भी बहुत-सी किस्में हैं। जैसे, करोड़ों शुक्राणुओं में कोई एक ही एक डिम्ब को वेधता है और तब एक मानव व्यक्ति माँ के गर्भ में अपना "अस्तित्व" बना पाता है। लाखों सैनिक मरते हैं लेकिन सेनापति अधिकतर बचे ही रहते हैं। उन्हीं की जीत या हार कही जाती है। युवजन वृद्धों की अपेक्षा अधिक संख्या में बचते हैं। यही स्वाभाविक माना जाता है कि बेटा-बेटी बचे रहें माँ-बाप मर जायें। समवयस्कों में तो बचने की होड़-सी लगी रहती है। लेकिन कितने ही समाजों में वृद्धों का इसीलिए अधिक सन्मान होता है कि वे एक लंबी अवधि तक बचे रहते हैं! दीर्घ-जीवन पाने की इच्छा का मतलब भी यही होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है कि हम अपने समकालीनों की अपेक्षा ज्यादा जिंदा रहना चाहते हैं ताकि शक्ति और अधिकारों का यथेच्छ एवं अधिकाधिक उपयोग कर सकें...हर पीढ़ी में कोई एक व्यक्ति ही हमेशा ऐसा होता है जो दूसरों की बनिस्बत अधिक बचा हुआ (जीवित) रहता है। बहुत-से-कबीले तो अपनी आदि-उत्पत्ति भी उसी व्यक्ति या नर-मादी के जोड़े से मानते हैं, जो हमेशा ही बचा रहता है, चाहे जैसी विपत्ति क्यों न आ जाये, वह मरता नहीं जान पड़ता। "शतं जीवेम, प्रब्रवाम शरदः शतं" वैदिक मंत्र भी आता है।

शक्ति की अपेक्षा बल या ज़ोर अधिक निकट से काम करता लगता है। बल भी समय पाकर शक्ति में परिणत हो लेता है। शक्ति समय एवं स्थान में विस्तारित होती है। जो भगवान् में विश्वास करते हैं वे भी यह चाहते हैं कि उन्हें दिव्य शक्ति का तीव्र अनुभव हो, चाहे वह कोई आदेश हो या फल, अथवा किसी मुसीबत का टलना। खासतौर से इस्लाम और ईसाई धर्म के लोग तो यही चाहते हैं कि उनकी जिंदगी के छोटे-मोटे कामों में भगवान् की शक्ति का करिश्मा ही नहीं ज़ोर भी आज़माया जाए!

पकड़ और पहुँच की गति भी शक्ति को ही क्रीड़ा-सी लगती है। शासकीय शक्ति की तुलना बादलों की बिजली से की जाती है। आदमी अपने शस्त्रास्त्रों द्वारा उन्हीं से होड़ लगाता है। गति और वेग से अश्व-शक्ति का रिश्ता अब एक जग-जानी बात है। हमारी मशीनी सभ्यता में इसी को शक्ति के अन्य स्त्रोतों से जोड़ा गया है, एक तरह से माप या मानक की तरह।

हमारे सारे प्रश्न और उत्तर भी अपने पीछे की शक्ति प्रदर्शित करते है। किसी से बहुत-से प्रश्न पूछिए तो वह प्रायः चिढ़ जाता है। सारे प्रश्नों के समुचित संतोषप्रद उत्तर देकर उसे खुशी भी होती है। पूछने वाला भी सारे प्रश्न करके यही अनुमान करता है कि जैसे उसने उत्तरदाता को भी अपने (प्रश्नकर्ता के) प्रति समर्पित होने को बाध्य कर दिया। लेकिन ऐसे भी सवाल किए जा सकते हैं जो लाजवाब होते हैं, और ऐसे जवाब भी दिये जाते हैं जो फिर और दूसरे सवाल ही नहीं उठने देते।

सारे प्रश्नों का अंतिम लक्ष्य एक तरह से जाँच-पड़ताल ही होती है, जिसका एक निश्चित उद्देश्य भी होता है। बे-मतलब के सवालों को कोई भी टाल देता है। छोटे और सही उत्तर देना बहुत कठिन होता है इसीलिए बचाव का एक सब से भोंडा तरीका यह है कि लोग बहरे या नासमझ बन जायें। लेकिन ऐसा केवल बराबर के लोगों में ही ठीक बैठता है। अदालत में किये गये सवाल-जवाब शक्ति को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्पष्टतः दरसाते हैं। गुप्त या गोपनीयता कायम रखना एक तरह का अन्दरूनी वख्तर बन जाता है। सवालों के खिलाफ अपने को अरक्षित समझने वाले लोग प्रायः इसे इस्तेमाल करते हैं। यही बात मौन या खामोशी रखने के बारे में भी सच है। महान् व्यक्ति प्रायः इसका उपयोग करते हैं, और यह उनकी शक्ति को बहुत कागर बना देता है।

वैसे कोई भी उत्तरदाता अपने को एक निश्चित स्थिति में बाँध लेता है जबकि प्रश्नकर्ता उस पर कहीं से भी अपने सवाल दाग सकता है। "आप कौन हैं?" के जवाब में अगर आपने कहा: "मैं यह या वह हूँ" तब अपनी स्थिति बदल कर आप झूठों के जाल में फंस जाते हैं। अपने को बदल कर बच निकलना तब बहुत मुश्किल होता है। कभी-कभी तो सारे सवाल कहीं कुछ काटते-से लगते हैं। और कभी तो हम किसी के विचारों के बारे में भी कुछ सवालों के बाद ही जान पाते हैं और हमारे उत्तर तो हमें किसी-न-किसी पक्ष में ढकेल ही देते हैं। बहुत-से प्रश्न तो सुरक्षा और व्यवस्था की दृष्टि से भी जरूरी होते। अब तो वे निश्चित से हो गये हैं। जिरह के सवाल तो हमेशा ही शक-शुबह से भरे होते हैं। उसमें ऐसा लगता है कि जैसे पूछने वाला ही सब कुछ जानता है। और वह अब सही बातों की छानबीन में मशगूल है। इसमें सारी जानकारियों की शक्ति दोनों ओर ही छिपी-सी रहती है।

गोपनीयता शक्ति का हृदय बन जाती है। सबसे बड़ी गोपनीयता तो शरीर में ही छिपी होती है। कोई भी डाक्टर–सर्जन या चिकित्सक यह अच्छी तरह जानता है। शासकों का काम गुप्तचरों के बिना कभी नहीं चलता। जानकार लोग प्रायः अपनी शक्तियाँ ही व्यक्त नहीं करते रहते। शक्तिशाली सदा ही अपने विचार पूर्णतः छिपा लेते हैं। वे यह कभी जाहिर नहीं करते कि वे क्या चाहते हैं। और न यही कि वे अपनी चाहतों को कैसे पूरेंगे... सच पूछिए तो उनका आपा भी अपने से अक्सर छिपा रहता है।

खामोशी में हमेशा बड़ी भारी शक्ति समायी रहती है। खामोश व्यक्ति कभी यों ही क्षुब्ध नहीं होता, वह सबसे अलग-थलग सा रहता है; वह ज्यादा मिल-जुल भी नहीं सकता; वह कुछ भी बकता झकता नहीं; इसीसे उसकी शक्ति सदा ही संचित रहती है... वह स्वयं-सम्पूर्ण-सा होता है मानों वह एक खजाने का मालिक हो, और वह खजाना उसके अन्दर छिपा हो... कभी-कभी वह एक मुखौटा-सा लगा लेता है, जिसे वह हमेशा पकड़े रहता है। वह अपने आपको परिस्थितियों के अनुसार जल्दी परिवर्तित भी नहीं कर सकता। लोग मौन व्यक्ति के बोलने का इंतजार करते हैं... यद्यपि तब उसके शब्द उन्हें कठोर असंगत और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



आदेश जैसे भी लगते हैं। यह सब वादशक्ति का ही खेल है। वैसे भी शासक और शासितों की भाषा में स्वतः अंतर ही आ जाता है। अधिनायक-शाही की शक्ति अधिकतर गोपनीयता और मौन की होती है। अधिनायक या तानाशाह के मन्तव्य सहज में ही नहीं जाने जा सकते। वैसे लोग तो कुछ नया, उत्तेजक और अधिकृत रूप में, या अधिकारी-भाव से पेश किया हुआ, कुछ भी सह जाते हैं।

अन्ततोगत्वा, एक ही दल या व्यक्ति तक सीमित रहीं सारी गोपनीयताएँ और शक्ति-प्रयोग मुसीबत ही बरपाते हैं। वे कभी-न-कभी अपने आन्तरिक ताप का विस्फोट करती ही है, क्योंकि उनमें अधिकाधिक शक्ति पुंजित हो जाती है। मसलन पिछले विश्व महायुद्ध में अणुबम का प्रयोग और उसके बाद की घटनाएँ लें। इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि आज की तकनीकी गुप्त बातें और चीजें कभी भी कितनी खतरनाक साबित हुई, और हो रही तथा हो सकती हैं, इसलिए कि उनका असर तो सब पर पड़ता है।

लेकिन मुट्ठीभर लोग ही उनको जानते और इस्तेमाल कर सकते हैं। जाहिर है कि उनके निर्णय गलत होने की ही ज्यादा सम्भावना रहती है। इसीलिए अब इनके प्रयोग पर सर्वराष्ट्रीय नियन्त्रण की बात उठायी जा रही है।

हम अपनी-अपनी शक्ति के अनुपात में ही प्रायः सही और गलत निर्णय देते रहते हैं जिनसे दूसरों को हानि या लाभ होता है।

निर्णय करते वक्त हम अपनी क्षमा, दया, ममता, मोह आदि को ताक पर रख देना चाहते हैं। दूसरों की अवमानना में हमें प्रायः सुख मिलता है। पक्ष-प्रति-पक्ष, विधि-निषेध दो विरोधी खेमे हमें स्वाभाविक लगते है। हमें जज या न्यायाधीश की शक्ति हथियाना हमेशा अच्छा लगता है, चाहे हममें उसकी जैसी योग्यता एवं निष्पक्षता हों, या नहीं... अच्छे-बुरे को आमने-सामने रखना मानव मात्र की आदत होती है। और हम एक जज के नाते अपने को अच्छे की तरफ रखते या समझते हैं। जो "जज का रोल" अपनाने से कतराते हैं उनको तो आप उँगलियों पर गिन सकते हैं। सच यह है कि यों ही निर्णय दे डालना एक तरह की आम बीमारी है– एकदम महामारी जैसी! शायद ही कोई इसकी छूत से बरी होता है, क्योंकि हम इसी तरीके से लोगों और चीजों को अक्सर भली-बुरी– इन दो श्रेणियों में ही बाँटा करते हैं। हम अपने संग-साथ, उपयोग या उपभोग अच्छे-से-अच्छे ही चाहते हैं। कुछ विशेष क्षणों में ही नहीं, शान्ति-काल में भी हम अपने दुश्मनों की हानि या मौत चाहते हैं। अच्छों में बुरा का क्या काम, हम यह दलील भी प्रायः पेश करते रहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



क्षमा, दया करने की शक्तियाँ भी हम सब में होती है। यह बात दूसरी है कि हम उन्हें जब-तब काम में न लायें। पागलों को छोड़कर हम सभी तो क्षमा-दया करते हैं, यद्यपि ऐसा हम खुद ही करना चाहते हैं, दूसरों द्वारा प्रेरित होकर नहीं, ज़ोर-ज़बर्दस्ती से नहीं। दूसरों की गलतियाँ माफ न कर सकने वाले ही उन्हें भूल कर भी न भूलने की कसम खाये रहते हैं। और वे इस तरह अपनी एक महान् शक्ति को यों ही व्यर्थ कर डालते हैं। आततायी शासक क्षमा करना नहीं जानते। वे अपने विरोधियों को पूरी तरह अपना दास बनाने को बड़ी-से-बड़ी कीमत चुकाने में भी नहीं हिचकते। दण्ड और माफी देने की शक्ति का मनमाने प्रयोग के लिए ही वे बहुत-सी अनावश्यक रोकथाम लगा कर मौके निकालते हैं। सर्वोच्च शक्ति का प्रदर्शन अन्तिम क्षण माफ करने में ही होता है। फांसी पर चढ़ने वाले को ऐन मौके पर माफ करने से एक नया जीवन गढ़ा जा सकता है, अन्यथा वैसे तो मरे हुए को जिलाने की ताकत आदमी की हाथों में अभी तक नहीं आयी है।

"आदेश तो बस आदेश ही है"– यह सामान्यतः सच मान लिया गया है; सभी आदेश देने वाले यही चाहते हैं कि आज्ञा–पालन तुरंत और जितनी भी अच्छी तरह हो सके, अवश्य होना चाहिए। कारण, वे समझते है कि यही जरूरी है, हमेशा ऐसा ही होता आया है। बचपन से ही हमें आज्ञा–पालन का सबक सीखना पड़ता है। हमारी सारी शिक्षा का भी वह एक अनिवार्य अंग है। यह प्रायः नहीं सोचा जाता है कि जो आज्ञा पालते हैं उनको कैसा और कितना कष्ट हो रहा है... क्षमा इसलिए भी ज़रूरी हो जाती है।

वास्तव में आदेश की शक्ति वाक्-शक्ति से भी पुरानी है। उसे सभी अक्सर आजमाते हैं। कुत्ते तो इसके श्रेष्ठ प्रतिपालक समझे जाते हैं। अन्य पालतू पशु–पक्षी भी, चाहे वे आदमी की बोली समझें या नहीं, आज्ञा–पालन सीख लेते हैं। आदेश–शक्ति हमारी पलायन प्रवृत्ति से जनमती है। उसकी प्रतिक्रिया प्रतिरोध में फलित होती है। दो भिन्न प्राणियों के सारे संबंध प्रीति, पलायन और प्रतिरोध की मूल प्रवृत्तियों से ही बनते–बिगड़ते रहते है...

पलायन वहीं होता है जहाँ दो भिन्न प्राणियों की शक्ति का अनुपात कम–ज्यादा होता है। कमजोरों को ताकतवरों से हमेशा यह डर होता है कि सामने वाले हमें हज़म न कर जायें...डरावनी आवाज़, आँखें, व्यक्तित्व दूसरों को भागने के लिए मज़बूर करते हैं। ऐसी स्थिति में शिकार–शिकारी का भाव आ ही जाता है। मसलन, शेर की आवाज़ सुनी कि शिकार में भागने की प्रवृत्ति जगी...बिल्ली की आँखें दीखीं कि चूहा भागा, रीछ देखा कि खरगोश फुदक कर बिल में छिपा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



सारांश यह कि हर शक्तिपूर्ण आदेश में हमें अपने अस्तित्व पर ख़तरा नज़र आता है।

आदेश की शक्ति से हमारी क्रियाएँ स्फुरित होती हैं। इसका संप्रेषण मात्र तानी हुई अंगुलि से भी हो सकता है और कड़ी नज़र या शांत धीर एवं क्रुद्ध आवाज़ से भी। आदेश हमें दिशा-निर्देश भी कर देता है। वह कोई भी विरोध बर्दाश्त नहीं करना चाहता। न वह कोई बहस पसंद करता है, न व्याख्या करता है। फ़ौजी अनुशासन में यही है। प्रायः नागरिक जीवन में भी उसी की नक़ल की जाती है। लेकिन किसी आदेश पर किया हुआ काम हमें ऐसा लगता है कि यह हमारा अपना नहीं है, हमसे कराया गया है लेकिन उसका कर्तृत्व हम पर थोपा गया है। वह हमारे अपने अंदर से नहीं बाहर से आया लगता है ...उसकी कठोर अधिक शक्ति या शक्तिवत्ता का अनुभव हमें पग-पग पर होता चलता है।

नये पुराने धर्मों को प्रथम प्रवर्तन या पुनर्जीवन का सहारा आदेश और आज्ञा-पालन से मिलता है। आदेश देने वालों की शक्ति हमेशा बढ़ती ही जाती है। आज्ञा-पालकों की शक्ति कम हो जाती है। हर आदेश में गति, वेग और डंक छिपे रहते हैं, इनाम या नतीजे तो बाद की बातें हैं। आज्ञापालन का डंक हमेशा ही सालता है, पीड़ा देता है और इसे सबसे ज्यादा भोगते हैं बेचारे बच्चे, या पालतू पशु-पक्षी और पराधीन एवं आश्रित व्यक्ति। ऐसा ही होता रहता है—पीढ़ी-दर-पीढ़ी।

आदेश की महाशक्ति भी अब पालतू हो चली है। मौन, वह हमारी एक आदत बन गयी है। आदेशक "अन्नदाता" बन जाते हैं, आज्ञा-पालक "गुलाम"। मनुष्येतर प्राणियों में कुत्ता और उसको खाने देनेवाला स्वामी इसकी मिसालें हैं। आज्ञाकारी आदेश का प्रतिपालन करता है तो आदेशक आज्ञाकारी का। यही सामान्य प्रणाली है, नियम है। अपवादों की बात दूसरी है। यह प्रतिपालन ही आदेशक और आज्ञाकारी के बीच की कड़ी का काम करता है, उन्हें एक-दूसरे से बाँधता है। आदेशक भले ही भूल जाएँ लेकिन आज्ञाकारी आदेश के डंक की पीड़ा कभी नहीं भूलता। बच्चे जब खुद माँ–बाप बनते हैं तो वे भी अपने बच्चों को उसी तरह का डंक मारते हैं जैसा कि कभी उन पर मारा गया था। आज़ादी का एक मतलब यही है कि ऐसे किसी डंक का कभी अनुभव न होना, या न होने देना। माने, आदेश की पीड़ा से हर तरह हमेशा मुक्ति। आज़ाद वही है, जो इस तरह कभी पीड़ित नहीं होता।

आदेश में तीर या बाण जैसी ताक़त होती है। वह वैसा ही लगता है। आदेशक की कमान से छूटते ही वह आज्ञाकारी को वेधता है। वह दोनों में चिंता पैदा करता है, प्रतिपालन न हो तो दोनों परेशान हो सकते हैं। वे आदेश के डंक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



की पीड़ा कभी नहीं भूल या भुलवा सकते। आदेशक यदि उसके ऊपर भी कोई आदेशक न हो तो वह स्वयं ही इतना चिंतातुर हो सकता है कि पागल हो जाय।

एक आदमी को दिये और बहुत-से व्यक्तियों को दिये हुए आदेशों की शक्ति में भी बहुत अंतर होता है। एक और अनेक के पलायन में भी बहुत अंतर है, जैव स्तर पर भी। सबको बचाने की खातिर अनेक लोग प्रायः एक को बलि चढ़ा देते हैं। धर्म के नाम पर जो बलि-प्रथा शुरू हुई उसका मूल यही है। भीड़ में भयाक्रांत होने पर एक प्राणों का स्पंदन महसूस होने की वजह भी यही है कि अनेक एक-साथ भागने पर, या अन्य कोई भी बचाव-कार्य करते वक्त, ऐसी एकात्मता महसूस करते हैं। फिर भी वे अपने समूह की हर इकाई की रक्षा नहीं कर सकते। हिरनों के झुंड पर जब कोई शिकारी जानवर या आदमी हमला करता है या किसी एक दल या देश पर दूसरा दल या देश हमलावर होता है तब ऐसा ही होता है। इसी को "संघ-शक्ति" कहते हैं। यदि यह खूब संगठित होती है तो जमकर मुकाबला करती है, नहीं तो वह पलायन या प्रतिपालन से अपना बचाव करती है। बलि देना प्रतिपालन की ही एक रीति है। धार्मिक बलि उन्हीं देवी-देवताओं को चढ़ायी जाती है जिनसे लोग डरते हैं कि वे हमें नष्ट न कर दें कभी। फौजें कभी भीड़ नहीं बनतीं इसीलिए वे भीड़ों पर मजे से काबू कर लेती हैं। फौजों में आज्ञा का मूल्य ऊपर से नीचे तक एक जैसा होता है। हर आदेशक अपने से ऊपरवाले की आज्ञा पालता है। यह क्रम न रहे तो कोई भी सेना शीघ्र ही अनुशासन-विहीन होकर बिखर जाए। भीड में आदेश की शक्ति ऊपर से नीचे की ओर अपने चारों ओर क्षितिजीय रेखा में फैलती है, खड़ी लकीर की तरह। भीड़ को आदेश का डंक इसीलिए उतना नहीं महसूस होता, जितना कि किसी एक व्यक्ति को...बच्चे स्कूल में शिक्षक की बात जितनी जल्दी मान लेते हैं उतनी जल्दी माँ-बाप, या बड़े भाई, बहन आदि की बात नहीं मानते...भीड़ या दल में आदेश से उतना भय नहीं होता जितना कि अकेले में। सैनिक से समूह में उतना भय नहीं होता जितना कि अकेले में। सैनिक अकेला ही या दूसरों के साथ, जितनी मुस्तैदी से हुक्म की तामील करता है, दूसरा कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता।

सैन्य-शक्ति का इसीसे कोई मुकाबला नहीं, सिवाय दूसरी वैसी ही सैन्य-शक्ति के। दुनिया में इस्लाम ही ऐसा एक मात्र धर्म है जिसमें आदेश की शक्ति सबसे ज्यादा काम करती है, चूंकि उसकी जड़ें "अल्लाहताला" की "इन्शा" में होती हैं, जिस की तामील करने में हर मुस्लिम अपना भला मानता है... किसी भी हाजी से पूछिए कि उसने अपना "वुकूफ" "अराफ़ात" पर कैसे हासिल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



किया, कि वह "इफ़ादा" करके "मौज़दलिफा" कैसे आया और मीना' में उसने कैसे रात बितायी तो आप यह समझ सकेंगे।

अनुशासन भी, जो आदेश की शक्ति से होता है, दो तरह का होता है, एक खुला या प्रकट जो आदेश और आज्ञा पालन से साफ दिखाई देता है। दूसरा, तरक्की से होता है, जो छिपा रहता है। इसे कुछ गिने-चुने लोग ही समझ पाते हैं। सैनिकगण दोनों को जानते हैं। तरक्की होते ही कोई भी खुद "आदेशक" हो जाता है। अनुशासन की आर्थिकी ही अलग है। फौज में इसे शस्त्रास्त्र, रसद, वाहन, जानकारी आदि के नियंत्रण एवं आपूर्ति से समझा जा सकता है। धार्मिक और सांप्रदायिक एवं सांस्थानिक, सरकारी और अन्य अनुशासनों को भी इसी तरह समझा जा सकता है।

आदेश की शक्ति से सिर्फ आदेश को सुनी-अनसुनी बात मानकर ही बचा जा सकता है। नहीं तो दबाव पड़ता ही है। पागलपन में भी आदेश का डंक उतना नहीं व्यापता। पागल के दिमाग में उसके अपने स्नायविक तनावों की ही भीड़ लगी रहती है, इसलिए भी ऐसा ही होता है।

"शतपथ ब्राह्मण" में एक कथा है, जो इस संदर्भ में अवधेय है। अपने पुत्र भृगु ऋषि की सर्वज्ञता का अहंकार तोड़ने के लिए पिता वरुण ने भृगु को चारों दिशाओं की यात्रा करने और लौटकर अपना यात्रावृत्ति सुनाने के लिए कहा। भृगु ने चतुर्दिक्-यात्रा से लौट कर कहा: "कहीं कुछ नहीं है, आपको क्या बताऊँ"।

बाद में बहुत आग्रह करने पर भृगु ने बताया कि पूर्व और दक्षिण में लोग दूसरों को काट-काट कर खा-चबा रहे थे, और एक दूसरे पर चीख-चिल्ला रहे थे। पूछने पर पता चला कि उनके प्रति भी खाये जाने वालों ने पूर्व-जन्म में ऐसा ही बरताव किया था। पश्चिम में खाये जाने वाले चुप थे, खाने वाले भी चुप थे। उत्तर में खाने वाले चिल्ला रहे थे लेकिन खाये जाने वाले चुप थे। सभी अपने पूर्वजन्म के कृत्यों का बदला ले रहे थे। भृगु यह नहीं समझे कि पूर्व-जन्म में कौन क्या था तब वरुण ने उन्हें बताया कि वे क्रमशः मनुष्य, पशु, वनस्पति और जल थे... यही कथा जैमिनीय तथा अन्य ब्राह्मणों में कुछ उलट-फेर से वर्णित है। मनुस्मृति में कहा गया है: मांस खाना स्वाभाविक है किंतु शाकाहारी पुण्यार्जन करते हैं। मांस का अर्थ वहाँ "माम्" (मुझे) "सः" (वह) -इन दो शब्दों के आधार पर ही किया गया है..

उपरोक्त कथा का "सार उपदेश" यह है कि आदमी जिसे इस लोक में खाता है, परलोक में वही उसे खाता है, ठीक उसी तरीके से जैसे कि वह स्वयं, या तो चिल्ल-पों मचाकर, या चुप-चाप ही खाता है। अंततोगत्वा, आदमी अपने डंकों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



से ही शासित होता है··· वह यदि उत्पीड़क को डंक न भी मार सके तो भी कोशिश में तो रहता ही है। वे ही उसके भाग्य को बनाते-बिगाड़ते हैं। आदेशक डंक मारता है, आज्ञाकारी उसकी पीड़ा सहता है। पीड़ा की प्रतिक्रिया भी अनिवार्य होती है; हमेशा ही जो पूर्व पर जन्म मानते हैं, वे उसे दूसरे लोगों तक ले जाते हैं।

हर डंक की अपनी याद होती है जो कभी नष्ट नहीं होती... अच्छे बर्ताव लोग प्रायः भूल जाते हैं, बुरे कभी नहीं भूलते। मौका मिलते ही डंक लगा व्यक्ति डंक मार देता है। भीड़ को आदेश का डंक उतना नहीं लगता जितना कि व्यक्ति को। जल्लाद भी जो हुक्म बजाते हैं वह उन्हें अच्छा कभी नहीं लगता। वे बाध्यता से ही वैसा करते हैं। (भुट्टो को फाँसी देनेवाले का वक्तव्य याद करें)

यह सुविदित है कि आज्ञाकारी लोग ऐसा जघन्य काम कर डालते हैं, जिसे स्वीकारते वे बहुत शर्माते हैं, या झूठ बोलते हैं। वे आज्ञा-कार्य को अपने से किया काम नहीं समझते, इसीलिए उसे करने में वे कभी शर्माते नहीं, उससे अघाते भी नहीं। मूल आदेश जितना अजीब होता है उतना ही उसका छोड़ा हुआ डंक भी, जो कि आदेश की आज्ञाकारिता से उपजा हुआ तन-मन में धंसा रहता है। आदेश सामाजिक जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है जिसे मानव अभी तक जीवन से मिटा नहीं पाया। हम आदेश का अत्याचार जिस हद तक मिटा सकें, उसी हद तक समुन्नत कहे जा सकते हैं...

० ० ०

जहाँ अधिकाधिक शक्ति पुंजित होती है उसी को "महान्" कहा जाता है और महान् के प्रति समादर की भावना आसानी से नहीं छोड़ी जाती क्योंकि आदमी को समाज में पूजनीयों की आवश्यकता सदा ही बनी रहती है।

उत्पादन-वृद्धि की सनक आज की दुनिया का एक विशिष्ट लक्षण है। वैसे समृद्धि तो हमेशा ही जीवन का एक लक्ष्य रही है। पर आज उत्पादन के साथ उपभोक्ता वृद्धि का अनुपात भी जुडा रहता है। हर व्यापार का लक्ष्य आखिर तक यही होता है कि दुनिया उसकी ग्राहक हो। यह भी एक तरह की शक्ति-साधना ही है। सतही तौर पर देखें तो प्रत्येक धर्म या संप्रदाय भी यही चाहता है कि प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का कल्याण उसकी पद्धति द्वारा हो, वह उसी की शरण आये। युद्ध और शांति के समय भी इसमें कोई अंतर नहीं आता .. वास्तव में तो पूँजीवाद और समाजवाद में भी शक्ति की स्पर्धा का ही खेल चल रहा है। वे एक-दूसरे को नष्ट नहीं करना चाहते बल्कि "राष्ट्रीय पूँजीवाद" और "समाज-कल्याण" की वकालत ही करते हैं, व्यक्ति की सर्वांगीण उन्नति सभी चाहते हैं। सिर्फ तरीकों का फरक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



धीरे-धीरे लोग यह भी समझने लगेंगे कि युद्ध में शक्ति और समृद्धि व्यर्थ हो जाती है। भीड़ पर तो खेल तमाशे द्वारा भी काबू हो सकता है। अब तो व्यक्ति-शक्ति भी इतनी बढ़ गयी है कि कोई भी एक असीम शक्तिशाली-सा व्यक्ति ही सारे जगत् के बृहदंश को खत्म कर सकता है। लेकिन फिर भी वह शायद ही मरना चाहेगा। वह तो ईसा की तरह सलीब पर लटका हुआ यही चाहता रहेगा कि वह स्वयं और उसकी शहादती कीर्ति "अमर" हो जायें। शासक लोग अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए सारी तकनीकी ईजादों का फायदा उठाते हैं। उन्हें यह परवाह नहीं होती कि उनसे लोग खतरों के कितने नज़दीक पहुँचते जा रहे हैं। इस तरह ध्वंस-शक्ति बढ़ती जा रही है। लोग आज भी मूलतः उतने ही असंरक्षित हैं जितने कि पहले युगों में थे।

अब तो कोई भी सही या गलत निर्णय और उसे लागू करने में भी बहुत कम समय लगता है। अपनी असीम संभावित शक्तियों की दृष्टि से आज के शासक चिंगिस खान और तेमूर लंग तथा हिटलर जैसे संहारकों को बहुत पीछे छोड़ चुके हैं। वे चाहें तो उनसे भी बड़े संहारक बन सकते हैं। (जैसा कि पिछले विश्वयुद्ध में हुए नागासाकी और हिरोशिमा के नर-संहार एवं आणविक बमों के प्रयोग से और पीढ़ी दर पीढ़ी तक चलती रुग्ण मानवता की अनंत पीड़ाओं से साबित हो रहा है)

आज के विपर्यस्त जीवन ने हमें यह सोचने को भी बाध्य कर दिया है कि आखिर आज का आदमी बड़े जोश-खरोश से अपने को बचाना चाहता है तो भला किसलिए?... क्या उसे वे "अमर सृजनशील क्षण" उतनी ही मात्रा में उपलब्ध हैं जितने कि बीते युगों में थे– कम-से-कम लोग तो "परमानंदमय क्षणों का अनुभव" कर पाते थे।

आज तो कोई भी जगह ऐसी बाकी नहीं बची जो परमसंहारक शस्त्रास्त्रों की मारात्मक पकड़ से बाहर हो। अब आदमी वह पहले का "महान् और अजेय" व्यक्ति नहीं रह गया। शासक अब शासितों की बलि देकर अपने को बहुत ज्यादा वक्त तक नहीं बचा सकते। भविष्य में अगर कभी कोइ प्रलयंकर विश्वयुद्ध हुआ तो शायद ही कोई व्यक्ति बाकी बच पायेगा। नहीं तो सभी इसी धरती की गोद में भाई-बहन के सद्भाव से अपनी अपनी उम्र पूरी कर सकते है...

मूल बात यही है कि, सभी जगह, चाहे वह कोई भी सैन्य-समूह, या राष्ट्र, अथवा समाज एवं संप्रदाय आदि हो, आदेशकों और शासकों की शक्ति का स्त्रोत सदा ही मृत्यु-भय होता है। सभी इससे अभिभूत या संत्रस्त से रहते हैं। वे जब युद्ध शुरू कराते हैं तो यह जानते हैं कि दोनों पक्षों के लोग मरेंगे। शायद वे स्वयं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अपनी रक्षा की खातिर दूसरे लोगों की रक्षा की बढ़ती शक्ति से बहुत डरते हैं। इसीलिए वे अपनी और अपने मातहतों या अधीनों की शक्ति में संतुलन करते रहते हैं। युद्ध होते रहने का यह एक खास राज है। जिसे हमें खूब समझना चाहिए।

हमें अगर आदेशकों और शासकों द्वारा यह मौत बरपा देने की संहारक शक्ति कुंठित करनी है तो उनके डंक मारने की सहज-स्वाभाविक प्रवृत्ति का खुलकर सामना करना होगा और इसे खत्म करना होगा। व्यक्ति और समूह की शक्ति में संतुलन कायम करना ही हमारा अन्यतम लक्ष्य होना चाहिए..... *

१६, डॉ. विल्सन पथ,
बम्बई- ४०० ००६

– पृथ्वीनाथ शास्त्री

## टिप्पणी

* १९८१ के नोबेल पुरस्कार विजेता श्री एलिआव कानेटी की एक अत्यंत प्रसिद्ध पुस्तक से संगृहीत कुछ मनीषी एवं उपयोगी विचारों पर साभार आधारित।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# दर्शन : एक दृष्टिकोण

इस लघु प्रपत्र में दर्शन के बारे में कुछ अलग ढंग से सोचने का प्रयास किया है।

सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि ज्ञान प्रणालीबद्ध करने के कुछ निकष हैं। उन निकषों की कसौटी पर जाँच करने पर जो ज्ञान असली तय हो पायेगा वह और सिर्फ वह ही ज्ञान सार्थकतथा ज्ञान सम्बोधित किया जा सकता है। ऐसा भी माना जाता है कि ज्ञान प्रणालीबद्ध करने के परिमापक निम्नलिखित हैं : संगति, परिपूर्णता, व्यापकता, ऐक्य, सुगमता, नियमितता आदि। इनके सम्बन्ध में ऐसा भी कहा जाता है कि यद्यपि संगति के व्यतिरिक्त अन्य हरेक परिमापक, थोड़ी-सी मात्रा में भी क्यों न हो, सापेक्ष है तो भी संगति एक ऐसा परिमापक है जो किंचित परिमाण में भी सापेक्ष है, ऐसा कदापि नहीं माना जा सकता। इतना ही नहीं ऐसा भी कहा जाता है कि ऐसा न मानना वैचारिक आत्मनाश होगा, चाहे ज्ञान के किसी भी सीमित क्षेत्र में हम सोचते हों। ऐसा होने से एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह यह कि ज्ञान प्रणालीबद्ध करने के इतर परिमामक किंचित् परिमाण में भी क्यों न हो सापेक्ष हैं ऐसा अगर माना जा सकता हो और ऐसा मानने से प्रणालीकरण की प्रक्रिया में कोई महत्वपूर्ण बाधा न उत्पन्न होती हो तो संगति परिमापक के सम्बन्ध में ही इस प्रकार की अनुचित स्थिति क्यों पैदा होती हो ? क्या ऐसा मानना कि संगति, तनिक सी भी क्यों न हो, सापेक्ष है, ज्ञान के प्रणालीकरण में इस प्रकार की बुनियादी बाधा पैदा करेगा कि जिससे ईप्सित प्रणालीकरण ही असम्भव हो जाय ?

आपाततः सोचने से ऐसा दिखायी देता है कि किसी भी क्षेत्र में होनेवाला ज्ञान एक तो संगत है या असंगत है ऐसे दो ही परस्पर व्यावर्तक तथा व्यवच्छेदक पर्याय उसके बारे में सम्भव हो सकते हैं। किसी क्षेत्र में होनेवाला या कहें किसी विषय का ज्ञान किंचित् सा भी असंगत है ऐसा स्वीकार करना उतना ही हास्या-



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्पद होगा जितना कि सगर्भता की प्राथमिक अवस्था में स्थित किसी गर्भवती स्त्री को देखकर वह तनिक सी (ही) गर्भवती है ऐसा कहना। अतः ऐसा भी कहा जाता है कि ज्ञान, कितना भी कम क्यों न हो, असंगत है ऐसा कहना यह सीधा वदनी व्याघात होगा। सामान्यतः ऐसा माना जाता है तो भी यह विचार युक्ति-संगत नहीं दिखायी देता। यदि किसी विचार-क्षेत्र में किंचित् सी और कितनी भी दूरवर्ती असंगति उत्पन्न हुई तो वह दावानल के समान पूरे विचार-क्षेत्र में फैलकर जिस विचार-क्षेत्र में इस प्रकार की असंगति उत्पन्न हुई हो उसे तुरन्त और समूचा भस्मसात् कर देगी ऐसी स्थिति केवल एक क्षेत्र तक ही सीमित दिखायी देती है और वह क्षेत्र तार्किक प्रणाली का है।

लेकिन क्या ऐसी कोई प्रणाली हो ही नहीं सकती कि जो किसी आंतरिक असंगति होनेवाले किसी विचार-क्षेत्र का चित्रीकरण हो ? कम-से-कम इस प्रकार की प्रणाली, चिन्तन के स्तर पर भी क्यों न हो, स्वीकार करने के विरुद्ध कोई निर्णायक तार्किक या शुद्ध वैचारिक अवरोधक नहीं दिखाई देता। अत्याधुनिक तार्किक सिद्धान्तीकरण तक ही अपने विचार की सीमा मर्यादित की तो भी ऐसा मानने वाले तर्क-पण्डितों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ रही है कि यन्त्रवत् और स्वयंचालिततया विसंगति का सार्वत्रिक तथा निःशेष नामशेषीकरण किया जा सके इसकी सम्भावना नहीं दिखायी देती। ऐसी सम्भाव्यता केवल एक ही क्षेत्र के बारे में सुस्पष्टतया दिखायी देती है और वह क्षेत्र है अभिजात तर्कशास्त्र का। तर्कज्ञ ऐसा भी मानने की ओर अग्रसर हो रहे हैं कि हम असंगति प्रधानतः दो प्रकार की है ऐसा स्वीकार कर सकते हैं। एक, सर्वव्यापी या सर्वस्पर्शी असंगति– कि जो विचारघातक होने से इस प्रकार की असंगति से ग्रस्त विचार से कुछ भी निष्पादित हो सकता है– और दूसरी, अल्पविस्तृत या विशिष्ट स्थानीय असंगति। ऐसा भी स्वीकार किया जाता है कि उपर्युक्त दो प्रकार की असंगतियों में से दूसरे प्रकार की असंगति विशिष्ट स्थानीय व्याधि, छोटे से व्यंग के समान होती है और वह विशिष्ट क्षेत्र तक या विशिष्ट विचार-विषय तक ही सीमित रहती है। ऐसा होने से उससे समूची विचारप्रणाली दूषित हो जाने का धोखा पैदा होने का सम्भव नहीं रहता। उक्त विषय के सम्बन्धी ज्ञान इस प्रकार की असंगति से युक्त रहा तो भी केवल इस कारण की वजह से उसकी विश्वसनीयता इतनी कम नहीं हो जाती कि उसे सर्वतः अस्वीकृत ही किया जाय।

इस प्रकार के स्थानीय-व्यंग-सिद्धान्त के आधार पर ऐसा माना जाता है कि संगति भी, किंचित् परिमाण में भी क्यों न हो, सापेक्ष हो सकती है। इसका मतलब यह नहीं कि निरपवादतया संगति इस प्रकार सापेक्ष ही होनी चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



लेकिन इसपर से एक बात तो स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती है और वह यह कि जिस प्रकार ज्ञान प्रणालीबद्ध करने के अन्य परिमापक–उदाहरणार्थ, सुगमता, व्यापकता आदि– सापेक्ष हो सकते हैं उसी प्रकार संगति भी सापेक्ष हो सकती है। याने किसी विचार-क्षेत्र में संगति एक तो निरपवादतया और निरपेक्षतः हो या निःशेष रूप से नहीं हो इसी प्रकार की होनी चाहिये ऐसा सार्वत्रिक और अपवाद विरोधी नियम हम नहीं अपना सकते। वह कम या अधिक भी हो सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि संगति का परिमापक भी अन्य परिमापकों की तरह न्यूनाधिक्य का समावेशक याने सापेक्ष निर्बंधक है। वह एकपक्षीय तथा निरपवाद निर्बंध नहीं है। किसी प्रणाली के ढाँचे में आनेवाले विषय के सम्बन्ध में किये जाने वाले विचार की ओर देखते हुए प्रणालीकरण के अन्य परिमापकों की तरह संगति का निर्बन्ध भी, स्थानीय मर्यादा तक क्यों न हो, थोडासा शिथिल किया जाना या उसकी उपेक्षा करना सम्भव है और ऐसा करना विचार के लिये लाभकारक भी हो सकता है। यह समझना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि असंगति के बारे में दिखायी इस प्रकार की स्थानीय सहिष्णुता हमारे ऊपर ऐसा गंभीर प्रसंग अभिजात तर्कशास्त्र का क्षेत्र छोड़कर अन्य किसी क्षेत्र में निरपवादतया नहीं लायेगी कि उत्पन्न होनेवाली असंगति इतनी घातक और भीषण हो कि जिस प्रणाली में इस प्रकार की असंगति पैदा होने की तनिक भी सम्भावना होगी उस प्रणाली को निर्माण करने का हमारा प्रयास और प्रयोग ही निष्फल तथा अर्थशून्य होने के कारण इस प्रकार की असंगति को टालने के लिये हमें हरकोशिश सतर्क बनने के सिवा और कोई चारा ही न रह जाय। याने स्थानीय असंगति सार्वत्रिक असंगति के समान ही है और वह कर्करोग की तरह हरसम्भव फैल जाने की शक्यता को नकारा नहीं जा सकता इस भयम्मन्यता से ग्रस्त होकर उससे पलायन करने के बजाय उसके प्रति अगर हमने कुछ और कुछ हद सक सहिष्णुता दिखायी तो सामान्यतः जिन प्रश्नों का हम सीधा सामना नहीं कर पाते या जो प्रश्न सुगमता से हल करने का रास्ता भी नहीं देख सकते उनके सम्बन्ध में सोचने का तथा उनका उत्तर खोजने का वैचारिक दृष्टि से अधिक लाभदायक मार्ग हमारे हाथ आ जायगा। उसके आधार पर उन प्रश्नों के प्रति एक नया दृष्टिकोन हम अपना सकेंगे और उसकी सहायता से उन प्रश्नों का कम-से-कम नया तथा उद्बोधक अन्वयार्थ तो लगा सकेंगे। इस प्रकार का लाभ होने को सम्भावना रहने की वजह से इस नये रास्ते से चलने की तैयारी भी हमने दिखायी तो उतना भी कम लाभदायक नहीं होगा।

इस सन्दर्भ में बीसवीं सदी के तीसरी और चौथी दशाब्दी में प्रकाश के स्वरूप के बारे में प्रस्तुत की गयी परिकल्पनाओं की ओर दृष्टिक्षेप किया तो उनमें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



से जनित एक विचार-प्रक्रिया का उल्लेख अन्वर्थक हो सकता है। जब हम प्रकाश-पुंज कणों तथा तरंगों का बना हुआ है ऐसा स्वीकार करते हैं तो क्या हम हमारे मन की एक विशिष्ट तैयारी नहीं करते? क्या इस प्रकार के उदाहरण हमें यह नहीं बताते कि यद्यपि हमने जितना और जितनी सर्वोत्तम रीति से करना चाहिये उतना और उस हद तक विज्ञान का अध्ययन किया तो भी विज्ञान में से निसर्ग तथा नैसर्गिक घटनाओं के सम्बन्ध में हमारे सामने आनेवाली जानकारी सदैव और सर्वथा असंगति से निरपवादतया तथा निःशेषतया मुक्त होनी ही चाहिए इस प्रकार की गारंटी हम नहीं दे सकते? किसी देवता ने हमारे साथ या हमने किसी देवता के साथ ऐसा कोई करार नहीं किया है जिसके आधार पर हम ऐसा स्वीकार कर सकें कि हमारे उत्तरोत्तर विकसित होनेवाले शास्त्रीय या वैज्ञानिक ज्ञान में से विश्व का सर्वस्वी संगत और अनिवार्यतः स्वीकार्य ऐसा एक ही चित्र हमारे सामने किसी भी हालत में प्रस्तुत होगा। इस प्रकार की स्थिति होने की वजह से हमारे किसी विषय के सम्बन्धी विचार में अगर स्थानीय प्रकार की असंगति पैदा हो भी गयी तो उसकी ओर हमें थोड़ी सहिष्णुता से देखना सीखना चाहिए और इस प्रकार की असंगति समूची नष्ट करने के या उससे दूर भागने के प्रयास में पड़ने के बजाय उसके स्वीकार से होनेवाले वैचारिक लाभ भरसक उठाने की ओर प्रयत्नशील रहना चाहिये।

एक बार यह दृष्टिकोण सामान्यतः स्वीकार कर लिया जाय तो उसके साथ यह स्वीकार करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होगा कि इसमें निहित संश्लेषक प्रेरणा इस तरह से क्रियाशील रहेगी कि जिसके अनुसार विभिन्न मतप्रणालियाँ, विचारधाराएँ, मतभिन्नता आदि की ओर परस्पर व्यवच्छेदकता या व्यावर्तकता की दृष्टि से देखने के बजाय उनका एकत्रित विचार किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के आधार पर किसी विषय के सन्दर्भ में या विचार-क्षेत्र में एक और एकमेव सत्य ही होना चाहिये, सभी स्वीकारात्मक / नकारात्मक प्रश्नों का एक और एकमेव उत्तर होगा, किसी प्रश्न से सम्बन्धित विभिन्न, परस्पर विरुद्ध तथापि एकत्रितरीत्या सर्वसमावेशक पर्यायों में से सत्य हमेशा एकमात्र पर्याय की ओर ही झुका हुआ होगा आदि प्रकार के मतप्रवाहों का हम विरोध कर सकेंगे। इस दृष्टिकोण में निहित संश्लेषक प्रेरणा इस मत का निषेध करती है कि किसी विषय के सम्बन्ध में सुस्पष्ट पर्यायों में से सत्य पूर्णतः एक और एकमेव पर्याय का ही एकाधिकार होना चाहिये और ऐसा स्वीकार किये बिना हम किसी विषय के बारे में गम्भीर चिन्तन ही नहीं कर सकते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



ऊपर हमने जो बातें उठायी हैं उनसे हमारा मन्तव्य यह नहीं है कि मानवी जीवन में या विचार-क्षेत्र में ऐसा एक भी प्रश्न नहीं है कि उसने सामने प्रस्तुत किये हुए विभिन्न पर्यायों में से सभी पर्यायों का एकसाथ स्वीकार करने के सिवा अन्य कोई मार्ग ही नहीं होगा। निःसन्देह ऐसे प्रश्न हैं; इतना ही नहीं बल्कि वैसे अनेक प्रश्न हैं जिनके बारे में ऐसा करना सम्भव भी नहीं होगा या अपेक्षित भी। तथापि यह भी ध्यातव्य है कि ऐसे भी कुछ– कांफी– प्रश्न हैं कि जिनके सम्बन्ध में कई बार परस्पर-असंगत भूमिकाएँ प्रस्तुत की जाती हैं और ऐसा होते हुए भी उनमें से केवल एक ही पक्ष सर्वथैव सत्यदर्शी होना चाहिए, और कोई नहीं, ऐसा हम नहीं स्वीकार कर सकते। जिस प्रकार की स्थिति इस प्रकार के प्रश्नों के बारे में सोचते समय उत्पन्न होती है उसकी एक झलक हमें गीता जैसे गहन ग्रन्थ के विभिन्न और शायद एक दूसरे के विरोधी भी परन्तु सुतर्कित तथा स्वागतार्ह अन्वयार्थों की प्रस्तुती में मिलती है। वहाँ यह कहना कि उनमें से अमुक एक और एकमेव अन्वयार्थ सत्यदर्शी है, हमें बहुत ही कष्टसाध्य लगता है।

किसी भी प्रश्न का हल किसी भी एक और एकमेव तरह से ही होना चाहिए इस बात को स्वीकार करना माने 'ईश्वरदृष्टि' का मिथक स्वीकार करने जैसा है। कहा जाता है कि ईश्वर की दृष्टि में किसी भी बात के बारे में या किसी भी प्रश्न के हल के बारे में एक और एकमेव सत्य तथा सुयोग्य प्रकार का पर्याय प्रस्तुत होता है। ऐसा भी कहा जाता है कि हम–आप जैसे सामान्य लोग जिन मतों या दृष्टिकोणों को अपनाते हैं उनमें परस्पर भिन्नता और असामंजस्य जरूर होता है, कभी-कभी परस्पर विरोध भी होता है। लेकिन उनमें होने वाला इस प्रकार का असामंजस्य या परस्पर विरोध पृष्ठस्थ ही होगा, क्योंकि वह हमारी सीमित तथा अपूर्ण अवधारणा से उत्पन्न होता है। याने, इस प्रकार का मतवैचित्र्य हमारी सीमित अवधारणा की ओर से ही सम्भव है, जिसके बारे में वह अवधारण होगा उसकी जटिलता से नहीं। इस प्रकार हमारी अवधारणाओं से विविधांगी और परस्पर व्यावर्तक दृष्टिकोण तथा मतप्रवाह हमारी ज्ञातृ-निष्ठ अपूर्णता के कारण निर्मित होते हैं। ईश्वर के बारे में दूसरे प्रकार की स्थिति पैदा होगी। एक तो उसके लिए इस प्रकार के विभिन्न मतों या दृष्टिकोणों में सामंजस्य ही रहेगा, या सर्वस्वी वैशिष्ट्यपूर्ण और निःशेषतः सत्य इस प्रकार का एकमेव पर्याय ही उसके सामने प्रस्तुत होगा, जिसके जरिये एकाधिक पर्यायों में से कौनसा अधिक वरणशील है इस तरह का सवाल ही उसके सामने प्रस्तुत न होगा। हम-आप जैसे सामान्य लोगों के लिए इस प्रकार का अधिकार तथा सुविधा हमारी अपूर्णता से ही नकारी गयी है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हम जिस दृष्टिकोण के बारे में सोच रहे हैं उसके अनुसार असंगति को ज्ञानशास्त्रीय स्तर पर उठा कर उसको इस प्रकार विध्वस्त नहीं किया जा सकता। सम्भवतः ऐसा भी हो सकता है कि वस्तुतः जगत् इतना विविधांगी, बहुरूपी, पृथगात्म, जटिल एवं पेचीला होगा कि वह ज्ञान की या ज्ञानप्रणाली की विशिष्ट रूपरेखा में निःशेषतया और निश्चयपूर्वक बिठाया जानेवाला ही न हो। अगर इस प्रकार का प्रयास करने वाले विभिन्न प्रयत्न हमारे सामने प्रस्तुत किये गये तो उनमें से एकाधिक पर्याय एकसाथ स्वीकार करने की ओर हमारा झुकाव होना ही नहीं चाहिये इस प्रकार की विचारधारा को हम नहीं अपना सकते।

मध्ययुगीन युरोपीय दर्शन में द्वि-स्तरीय सत्य का एक सिद्धान्त प्रचलित था। वह निश्चित रूप से किसने प्रस्तुत किया था इसका आवश्यक सबूत आज हमारे पास दुर्दैववशात् उपलब्ध नहीं है। तथापि एक दृष्टि से सोचते हुए ऐसा महसूस होता है कि वह सिद्धान्त हम जिस सिद्धान्त की चर्चा कर रहे हैं उसका एक अच्छा उदाहरण है। उस सिद्धान्त के अनुसार किसी विचार-प्रणाली में इस प्रकार के दो परस्पर विरोधी सत्यों का स्वीकार किया जाता है कि जिनमें से एक दर्शनशास्त्रीय विचार के सन्दर्भ में तो दूसरा ईश्वरशास्त्रीय विचार के सन्दर्भ में स्वीकार्यार्ह होता है। ऐसा होते हुए भी उनमें से दोनों प्रकार के सत्य किसी एक विचार-क्षेत्र में समानतया स्वीकार्यार्ह नहीं होते। यह एक ऐसा सिद्धान्त है कि जिस प्रकार सर्वाहंवाद का आज तक किसीने कृतसंकल्प और निर्णायक मण्डन नहीं किया उसी प्रकार इस सिद्धान्त का भी। यद्यपि ऊपर निर्दिष्ट सिद्धान्त सीमित महत्त्व का है, तो भी वह उतना त्याज्य, असम्बद्ध और तिरस्करणीय निश्चित ही नहीं है जितने परिमाण में सामान्यतः दर्शन के इतिहासकारों के हाथ उसे उपहासास्पद दिखाया गया है।

जो विचार हम प्रस्तुत करना चाहते हैं उसकी चर्चा करने के हेतु जितनी पृष्ठभूमि हमने सामने रखी है उतनी पर्याप्त है। उसके आधार पर ऐसा पूछा जा सकता है कि सम्भवतः ऐसा न हो कि मूलभूततः दर्शन का स्वरूप उपरिनिर्दिष्ट स्थिति के समान ही हो ? अगर ऐसा ही हो तो सामान्यतः जो कहा जाता है, कि आज तक इतने सैकडों वर्षों तक तत्त्वचिन्तन किया जाने के बावजूद भी दर्शन के विशिष्ट मौलिक प्रश्न कौनसे हैं या उनमें से कम-से-कम कुछ प्रश्नों का निश्चित उत्तर क्या है इसका कोई निर्णय नहीं हो पाया है और इसलिए ऐसा खेदपूर्वक कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि तत्त्वचिन्तन करनेवाले लोग एक तो अकार्यक्षम हों या तो महामूर्ख– उसका पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है। आगे चलकर ऐसा भी कहा जाता है कि तात्त्विक या दार्शनिक चर्चा की इस प्रकार की फल-निष्पत्ति होती है क्योंकि मूलतः विषय चर्चास्पद है ऐसा स्वीकार कर भी लिया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



तो कम-से-कम जिन प्रश्नों को लेकर चर्चा की जाती है वे प्रश्न ही निरर्थक होने के कारण उनका उत्तर देने के प्रयास में एकवाक्यता पैदा हो ऐसी अपेक्षा करना तो मूर्खता है। कहा जाता है कि किसी भी ओर से इस प्रकार सोचते हुए तात्त्विक चिन्तन का सारा प्रयास ही अर्थशून्य और अपेक्षित फल-रोधक ठहरा तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं।

आपाततः देखने से उपर्युक्त मत कितना भी स्वीकार्य लगता हो तो भी थोड़ा गहराई से सोचते हुए वह युक्तिसंगत नहीं है यह मालूम हो जायगा। जिस प्रकार की स्थिति तात्त्विक चिन्तन में आनेवाले प्रश्नों के सम्बन्ध में पैदा होती है वह विचार करनेवाले व्यक्तियों की अकार्यक्षमता से भी नहीं या पूछे जानेवाले प्रश्न ही अर्थशून्य होने के कारण विचार करने का सारा प्रयास जमीन पर साँप न होते हुए जमीन को ही पीटने जैसा होता है इसके जरिये भी नहीं। इस प्रकार की स्थिति चिन्तन-विषय की अस्वीकार्यता से भी पैदा नहीं होती। शायद ऐसा कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि तात्त्विक चर्चा के क्षेत्र में आने वाले विविध विचार-विषयों का स्वरूप ही मूलतः और आन्तरिकतः इतना पेचीला, जटिल एवं स्थानीय असंगति-सहिष्णु होता हो कि जिसकी वजह से उनमें से किसी एक प्रश्न का उत्तर किसी भी एक और एकमेव पर्याय की भाषा में दिया जाना ही असंभव होगा। और अगर किसीने इस प्रकार का उत्तर देने का प्रयास भी किया तो वह उत्तर सर्वंकष तथा सर्वव्यापी हो ही नहीं सकता। बल्कि, वह दुराग्रही, अपूर्ण और एकमेव-पर्यायी उत्तर होने के कारण अस्वीकार्य भी होता है। इस तरह से सोचते हुए यह प्रतीत होता है कि तात्त्विक चर्चा में सामने प्रस्तुत होनेवाले विभिन्न मत तथा मतांतर परस्पर व्यावर्तक और व्यवच्छेदक होते हैं ऐसा मानने के बजाय वे परस्पर-पूरक, एक दूसरे की त्रुटिपूर्णता को प्रस्तुत करनेवाले होते हैं ऐसा मानना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।

अगर दार्शनिक विषय का स्वरूप ही इस प्रकार का होगा कि जिसके कारण उस विषय की चर्चा करने के प्रयास में निरपवाद, सर्वस्वीकृत और एकमेव पर्यायी विचार-प्रणाली उत्पन्न होना ही असंभव होगा, इतना ही नहीं कि उत्पन्न होने वाले विभिन्न मत-मतांतरों में, स्थानीय प्रकार की भी क्यों न हो, असंगति दिखायी देती हो तो तात्त्विक चर्चा के बारे में ऐसे एक परा-तार्किक दृष्टिकोण का स्वीकार करना सम्भव है कि जिसके आधार पर तात्त्विक चर्चा का सामान्यतः जिस प्रकार का अन्वयार्थ लगाया जाता है उससे भिन्न प्रकार का उसका अन्वयार्थ लगाना अधिक सुयोग्य होगा। हम ऐसा कह सकते हैं कि तात्त्विक या दार्शनिक चर्चा के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



क्षेत्र में आने वाले सभी मूलभूत प्रश्न ही मूलतः इस प्रकार के होते हैं कि उनका एकमेवपर्यायी, एकमार्गी, और विशेषतः संगत उत्तर मिलना ही कष्टप्रद या कहें असंभव होगा; उनके विविधांगी, और कम-से-कम आपाततः परस्पर-असंगत उत्तर मिलते हैं तथा उनमें से कोई भी निश्चित रूप में सत्यदर्शी नहीं होता ऐसा नहीं ! दर्शन विषयक चर्चा में अगर मानव के स्वतः संबंधी या जगत् के संबंधी अनुभव का अन्वयार्थ लगाने का प्रयास किया जाता हो तो ऐसा कहना ही विवादास्पद होगा कि इस प्रकार का प्रयास एकमेव संगत और सर्वमान्य रीति से ही किया जाना चाहिये। कारण, ऐसा कहते समय हम एक तो यह स्वीकार करते हैं कि मानवी अनुभव में परिवर्तन नहीं होता या तो उसके हमारे द्वारा लगाये जाने वाले अन्वयार्थ में। ये दोनों बातें थोड़ी गहराई से सोचते हुए अस्वीकार्य मालूम पड़ती हैं। ऐसा होने की वजह से अगर तात्त्विक विचार किसी गहन ग्रन्थ का अन्वयार्थ विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत करने की तरह बहुविध विचारधाराओं में परिणत हुआ तो उसमें आश्चर्य नहीं। ऐसी स्थिति होने के कारण किसी मौलिक दार्शनिक प्रश्न का एकमेव, एकमार्गी, सर्वथा संगत, सर्वकष एवं सर्वपर्यायसमावेशक उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करना या इस प्रकार का उत्तर कभी-न-कभी हमें मिल पायेगा ऐसी अपेक्षा करना ही मूलतः गलत है। इस प्रकार के प्रयास तथा प्रयत्नों से विविधांगी, बहु-मतप्रवाही, और विभिन्न दृष्टिकोणों को स्थल, काल, परिस्थिति-सापेक्षता से प्रशंसा प्राप्त हो इसी बात में दार्शनिक विचार की बहुप्रसवता निहित है, तथा इस प्रकार की विभिन्न मतप्रणालियों के प्रति, वे आपस में एक दूसरे से थोड़े अधिक परिमाण में असंगत होते हुए भी, हम सहिष्णुता का मार्ग अपनायें इस विचारधारा को संगति की आवश्यकता के एकमेव आधार पर विरोध करने के प्रस्ताव के बारे में थोड़ी अधिक गहराई से सोचने की आवश्यकता है।

इस दृष्टिकोण से कितने लोग और कितने परिमाण में सहमत हो पाते हैं यह एक गौण प्रश्न है। वैसे वे सहमत होते हैं या नहीं यह भी उतना ही एक गौण प्रश्न है। क्योंकि सभी लोगों की सहमति किसी दार्शनिक प्रणाली की स्वीकार्यता का एकमेव या सब से महत्त्वपूर्ण निकष नहीं है। इसलिये कम-से-कम यह तो मानना ही पड़ता है कि यह दृष्टिकोण तर्कतः केवल सम्भवनीय है इतना ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



नहीं उसे स्वीकार करने में कोई गंभीर आपत्ति भी नहीं दिखायी देती। इसे स्वीकार करने से उसके आधार पर तात्त्विक चर्चा का, दार्शनिक प्रश्नों और उन्हें दिये जानेवाले उत्तरों का एक नवीनतम पद्धति से अन्वयार्थ प्रस्तुत करने का स्वागतयोग्य मार्ग अपने हाथ आ सकता है जिससे उनकी परस्पर असंगति की जगह उनकी परस्पर संपूरकता हमारे सामने प्रस्तुत की जा सके। यही उसका सराहनीय तथा प्रशंसार्ह पक्ष है और इसलिए वह किसी को नहीं अच्छा लगता इस आधार पर खास ही तिरस्करणीय और त्याज्य नहीं रहता। *

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे

– मो प्र. मराठे

## टिप्पणी

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २८ वे वार्षिक अधिवेशन में 'तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति' विभाग का अध्यक्षीय भाषण।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# काश्मीर शैव दर्शन में अशुभ की समस्या

यह निर्विवाद है कि सृष्टि में अशुभ की उपस्थिति है। यह अशुभ प्रधानतया दो प्रकार का है- एक दुःख (Suffering) और दूसरा नैतिक अशुभ अथवा पाप (Sin)। यह दीखता ही है कि संसार में प्राणी नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं।[1] साथ ही यह भी दीखता है कि मनुष्य अपनी ओर से दूसरे प्राणियों को दुःख देता है अथवा दूसरे शब्दों में पाप करता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि सृष्टि में यह अशुभ कैसे और क्यों है? अशुभ की समुचित व्याख्या (Explanation) क्या है? प्रकृतिवादी या स्वभाववादी (Naturalist) इस विषय में यह कह दे सकता है कि दुःख-सुख, पाप-पुण्य दोनों ही प्राकृतिक स्वभाववश ही होते हैं। दोनों का बीज प्रकृति में ही है। अतः अशुभ क्यों है, इसकी अलग से व्याख्या खोजने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जो दर्शन ईश्वरवादी हैं उनमें यह समस्या बहुत ही गम्भीर रूप में सामने आती है। ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है अतः वह सृष्टि में अशुभ की उपस्थिति को अच्छी तरह जानता है। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर असमर्थ हो, वह सर्वशक्तिमान् है, सृष्टि से अशुभ को हटाना चाहे तो हटा सकता है। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर सर्वज्ञ और शक्तिमान् है किन्तु वह दुष्ट (Satanic) है जो अशुभ को सृष्टि में रहने देना चाहता है। ईश्वर को शिव रूप (Good) माना गया है। अतः यह प्रश्न अति गम्भीर रूप में सामने आता है कि ऐसे ईश्वर के होते हुए सृष्टि में अशुभ क्यों है? काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से तो यह समस्या और भी गम्भीर हो जायेगी क्योंकि काश्मीर शैव शास्त्र ईश्वरवादी होने के साथ-साथ लीलावादी भी है। यदि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और शुभ (शिव) रूप ईश्वर ने लीला के लिए आनन्द से सृष्टि की है तो सृष्टि में अशुभ कहाँ से आया?

काश्मीर शैव शास्त्र में अशुभ की समस्या (Problem of Evil) पर कहीं स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा गया है। अशुभ-समस्या की व्याख्या काश्मीर शैव शास्त्र के दार्शनिक संरचना के आधार पर ही की जा सकती है। किन्तु इसका



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



यह अर्थ नहीं है कि काश्मीर शैव शास्त्र के दार्शनिकों के मन में इस समस्या की व्याख्या स्पष्ट नहीं थी; सत्य यह है कि काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि से अशुभ की पूर्ण व्याख्या सम्भव है और दार्शनिकों के मन में यह स्पष्ट था और साथ ही उन्होंने जगह-जगह इसका संकेत भी किया है। किन्तु कमी यह है कि कहीं भी इस विषय पर अलग से स्पष्ट विवेचन नहीं किया गया है। अतः यहाँ जो अशुभ की समस्या की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है वह काश्मीर शैव शास्त्र की सामान्य दार्शनिक संरचना पर ही आधारित है, यदि इसके लिए स्पष्ट उद्धरण खोजे जाएँ तो उसका अभाव रहेगा।

काश्मीर शैव शास्त्र में अशुभ का स्पष्ट विवेचन न होने के कारण अशुभ की समस्या को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इसकी व्याख्या में कुछ लोग प्रायः यही कहते हैं कि पाप-पुण्य जैसी कोई चीज नहीं है क्योंकि जिसे हम पाप-पुण्य से अभिहित करते हैं, वह भी शिव की लीला है। काश्मीर शैव दर्शन स्पष्टतः जगत् को शिव का लीलाविलास मानता ही है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि यदि पाप-पुण्य, सुख-दुःख नहीं है तो बन्धन और मोक्ष की कल्पना भी व्यर्थ है तथा मोक्ष के लिए बताये गये उपाय आदि की कोई उपयोगिता नहीं है। यदि पाप भी शिव की लीला है तो व्यक्ति पुण्य की ओर अभिमुख न होकर पाप ही करेंगे क्योंकि ऐसी स्थिति में उन्हें कोई नैतिक बाध्यता (Moral obligation) नहीं होगी।

किन्तु उपर्युक्त अवधारणाएँ भ्रान्तिमूलक हैं। संसार में जो दुःख है उसका कारण मनुष्य का ही किया गया पाप कर्म है जिससे कर्मसिद्धान्त माना गया है जो काश्मीर शैव दर्शन को भी पूरी तरह ग्राह्य है। दूसरे शब्दों में, हम दुःख इसलिए पाते हैं कि हम ने पाप किया है। यहाँ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि कर्म-नियम के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी आवश्यक रूप से लगा है और यह भी काश्मीर शैव शास्त्र को पूरी तरह मान्य है। हम जो इस जन्म में दुःख पाते हैं वह आवश्यक नहीं है कि इसी जन्म के किये गये हमारे कर्मों का फल हो, वरन् वह पिछले जन्मों के भी किये गये कर्मों का फल हो सकता है।

कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कर्म-सिद्धान्त यान्त्रिक (Machanical) नहीं है बल्कि उद्देश्यमूलक (Purposive) है। कर्म का फल उसी तरह यान्त्रिक रूप से नहीं मिलता है जिस प्रकार अग्नि में हाथ डालने से हाथ जलता है; वरन् कर्म का फल एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिलता है, वह है जीव का सुधार या आत्म-शुद्धि। भगवान् ने मनुष्य को सही रास्ते पर लाने के लिए ही कर्म-सिद्धान्त की व्यवस्था की है। इसीसे यह बात भी निकलती है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



यदि कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य पूरा हो जाय अर्थात् हम पश्चात्ताप करके अपने को सुधार लें और भले बन जाय तो हमारे पुराने कर्म माफ भी हो जा सकते हैं। इसमें कर्म-सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं है क्योंकि जब हमारा सुधार हो जाता है तो कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य पूरा हो जाता है और तब दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

काश्मीर शैव दर्शन की ओर से जो अशुभ की समस्या का समाधान दिया जाता है वह वही है जो प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में दिया गया है, वह है कर्मवाद का सिद्धान्त। काश्मीर शैव शास्त्र भी कर्म-सिद्धान्त को पूर्णतया मानता है। यदि इस विषय में इस दर्शन की कोई अपनी विशेषता कही जा सकती है तो वह मनुष्य के इच्छा स्वातन्त्र्य (Freedom of will) पर विशेष आग्रह। जो लोग कर्म-सिद्धान्त मानते हैं वे लोग इच्छा-स्वातंत्र्य भी मानते हैं क्योंकि बिना इच्छा-स्वातंत्र्य माने कर्म की जिम्मेदारी जीव पर नहीं होगी। काश्मीर शैव शास्त्र इस इच्छा-स्वातंत्र्य पर विशेष रूप से बल देता है। वह जीव को अणु (Mini Siva) मानता है और यह मानता है कि शिव अपने पूर्ण स्वातंत्र्य में बृहद् रूप से जो करता है वह अणु शिव या जीव भी छोटे दायरे में करता ही है।[२] जीव में भी शिव की तरह इच्छा-स्वातंत्र्य है, अन्तर इतना है कि शिव का इच्छा-स्वातन्त्र्य असीम है जबकि जीव का इच्छा-स्वातन्त्र्य सीमित दायरे में है। सीमित दायरे में ही सही किन्तु इच्छा-स्वातन्त्र्य जीव में तो है ही और इसीलिए वह भला या बुरा कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है एवं अपने कर्म की जिम्मेदारी भी उसीपर है।

कुछ लोग यह मानते हैं और शास्त्र में भी ऐसा कह दिया गया है कि शिव ही जीव से कर्म कराता है; जीव अज्ञानवश अपने को कर्ता समझता है, वास्तविक कर्ता भगवान् है। यदि इस कथन को सीधे अर्थ में लिया जाय तो कठिनाई उपस्थित होगी। यदि ईश्वर ही व्यक्ति से कर्म कराता है तो पाप के लिए जिम्मेदार भी ईश्वर ही होगा। ऐसी स्थिति में जीव के लिए अशुभ की कोई समस्या ही उत्पन्न नहीं होती क्योंकि तब पाप को भी ईश्वर का ही कर्म कहेंगे। कर्म-सिद्धान्त का भी तब कोई अर्थ नहीं रह जाता; यह उपचार मात्र ही रह जायेगा। कर्म-सिद्धान्त का मूल्य तभी रह सकता है जब यह माना जाय कि कर्म के लिए जिम्मेदार ईश्वर नहीं बल्कि जीव है।

किन्तु परमेश्वर ही व्यक्ति से कर्म कराता है का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति कर्म करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इसका अर्थ यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है कि व्यक्ति जिस शक्ति से कर्म करता है वह परमेश्वर की ही शक्ति है अथवा परमेश्वर प्रदत्त ही है; अहंकारवश हम उस शक्ति को अपनी शक्ति समझ लेते हैं। जीव तत्त्वतः शिव ही है इसीलिए कहा जाता है कि परमेश्वर ही कर्म करता है। किन्तु परमेश्वर कर्म नहीं करता। यदि कर्म परमेश्वर द्वारा संपादित मान लिया जाय तो शिव में अपूर्णता आ जायेगी। शिव कर्म नहीं करता बल्कि क्रिया करता है जो स्पन्द है। जिस पर पाप-पुण्य निर्भर है वह कर्म शिव का स्पन्द नहीं है। कर्म जीव करता है जो तत्त्वतः शिव है किन्तु अवस्था में शिव नहीं है। कर्म को शिव से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता (क्योंकि कर्म अपूर्णता के द्योतक हैं) अतः यही मान्य होना चाहिए कि कर्म जीव करता है तथा अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य से करता है। जीव शिव की ही क्रियाशक्ति (जो उसे सीमित रूप में प्राप्त है) से कर्म करता है किन्तु जब वह अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य का गलत प्रयोग (Misuse) करता है तो वह पापोन्मुख होता है।

यह जो कहा गया है कि शिव ही जीव से कर्म कराता है अथवा वास्तविक कर्ता शिव ही है, इसके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि सारी कर्म-शक्ति शिव की है जीव की या अहंकार की नहीं। जब शक्ति शिव की ही है तो वास्तविक कर्ता शिव को ही कहा जायेगा, किन्तु कर्म की जिम्मेदारी शिव पर नहीं होगी क्योंकि उस शक्ति को गलत या सही उपयोग करने की जिम्मेदारी जीव पर है। उदाहरण के लिये कोई पुत्र जो भी खर्च करता है वह सारा पैसा पिता देता है अतः यह कहा जा सकता है कि वास्तविक खर्च तो पिता ही कर रहा है किन्तु पिता केवल पैसा देता है, उस पैसे को कैसे खर्च करना है इसकी जिम्मेदारी पुत्र पर है। उसी प्रकार जीव जो कर्म करता है उसकी सारी शक्ति परमात्मा से आती है। अतः इस अर्थ में परमात्मा ही वास्तविक कर्ता हुआ किन्तु उस शक्ति का सदुपयोग (पुण्य) या दुरुपयोग (पाप) करना जीव पर निर्भर है। इसलिये पाप-पुण्य भगवान् नहीं कराता; वह स्वयं जीव करता है।

भगवान् जीव से कर्म कराता है, इसका अर्थ अगर यह समझा जाय कि वह जीव को कर्म करने के लिये प्रेरणा देता है तो इस अर्थ को सीमित क्षेत्र में ही लागू करना उचित होगा। पाप कराने के अर्थ में इस कथन को लागू नहीं करेंगे क्योंकि शिव कभी भी पाप करने की प्रेरणा नहीं देता; पाप स्वयं जीव अपनी मर्जी से करता है। भगवान् कर्म करने की प्रेरणा देता है इसको दो अर्थों में लागू किया जा सकता है। एक तो यह कि जहाँ जीव के पूर्व-कर्म के फल-भोग के लिए परिस्थिति पैदा करना हो वहाँ ईश्वर कर्म करने के लिए प्रेरणा दे सकता है।[१]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



दूसरे, जहाँ ईश्वर को विश्व कल्याण के लिए कार्य कराना हो वहाँ भी वह जीव को निमित्त बना कर कर्म करा देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शिव कर्म कराता है' इसका प्रधान अर्थ यही है कि कर्म-शक्ति शिव की है जीव की नहीं। शिव कर्म कराता है इसका सीधा अर्थ केवल दो परिस्थितियों में लागू करेंगे जहाँ या तो जीव को कर्म फल प्रदान करने के लिए परिस्थिति उत्पन्न करना हो अथवा जहाँ जीव को निमित्त बनाकर विश्व कल्याण कराना हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाप ईश्वर नहीं कराता वरन् जीव ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का अपनी स्वेच्छा से दुरुपयोग करता है, यही पाप है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर जब जानता है कि जीव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है तो जीव में स्वतन्त्र इच्छा क्यों रहने देता है? उदाहरण के लिए किसी बच्चे के हाथ में हथियार दे दिया जाय और यह सम्भावना हो कि वह उसका दुरुपयोग कर सकता है तो ऐसी अवस्था में यही उचित होगा कि या तो बच्चे के हाथ में हथियार ही न दिया जाय अथवा उस हथियार का उपयोग करने की स्वतन्त्र इच्छा को बच्चे में न रहने दिया जाय। इसका उत्तर यह है कि शिव ने जीव को जो अपनी शक्ति दी है वह इसलिए नहीं कि जीव उसका दुरुपयोग करे बल्कि इसलिए कि उसका सदुपयोग कर सृष्टि कार्य में उसका सहयोग करे। शिव यह कभी नहीं चाहता कि जीव उसकी शक्तियों का दुरुपयोग करे अर्थात् पाप करे लेकिन वह यह भी नहीं चाहता कि जीव जबर्दस्ती उसकी मर्जी के अनुसार चले। शिव यदि चाहे तो जीव की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति न रहे और जीव को पूर्णतः ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलना पड़े किन्तु ऐसी अवस्था में जीव स्वतन्त्र नहीं रहेगा; वह यन्त्र-मानव (Robot) से अधिक कुछ नहीं होगा। फिर सृष्टि शुद्ध यान्त्रिक हो जायेगी। फिर सृष्टि लीला अथवा आनन्द रूप नहीं रह जायेगी। शिव यह चाहता तो है कि जीव उसके रास्ते पर चले किन्तु वह यह चाहता है कि जीव अपनी स्वतन्त्र-इच्छा से ऐसा करे। यदि जीव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से न चल कर जबर्दस्ती शिवेच्छा के अनुसार चले तो इसमें न तो जीव का ही वास्तविक कल्याण है और न ही शिव के लिए आनन्द है। जीव का वास्तविक कल्याण इसी में है कि वह अपनी स्वतन्त्रेच्छा से भलाई का मार्ग चुने अर्थात् शिवेच्छा को स्वीकार करे। इसी में शिव की भी लीला या आनन्द है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उपर्युक्त कारण से ही शिव जीव की स्वतन्त्र-इच्छा में दखल नहीं देता। हां, वह नाना प्रकार के उपाय–शास्त्र, गुरु, अन्तःप्रेरणा आदि द्वारा यह प्रयत्न करता है कि जीव भलाई की ओर स्वतन्त्रता-पूर्वक आये। जीव यदि ऐसा न करके बुराई का मार्ग अपनाता है तो वह उसे दण्ड भी देता है। यह सब इसीलिए करता है कि जीव यह समझ सके कि सत्य मार्ग चलने में ही कल्याण है और उस पर चलने के लिए स्वतन्त्रता से राजी हो।

अशुभ की समस्या के सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है वह यह कि भारतीय दर्शनों में प्रायः सब जगह कहा गया है (काश्मीर शैव शास्त्र भी कहता है) कि दुःख का वास्तविक कारण अज्ञान है। अज्ञान ही के कारण मनुष्य गलती भी करता है, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया गया है कि मनुष्य जिस अनादि अज्ञान से आवृत्त होकर पाप करता है और दुःख पाता है, वह स्वयं जीव की रचना नहीं है, वह या तो जीव पर अपने आप निर्भर है अथवा उसे परमात्मा ने दिया है। बात यहाँ आई कि बुराई अज्ञान के कारण होती है और अज्ञान के लिए स्वयं जीव जिम्मेदार नहीं होता। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जब जीव अज्ञान के लिए जिम्मेदार नहीं है तो उसे पाप के लिए जिम्मेदार कैसे ठहराया जा सकता है ? यदि अज्ञान शिव ने दिया है तो पाप की जिम्मेदारी भी शिव पर होगी। जीव को तो हम उसी चीज के लिए जिम्मेदार ठहरा सकते हैं जिसका कारण स्वयं जीव हो।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि यह तो सत्य है कि बिना अज्ञान के कोई पाप नहीं करेगा किन्तु यह भी सत्य है कि अज्ञान पाप का आवश्यक कारण (necessary condition) होते हुए भी वह पाप का पर्याप्त कारण (Sufficient condition) नहीं है। उदाहरण के लिए आग धुयें का आवश्यक कारण है, बिना आग के धुआँ उत्पन्न हो नहीं सकता किन्तु साथ ही यह सत्य है कि आग स्वयं अपने आप में धुआँ पैदा नहीं कर सकती। धुआँ पैदा होने के लिए आग में लकड़ी का गीलापन आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, आग धुएँ के लिए आवश्यक कारण होते हुए भी पर्याप्त कारण नहीं है; पर्याप्त कारण तब होगा जब लक़ड़ी का गीलापन मिल जायेगा अतः धुयें का कारण आग को नहीं कहा जा सकता बल्कि लक़ड़ी के गीलेपन को ही कहा जायेगा। इसी प्रकार मात्र अज्ञान पाप का कारण नहीं कहा जा सकता। यदि मात्र अज्ञान ही पाप कारण होता तो सभी अज्ञानी व्यक्ति पाप क्यों नहीं करते ? ऐसा क्यों होता कि अज्ञानी व्यक्तियों में कुछ लोग पाप करते हैं तथा कुछ लोग पुण्य करते हैं। इस विभेद का वास्तविक कारण यही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



है कि पाप-पुण्य अज्ञान के कारण नहीं बल्कि कर्ता की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के कारण होता है। कर्ता ही यह निर्णय करता है कि हम उचित पथ पर चलें अथवा अनुचित। अतः पाप-पुण्य की जिम्मेदारी कर्ता पर ही है अज्ञान पर नहीं।

शिव ने जो अज्ञान दिया है वह तो लीला अथवा आनन्द के लिए है। हम अपने अनुभव में भी देख सकते हैं कि अज्ञान के साथ यदि स्वतन्त्रेच्छा का दुरुपयोग न मिलाया जाय तो केवल अज्ञान से कोई कष्ट नहीं होता। इसका सबसे बड़ा उदाहरण बच्चा है। बच्चा में शुद्ध अज्ञान है। स्वतन्त्रेच्छाकृत पाप उसमें अभी नहीं मिला है। इसलिए बच्चा प्रसन्न रहता है। बच्चा अज्ञान में होते हुए भी पापरहित (Innocent) होता है। यदि भगवान् ने अज्ञान लीला लिए बनाया और उसमें गड़बड़ी हम अपनी स्वतन्त्र मर्जी से करते हैं तो इसमें भगवान् का क्या दोष है? दृष्टान्त के लिए विज्ञान में बिजली का आविष्कार है जिससे संसार के महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य संचालित होते है किन्तु मानवीय प्रमादवश कहीं बिजली खतरे का कारण बनती है तो इसमें बिजली अथवा बिजली बनाने वाले का क्या दोष है?

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि अशुभ की समस्या का सन्तोष-जनक समाधान है। अशुभ की समस्या देखने में अवश्य ही दुरूह मालूम पड़ती है और यह निर्णय दे देना स्वाभाविक है कि अशुभ की समस्या का कोई समाधान नहीं है अथवा अशुभ के लिए शिव ही जिम्मेदार है। किन्तु यह उतावलेपन में किया गया निर्णय (Hasty judgement) ही कहा जा सकता है। अशुभ की समस्या पर यदि गम्भीरता एवं सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो हम शीघ्रता में यह निर्णय नहीं दे देंगे कि अशुभ की समस्या का कोई समाधान नहीं है अथवा इसके लिए शिव ही जिम्मेदार है। उपर्युक्त विश्लेषण में यह जो दिखाया गया है कि अशुभ जीव की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से आता है, परमात्मा उसके लिए जिम्मेदार नहीं है– इस अवधारणा की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

२७, दीनदयाल नगर कालोनी
नवाब गंज, दुर्गा कुण्ड
वाराणसी–१

– कैलासपति मिश्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## टिप्पणियाँ

१. भगवान् बुद्ध ने दुःख की समस्या को बहुत ठीक से पकड़ा था, उन्होंने अपने चार आर्य सत्यों में दुःख को पहला आर्य सत्य कहा है।

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

३. इसी अर्थ में दुर्गा सप्तशती में कहा गया है कि भगवती ज्ञानियों के भी चित्त को जबर्दस्ती प्रभावित कर उन्हें मोहित कर देती है।

महामाया हरेश्चैषा तथा संमोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्॥

प्रथमोऽध्यायः ५५–५६

४. उपर्युक्त बात शैव-सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म की मान्यता से बिल्कुल मिलती है। वहाँ भी यह मान्यता है कि भगवान् जीव की स्वतन्त्र इच्छा में दखल न देते हुए नाना प्रकार के उपाय करता है और प्रतीक्षा करता है कि भटका हुआ जीव अपने रास्ते पर आ जाय। ईसाई धर्म में दुष्ट व्यक्ति के सत्य मार्ग पर लौट आने (Return of the prodigal son) का बहुत ही महत्त्व है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# मिथक का अर्थ

मानव संस्कृति आदि काल से ही स्वयं को अनेक माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त करती आई है और मिथक कदाचित् सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का प्राचीनतम माध्यम है।

मिथक किसी भी सांस्कृतिक संरचना का एक अभिन्न अंग है और इसीलिए उसका स्वरूप कभी भी संस्कृति-निरपेक्ष नहीं हो सकता। हम ऐसे किसी भी मिथक की कल्पना नहीं कर सकते जो किसी-न-किसी संस्कृति से जुड़ा हुआ न हो। मिथक के अर्थ को उसकी संस्कृति से अलग करके कभी नहीं समझा जा सकता। मिथक को उसके सांस्कृतिक सन्दर्भ में रखने के बाद ही हम उसके स्वरूप और उसकी संरचना को समझ पाने में समर्थ हो पाते हैं। ऐसे कई उदाहरण मिल जावेंगे जब नए सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप पुराने मिथकों की पुनर्सृष्टि की गई है। ऐसे उदाहरणों में हम मौलिक मिथक और संशोधित मिथक में अन्तर कर पाते हैं और तब यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि मिथक किस प्रकार सदैव अपनी सांस्कृतिक चेतना से जुड़ा रहता है। यदि हम मिथक को उसकी संस्कृति से पृथक् कर दें तो शायद वह एक कपोल-कल्पित कथा मात्र रह जाएगा। तब उसके अर्थ को पकड़ पाने में हम पूर्णतः असफल रहेंगे। यही कारण है कि दो भिन्न संस्कृतियों वाले मिथकों में कदाचित् कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं ढूंढा जा सकता। मिथक का अर्थ मानो उसकी सांस्कृतिक संरचना में ही निहित होता है।

'मिथक' शब्द हिन्दी में अंग्रेजी 'मिथ' का रूपान्तरण है। 'मिथ' शब्द यूनानी पद 'मिथोस' से अंग्रेजी में आया है जिसका अर्थ भाषा अथवा कथा से है। सर्वप्रथम यह शब्द यूनानी संस्कृति की प्रागैतिहासिक कथाओं के लिए ही प्रयोग में लाया गया था। 'मिथोलोजी' ऐसी ही कथाओं के संग्रह और अध्ययन का शास्त्र है। मूलतः मिथक, इस प्रकार, एक ऐसी परम्परागत कथा है जिसका मन्तव्य सांस्कृतिक मूल्यों को सम्प्रेषित करना है। इस अर्थ में मिथक नीतिकथाओं



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



और किंवदन्तियों दोनों से ही भिन्न है। नीतिकथाएँ मूलतः शिक्षाप्रद कहानियाँ हैं जो हमें व्यवहारगत सीख देती हैं, और किंवदन्तियाँ ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों के इर्द-गिर्द बुनी हुई कहानियाँ हैं। मिथक न तो आवश्यक रूप से कोई शिक्षाप्रद कहानी है और न ही ऐतिहासिक यथार्थ पर आधारित कोई आख्यान है। वह अनिवार्यतः एक ऐसी कथा है जो अपने समय के **सांस्कृतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करता है** किन्तु यह अभिव्यक्ति अपरोक्ष न होकर प्रायः **प्रतीकात्मक और लाक्षणिक** होती है। मिथक, इस प्रकार, सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतीकात्मक स्तर पर रूपायित करते हैं।

अपनी प्रतीकात्मक और लाक्षणिक विधा के कारण मिथक का अर्थ प्रायः समझ पाना कठिन हो जाता है और इसीलिए उसकी अनेक प्रकार की व्याख्याएँ सम्भव हो पाती हैं। कोई विद्वान् उसकी आध्यात्मिक व्याख्या करता है तो कोई सामाजिक। कोई उसे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से देखता है तो कोई मनोविश्लेषणात्मक। मिथक बहुत कुछ स्वप्न के समान होता है जिसके व्यक्त और अव्यक्त विषय में भेद करना आवश्यक है। जिस प्रकार व्यक्त रूप से सभी स्वप्न भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु अव्यक्त रूप से वे सभी व्यक्ति की विविध इच्छाओं को अभिव्यक्त करते हैं, उसी प्रकार मिथक भी हैं। कथाओं की विविधता होते हुए भी सभी **मिथकों का प्रेरक एक ही है– समय के सांस्कृतिक मूल्य।**

मिथक क्योंकि सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति प्रत्यक्षतः नहीं करते इसलिए उनका **अतिकाल्पनिक** होना भी आवश्यक है। यहाँ हम पुनः मिथकों की तुलना स्वप्न से कर सकते हैं। स्वप्न और मिथक दोनों का ही सृजन कल्पना द्वारा होता है। अंग्रेज़ी में 'मिथ' का अर्थ 'मिथ्या' से भी है। मिथक इस प्रकार कपोलकल्पित कथाओं के रूप में भी पहिचाने गए हैं। किन्तु मिथकों को एक विशेष अर्थ में ही कपोल-कल्पित कहा जा सकता है। मिथकीय कल्पना मिथ्या न होकर सांस्कृतिक 'सत्य' पर आधारित होती है और सांस्कृतिक सत्य, जैसा कि स्पष्ट है, सांस्कृतिक मूल्यों में ही निहित होता है। स्पष्ट ही मिथक तथ्यात्मक यथार्थ पर आधारित नहीं होते– और केवल इसी अर्थ में वे कपोलकल्पित हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे असत्य हैं। वस्तुतः **सत्यासत्य के पैमाने पर उन्हें नापा ही नहीं जा सकता।** उन्हें सामान्य, साधारण अर्थ में सत्य या मिथ्या नहीं कहा जा सकता। उन्हें, यदि विज्ञान की भाषा का उपयोग करें, सत्यापित नहीं किया जा सकता क्योंकि उनका सन्दर्भ तथ्यात्मक जगत् से न होकर मूल्यगत जगत् से है। और जिस हद तक मिथक मूल्यों से सन्दर्भित हैं, उन्हें मिथ्या की कोटि में नहीं रख सकते। किन्तु सत्य की कोटि भी उनके लिए अनुपयुक्त है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मूल्य, जिनकी प्रच्छन्न अभिव्यक्ति मिथक करते हैं, केवल मूल्यवान् हो सकते है, माननीय हो सकते हैं, मिथ्या या सत्य नहीं हो सकते ।

मिथकीय कल्पना सुविचारित और तार्किक नहीं होती । वह व्याघात के नियम का उल्लंघन कर सकती है । वहाँ भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों ही, साथ-साथ रह सकते हैं । वहाँ सुख और दुःख की अनुभूतियाँ घुलमिल जाती हैं । वहाँ तर्क का पूर्णतः अभाव है । मिथकीय कल्पना तर्क का संक्रमण कर जाती है और मिथक इस प्रकार तर्कातीत और कालातीत हो जाता है । मिथक को इसीलिए प्राक्तन तर्क कहा गया है । मिथकीय तर्क, तर्कबुद्धि से कहीं अधिक पुराना है । यह वह तर्क है जहाँ अभी अवधारणाओं और कोटियों का विकास नहीं हुआ है । जहाँ भौतिक और अभौतिक, मानवी और दैवी, कल्पना और यथार्थ, भूत और भविष्य, व्यावहारिक और पारमार्थिक का सुस्पष्ट भेद नहीं हुआ है ।

मिथक प्रायः परम्परागत होते हैं । वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी याद रखे जाते हैं । उनका उद्गम ऐतिहासिक काल में ढूंढना प्रायः सम्भव नहीं होता । अधिकांशतः वे प्रागैतिहासिक हैं । किन्तु बहुत से मिथक ऐतिहासिकता के अन्तर्गत भी हैं । वस्तुतः उनकी ऐतिहासिकता या प्रागैतिहासिकता इस बात पर निर्भर करती है कि वे किस संस्कृति से सम्बद्ध हैं । प्रागैतिहासिक संस्कृतियों से सम्बद्ध मिथक स्पष्टतः प्रागैतिहासिक ही होंगे । किन्तु जब हम मिथकों के पुरातनत्व पर बल दे रहे होते हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक संस्कृति के अपने अलग मिथक हैं और उन्हें किसी भी दशा में पौराणिक नहीं कहा जा सकता ।

मिथक के बारे में केवल इतना जान लेना कि वह मोटे तौर पर से सांस्कृतिक मूल्यों को प्रच्छन्न रूप से अभिव्यक्ति देने वाली एक काल्पनिक, अतर्कसंगत और प्राचीन कथा है, उसकी वास्तविक अर्थक्रिया को जान पाने के लिए काफी नहीं है । वस्तुतः 'मिथक क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर दिया जाना लगभग असम्भव है क्योंकि यह प्रश्न मिथक के बारे में हमें पीछे मुड़ कर देखने के लिए बाध्य करता है । मिथक एक सांस्कृतिक कथा है; मिथक एक काल्पनिक कथा है; मिथक एक तर्कातीत कथा है; मिथक एक पौराणिक कथा है– आदि सारी बातें मिथक के बारे में हमें केवल इतना ही बताती हैं कि मिथक की सृष्टि किस प्रकार हुई है । ये सभी कथन मिथक के इतिहास से सम्बन्धित हैं और मिथक की बाह्य शरीर-रचना पर प्रकाश डालते हैं । मिथक के अर्थ को उसके इतिहास में ढूंढना अकादमिक दृष्टि से हो सकता है शायद उपयोगी हो, किन्तु प्रासंगिकता की दृष्टि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



से मिथक की अर्थक्रिया को जानना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है। अतः मिथक क्या है ? इस प्रश्न की अपेक्षा यदि हम यह पूछें, 'मिथक क्या करता है ?' तो अधिक सार्थक होगा। यह प्रश्न पश्चगामी न होकर अग्रवर्ती प्रश्न होगा जो मिथक की वर्तमान प्रासंगिकता को रेखांकित कर उसके प्रयोजन पर, उसकी क्रिया और उपयोगिता पर प्रकाश डालेगा। मिथक को उसकी वर्तमान सक्रियता में जानने के लिए यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है। यह प्रश्न मिथक को एक सांस्कृतिक उपकरण की तरह देखता है। मिथक इस दृष्टि से मूलतः एक हथियार, या औज़ार है जिसे एक सांस्कृतिक साधन के रूप में जाना जा सकता है।

मिथक के प्रयोजन को कई परिप्रेक्ष्यों में देखा जा सकता है। इसका सन्दर्भ जहाँ इतिहास और राजनीति से हो सकता है, वहीं कला और साहित्य से भी हो सकता है। किन्तु मिथक की शक्ति और उसके कार्य को सर्वाधिक समग्र रूप से सांस्कृतिक सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है मिथक अनिवार्यतः एक सांस्कृतिक कथा है और इस नाते वह व्यक्त या अव्यक्त रूप से सांस्कृतिक मूल्यों का वाहक है। सांस्कृतिक मूल्यों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रमुख रूप से मिथकों द्वारा ही पहुँचाया जाता है। मिथक इस प्रकार सांस्कृतिक मूल्यों के सम्प्रेषण का एक माध्यम है। राजनीति शास्त्र में मिथक के अर्थ से, अनेक आधुनिक विचारकों ने, कथा तत्त्व को यद्यपि समाप्त कर दिया है तथापि उसे सांस्कृतिक मूल्यों के वाहक के रूप में पूर्णतः सुरक्षित रखा है। उदाहरण के लिए जब प्रजातन्त्र को एक मिथ की तरह रूपायित किया जा है तो इसका अर्थ यही है कि प्रजातन्त्र की धारणा किन्हीं विशेष सांस्कृतिक मूल्यों की, जिन्हें तथ्यात्मक रूप से सत्यापित नहीं किया जा सकता, द्योतक, है। मिथक सत्य और मिथ्या के सन्दर्भों से पूर्णतः मुक्त है और प्रजातन्त्र भी एक ऐसी ही धारणा है जिसका सन्दर्भ किन्हीं आदर्शों और मूल्यों से है। इन्हें तथ्यों की तरह सच या झूठ नहीं कहा जा सकता। अतः वे सभी धारणाएँ, जो मूल्यों की वाहक हैं, मिथक हैं।

किन्तु मिथक का उद्देश्य केवल सांस्कृतिक मूल्यों को सम्प्रेषित करना ही नहीं है। मिथक सांस्कृति अस्मिता की पहचान ही नहीं करवाते वरन् उसे सुरक्षित भी रखते हैं। मिथक सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षक हैं। युगों-युगों से संस्कृतियों की पहचान उनके मिथकों से होती रही है और इस प्रकार अनेक संस्कृतियाँ मानव स्मृति में सुरक्षित रह सकी हैं। मिथकों के अभाव में कई संस्कृतियाँ न केवल अपने आपमें बल्कि मानव स्मृति में भी पूर्णतः समाप्त हो गई होती। वस्तुतः

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मनुष्य मिथकों के दुहराने में अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को पुनः पुनः जन्म देता है और उसे नष्ट हो जाने से बार-बार रोकता है।

संस्कृति एक परम्परागत संवृत्ति है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सांस्कृतिक परिवर्तन होते ही नहीं। वस्तुतः युगीन आवश्यकताओं के अनुसार सांस्कृतिक मूल्यों में कुछ मूल्य अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं और कुछ अन्य मूल्य धुँधले पड़ जाते हैं। इसी प्रक्रिया के समानान्तर मिथक भी युगीन आवश्यकतानुसार महत्त्व-पूर्ण और अमहत्त्वपूर्ण होते रहते हैं। वे मूल्य जो किसी विशेष युग में आग्रहशील हो जाते हैं, उनको अभिव्यक्ति देने वाले मिथक भी महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं और वे पुनर्स्थापित हो जाते हैं। मिथक इस प्रकार सांस्कृतिक निरन्तरता के संरक्षक भी हैं।

मिथक, जहाँ एक ओर, सांस्कृतिक निरंतरता का संरक्षक है, वहीं दूसरी ओर वह मनुष्य की सर्जनात्मक चेतना का निर्देशक भी है। मनुष्य का सर्जनात्मक जीवन सांस्कृतिक अनुभवों के प्रभाव क्षेत्र से बाहर नहीं होता। यही कारण है कि मनुष्य सभी सर्जनात्मक कलाओं में –विशेषकर कविता और साहित्य में– मिथकों को नए अर्थ देकर बार-बार प्रस्तुत करता है और इस प्रकार अपनी संस्कृति के संरक्षण के साथ-साथ उसे अधिक संपन्न और सृजनात्मक बनाता है। रामकथा की प्रत्येक युग में अलग-अलग तरह से सृष्टि की गई है। वाल्मीकी द्वारा प्रस्तुत रामायण ठीक उन्हीं मूल्यों पर बल नहीं देती जिन पर तुलसीकृत रामचरित मानस का आग्रह है। इसी प्रकार मैथिली शरण गुप्त का साकेत और निराला की राम की शक्ति पूजा भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक मूल्यों को रेखांकित करती हैं। किन्तु सबसे ही मिथक एक ही है और वही सभी उदाहरणों में सर्जनात्मक चेतना का निर्देशक है।

संस्कृति का वाहक, संरक्षक और निर्देशक होने के नाते मिथक विज्ञान का आलोचक भी है। विज्ञान का प्रमुख कार्य प्राकृतिक घटनाओं और व्यवहार का तथ्यात्मक अध्ययन है। किंतु मिथक इस बात पर ज़ोर देता है कि वास्तविकता केवल प्राकृतिक और तथ्यात्मक नहीं होती। तथ्यों के संसार से अलग, किंतु उससे आवश्यक रूप से संबंधित, एक संसार मूल्यों और आदर्शों का भी है जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मानवी संदर्भ में उतना ही महत्वपूर्ण है जितना तथ्यात्मक जगत् है। कल्पना और मूल्यों का यह संसार, जिसको सृष्टि मिथक करते हैं, व्यक्ति के चिंतन और व्यवहार को एक रहस्यमय किंतु अत्यन्त शक्तिशाली रूप से प्रभावित करता है। इसके प्रभाव को वैज्ञानिक और तर्कीय विद्या से समझा नहीं जा सकता। किन्तु इस कारण मिथकों के महत्त्व का, उनकी शक्ति का, अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। मिथक, मनुष्य की उस परिभाषा को, जो उसे केवल एक विचारवान् प्राणी के रूप में प्रस्तुत करती है, खंडित करता है और उसके स्थान पर मनुष्य को एक सांस्कृतिक प्राणी, जिसकी चिंता तथ्य का संसार न होकर मूल्यों का संसार है, के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

प्रिन्सिपल्स हाउस
गवर्नमेण्ट कोलेज
जोरा– ४५७ २२६

– सुरेन्द्र वर्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# स्वभाववाद एवं उसका विश्लेषण

अनादि काल से ही भारतवर्ष के सभी दार्शनिक सिद्धान्त अपने-अपने परिप्रेक्ष्म में सृष्टि का कारण खोजने का प्रयत्न करते रहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रारम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में कुछ मूलभूत प्रश्न उठाए गए हैं एवं स्वभाव को सृष्टि का कारण बतलाया गया है। इस उपनिषद् के प्रथम अध्याय पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि इस उपनिषद् के निर्माण के समय जितने भी मत सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित थे, उन सभी मतों की ओर यहाँ संकेत किया गया है। ये मत हैं : कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद एवं पुरुषवाद। यहाँ स्वभाववाद पर सभी दार्शनिक दृष्टियों से विचार किया जाएगा।

सर्वप्रथम हम स्वभाववाद पर बौद्ध दृष्टि से विचार करते हैं। यह सर्वविदित है कि बौद्ध-दर्शन में सभी पदार्थों को शून्यता से जोड़ा गया है एवं सभी पदार्थ शून्य में आकर विलीन हो जाते हैं। इसी शून्यता के सिद्धान्त को मानकर बौद्धों का कहना है कि वस्तुओं का अपना कोई स्वभाव नहीं होता। मध्यमकशास्त्र [1] में नागार्जुन का कहना है कि स्वभाव उत्पन्न नहीं होता; हम यदि यह मानें कि प्रत्येक पदार्थ का एक स्वभाव होता है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि विभिन्न कारण तत्त्वों से स्वभाव की उत्पत्ति होती है परन्तु स्वभाव वास्तव में प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनुत्पन्न होता है। नागार्जुन [2] स्वभाव, परभाव, भाव एवं अभाव का यह कहकर परित्याग करते हैं कि जो लोग बुद्ध के शासन में स्वभाव, परभाव, भाव एवं अभाव का दर्शन करते हैं वे तत्त्व को नहीं जानते हैं। चन्द्रकीर्ति के अनुसार स्वभाव का प्रयोग बौद्ध-दर्शन में दो अर्थों में किया गया है।

१. प्रथम अर्थ में स्वभाव का प्रयोग किसी वस्तु के सार के रूप में किया गया है, उदाहरण के लिए जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है। इसकी व्याख्या करते हुए उनका कहना है कि यहाँ जो धर्म जिस पदार्थ का व्यभिचार नहीं करता है उसको उसका स्वभाव माना गया है। [3]



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



२. दूसरे अर्थ में परभाव के विपरीत रूप में स्वभाव का प्रयोग अपने भाव के रूप, अर्थात् किसी वस्तु का आत्मीय रूप। ४

बौद्धदर्शन में सभी वस्तुओं के स्वभावत्व का परित्याग किया गया है और यह कहा गया है कि किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं होती है। चन्द्रकीर्ति का कथन है, "हम किसी ऐसे स्वभाव को नहीं मानते जो कृत्रिम एवं परसापेक्ष है।" ५ यहाँ भौतिक अर्थ में स्वभाव को स्वीकार किया गया है क्योंकि वस्तु का तथाकथित स्वभाव या सार कृत्रिम एवं परसापेक्ष होता है। उदाहरण के लिए अग्नि का स्वभाव उष्णता, माचिस, शीशा, ईंधन या दो लकड़ियों के संघर्षण जैसे अनेक तत्त्वों पर निर्भर करता है। सही अर्थ में यह स्वभाव नहीं है। वास्तविक रूप में स्वभाव परम तत्त्व है जब कि सभी पदार्थ सापेक्ष एवं पराश्रित होने के कारण परभाव हैं। स्वभाव की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति कहते हैं, "जो धर्मों की धर्मता है वही उनका स्वरूप है। धर्मों की यह धर्मता क्या है? धर्मों का स्वभाव। यह स्वभाव क्या है? प्रकृति। यह प्रकृति क्या है? यह जो शून्यता है वही प्रकृति है। यही नैःस्वभाव्य है। नैःस्वभाव्य क्या है? तथता नैःस्वाभाव्य है। तथता क्या है? इस प्रकार (पदार्थों का) अभाव एवं अविकारित्व की स्थापना हो गई है। जो सर्वथा अनुत्पाद ही रहता है, जैसे अग्नि आदि। परनिरपेक्ष एवं अकृत्रिम होने के कारण अग्नि का स्वभाव होता है।" ६

विग्रहव्यावर्तनी में भी सभी भावों की परिणति नैःस्वाभाव्य में मानी गई है तथा उनको शून्यता के रूप में स्वीकार किया गया है। ७ विग्रहव्यावर्तनी का कथन है कि यदि कोई स्वभाव है भी तो वह धर्मों का नहीं होता इसलिए वह जो बिना धर्मों का स्वभाव है उसका उपदेश देना उपयुक्त है। ८

आचार्य धर्मकीर्ति नामक एक अन्य बौद्ध दार्शनिक ने स्वभाव को न्याय से जोड़ने का प्रयत्न किया है। निगमनात्मक न्याय के हेतु वे स्वभाव को कारण के साथ जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। न्यायबिन्दु में वे कहते हैं, "जिस साध्य की विद्यमानता हेतु की अपनी सत्ता की ही अपेक्षा करती है, हेतुसत्ता व्यतिरिक्त किसी हेतु की अपेक्षा नहीं करती, उस साध्य में जो हेतु हैं, वह स्वभाव है।

उदाहरण—

यह वृक्ष है (साध्य)।
क्योंकि यह यह शिंशपा है (हेतु)।" ९

इसका अर्थ यह है कि इसके लिए वृक्ष शब्द का व्यवहार हो सकता है; क्योंकि इसके लिए शिंशपा का व्यवहार हो सकता है। अब यदि किसी मूढ़ पुरुष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



को जो शिंशपा का व्यवहार नहीं जानता और ऐसे देश में रहता है जहाँ प्रचुर शिंशपा है, उसे कोई व्यक्ति एक ऊँचा शिंशपा दिखलाकर बताए कि यह वृक्ष है तो यह जड़ पुरुष समझेगा कि शिंशपा का उच्चत्व वृक्ष-व्यवहार में निमित्त है। इसलिए एक छोटा शिंशपा देखकर वह समझेगा कि यह वृक्ष नहीं है। इस मूढ़ को बताना चाहिए कि प्रत्येक शिंशपा के लिए वृक्ष का व्यवहार होता है। उच्चत्वादि वृक्ष व्यवहार के निमित्त नहीं है। किन्तु केवल शिंशपात्व मात्र निमित्त है।

अब हम स्वभाव पर न्याय-दर्शन की दृष्टि से विचार करेंगे। न्यायकुसुमांजली में उदयनाचार्य का स्वभाव के विषय में कथन है, "जो सभी (वस्तुओं) का भाव है। अतः सभी के स्वभाव के कारण एक होता हुआ सबका स्वभाव नहीं बन सकता।" [१०] वर्धमान नामक एक टीकाकार ने इस पर अपनी टिप्पणी करते हुए कहा है, "यदि एक नियत धर्म को स्वभाव कहा जाय, और वह यदि सब में संभव हो तो स्वभावत्व का आसाधारणत्व ही नहीं सिद्ध होगा।" [११] यहाँ इस प्रसंग में वर्धमान द्वारा की गई व्याख्या इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह एक नियत धर्म को ही स्वभाव के रूप में स्वीकार करती है और यह एक नियत धर्म सभी वस्तुओं या पदार्थों में संभव नहीं हो सकती है। इस संदर्भ में एक अन्य टीकाकार वरदराज का मत है, "कार्य का कारण की अपेक्षा करना, अर्थात् वह उसके रहते हुए ही होता है, क्योंकि अग्नि आदि के रहने पर ही धूएँ आदि भी होते हैं, यदि वह स्वभाव है तो हमें ऐसा स्वभाव इष्ट है।" [१२] एक ओर जबकि मध्यमकवादी नैःस्वभाववाद का प्रचार कर रहे थे तो नैयायिक लोग यह उद्घोष कर रहे थे प्रत्येक पदार्थ का एक स्वभाव होता है एवं स्वभाव का दुरतिक्रमण नहीं किया जा सकता है। [१३]

यदि हम स्वभाव पर सांख्य दर्शन की दृष्टि से विचार करें तो उनका मत है कि किसी भी पदार्थ के स्वभाव को नष्ट नहीं किया जा सकता। किसी भी वस्तु के स्वभाव को हटाया नहीं जा सकता। वस्तु का स्वभाव उसका अपना रूप है अपनी आत्मा है। स्वभाव को हटाने से वस्तु के स्वरूप का ही अस्तित्व न रहेगा। [१४] उष्णता अग्नि का स्वभाव है। यदि उष्णता न रहे तो व्यवहार में अग्नि का अग्नित्व नहीं रहता। ऐसी स्थिति में यदि बन्धन आत्मा का स्वभाव है तो उसे हटाया नहीं जा सकता। तब उसके लिए जो उपदेश होगा वह अप्रामाणिक होगा, क्योंकि उसका अनुष्ठान करना सर्वथा व्यर्थ होगा। वह उपदेश केवल कथन रहेगा, उसे प्रयोग अथवा व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, उसका कोई भी फल संभव नहीं। इसलिए यदि आत्मा स्वभाव से बद्ध माना जाता है तो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उसके मोक्ष के लिए शास्त्र का आरंभ सर्वथा व्यर्थ होगा। [१५] इस संदर्भ में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय का मत है कि प्राचीन सांख्य-वादियों को तो स्वभाववाद मान्य था परन्तु परवर्ती सांख्य-वादियों ने स्वभाव का नितान्त परित्याग कर दिया और उन्होंने आगे चलकर इस मत की स्थापना की कि प्रकृति में जो भी परिवर्तन होते हैं उन सबके लिए पुरुष ही जिम्मेदार है। [१६]

जैन दर्शन में भी स्वभाव पर पर्याप्त विचार हुआ है। आचार्य श्री मल्लवादी द्वारा रचित द्वादशांग नयचक्र नामक ग्रन्थ में स्वभाव पर विस्तार से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ पर श्री सिंहसूरि द्वारा रचित न्यायागमानुसारिणी नामक एक बृहद् टीका भी उपलब्ध है। द्वादशांग नयचक्र नामक ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि इसके लेखक पर व्याकरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यहाँ यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है कि जो पुरुष आदि होते हैं वही उनका भाव है और वे उसको अपने स्वत्व के रूप में अनुभव करते हैं; अतः स्वभाव वह है जिसमें सब कुछ घटित होता अपने आप में होता है। [१७] साथ-साथ इस पुरुष को व्याकरण के पुरुष के समान किसी भी क्रिया के सम्पादन में स्वतन्त्र रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ पुरुष के स्वतन्त्र स्वरूप पर विशेष बल दिया गया है। एक अन्य उदाहरण द्वारा पुरुष एवं ओदन आदि में अन्तर दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। पुरुष स्वतन्त्र रूप में कार्य का सम्मादन करता है जैसे ओदन आदि नहीं करते। इनके मत के अनुसार पुरुष का स्वत्व स्वभाव द्वारा उत्पन्न होता है, अन्यथा सभी वस्तुएँ वे नहीं होंगी जो वे हैं, अर्थात् घट पट नहीं हो सकता एवं पट घट नहीं हो सकता। [१८] इस मत के अनन्तर द्वादशांग नयचक्र नामक ग्रन्थ में स्वभाव के विषय में एक अन्य स्थापना भी की गई है। इस मत के अनुसार रूपान्तरण परिवर्तन ही स्वभाव है। इसके अनुसार उत्पत्ति, विनाश एवं विपरिणाम यही स्वभाव की क्रमिक अवस्थाएँ हैं। सभी वस्तुएँ अपने आप विनष्ट होती हैं एवं उनमें विपरिणाम होता है। स्वत्व ही स्वभाव है जैसे जीव अजीव नहीं हो सकता तथा अजीव जीव नहीं हो सकता। जीव एवं अजीव को स्वतन्त्र सत्ता है। इस मत के अनुसार यदि स्वभाववाद का सिद्धान्त कार्य नहीं करता है तो उत्पत्ति, विनाश एवं विपरिणाम संभव ही नहीं होंगे। इस प्रकार अनादि काल से प्रवृत्त होने वाले स्वभाव में यदि व्यत्यय हो जाए तो हित की प्राप्ति के लिए एवं अहित के परिहार के लिए अस्वभाव के कारण शास्त्र व्यर्थ होगा एवं पुरुष की सभी क्रियाओं के फल भी व्यर्थ होंगे। यदि इस सिद्धान्त में किसी भी प्रकार व्यत्यय हो तो जिस घट के संदर्भ में उप्पत्ति, विनाश एवं विपरिणाम प्रवृत्त होते हैं उसी संदर्भ में पट की उत्पत्ति होगी और इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के दो स्वरूप जीव एवं अजीव के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



समान होते हैं तथा उसका अपना स्वत्व ही द्विधा विद्यमान रहता है। वही भाव उसकी आत्मा है और वही स्वभाव है। १९

अन्य दार्शनिक संप्रदायों के समान महाभारत के शान्तिपर्व में भी स्वभाव पर चर्चा हुई है। दार्शनिक संप्रदायों में और विशेष रूप से न्यायदर्शन में स्वभाव का संबंध कार्यकारण भाव से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ तक महाभारत में स्वभाव की चर्चा का प्रश्न है यहाँ स्वभाव में एक नया आयाम जोड़ा गया है। महाभारत में कहा गया है; "यत्न करने वाले पुरुषों के सन्दर्भ भी अनिष्ट की निवृत्ति एवं प्रिय की प्राप्ति नहीं देखी जाती है, अतः पुरुषार्थ निष्फल है। इसके विपरीत कुछ लोगों के संदर्भ में विना प्रयत्न के अनिष्ट से मुक्ति एवं इष्ट की संवृत्ति देखी गई है तथा यह सब स्वभाव से ही होता है।" २० इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संसार में सब कुछ स्वभाव से ही घटित होता है एवं पुरुषार्थ बिल्कुल व्यर्थ है।

महाभारत में स्वभाववाद में एक नया आयाम जोड़कर यह सिद्ध कर दिया है कि पुरुषार्थ बिल्कुल निरर्थक है तथा स्वभाव एक प्रकार की बाह्य शक्ति ही है जिसके द्वारा सब कुछ स्वतः संचालित होता रहता है तथा मनुष्य का उस पर कोई भी नियंत्रण नहीं है। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि महाभारत के इस प्रकार के स्वभाववाद ने ही परवर्ती भौतिकवादियों के नियतिवाद के लिए एक प्रकार की पृष्ठभूमि तैयार की थी। २१

जहाँ तक स्वभाववाद के व्यापक विश्लेषण का प्रश्न है हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिकवादियों ने भी इसमें बड़ा भारी योगदान किया है। इनके अनुसार कोई भी परिवर्तन आध्यात्मिक सिद्धान्त द्वारा घटित नहीं होता है परन्तु इनका कथन है कि स्वभाव के कारण ही परिवर्तन घटित होता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि महाभारत में वर्णित पुरुषार्थ की निष्फलता का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। इसके साथ-साथ इन भौतिकवादियों की आत्मा के सिद्धान्त में भी कोई आस्था नहीं थी और इस भौतिक जगत् में किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिए इन्होंने स्वभाव का सिद्धान्त निकाल लिया। मक्खलि गोसाल इन भौतिकवादियों के नेता थे, जिन्होंने विकास के लिए स्वभाव के साथ नियति एवं संगति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मक्खलि गोसाल तात्कालिक रूप में प्रचलित परम्परावादी ब्राह्मणवाद से नितान्त असंतुष्ट थे। मक्खलि गोसाल ने स्पष्ट रूप में घोषणा की, "पुरुषार्थ नहीं है, बल नहीं है, सारी सत्ता, सभी प्राण, सभी भूत, सभी जीव, पराधीन एवं बलहीन होकर नियति, संगति एवं भाव द्वारा परिणत होते हैं और अपनी-अपनी जातियों में सुख दुःख का अनुभव करते हैं।" २२ इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



संदर्भ में आचार्य ए. एल. बाशम का कथन है कि यहाँ भाव शब्द का प्रयोग स्वभाव के पर्याय के रूप में हुआ है। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि इन भौतिकवादियों ने स्वभाववाद को नियतिवाद की कोटि में पहुँचा दिया था।[२३] कुछ जैन आचार्यों का भी यही अभिमत है कि यह संसार स्वभाव द्वारा ही संचालित होता है। उनका कथन है– काँटों की तीक्ष्णता को कौन बनाता है, और मृग तथा पक्षियों की विचित्रता का कौन निर्माण करता है ? यह सब स्वभाव द्वारा होता है। स्वेच्छा से कुछ भी नहीं होता है अतः प्रयत्न व्यर्थ है।[२४] इस प्रकार के कथनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वभाववादी एवं नियतिवादी कम-से-कम एक सिद्धान्त पर एकमत थे कि पुरुषार्थ व्यर्थ है।

जैसा लेख के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत योनि एवं पुरुष को सृष्टि के कारण के रूप में स्वीकार करता है। यहाँ हमारा संबंध केवल स्वभाव से ही है। इस उपनिषद् पर शंकराचार्य के अतिरिक्त अन्य पाँच टीकाकारों की टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। प्रस्तुत संदर्भ में सभी अर्थों पर एक दृष्टिपात करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। सर्वप्रथम शंकराचार्य को ही लें। उनका कहना है कि पदार्थों की जो नियत शक्ति है वही स्वभाव है, जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है।[२५] शंकरानन्द नामक टीकाकार का कथन है कि पदार्थ का अपना असाधारण क्रियाकारित्व ही स्वभाव है जैसे अग्नि का जलाना एवं जल का नीचे की ओर बहना।[२६] नारायण नामक अन्य टीकाकार की मान्यता है कि लोकायत में स्वीकृत वस्तुधर्म ही स्वभाव है। विज्ञान भगवान् एवं श्रीरंग रामानुज नामक अन्य दो टीकाकार भी स्वभाव का अर्थ करते समय लोकायत सिद्धान्त से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

## निष्कर्ष

अब तक हमने स्वभाववाद पर विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों से विचार किया। इस विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वभाव के मूलतः दो लक्षण या आयाम रहे हैं। इसका पहला लक्षण इसे कार्यकारणभाव से जोड़ता है। दूसरा लक्षण पदार्थों की सामान्य प्रकृति से संबद्ध है। इस कार्यकारणभाव पर न्याय-सिद्धान्त ने काफी बल दिया है और जहाँ तक पदार्थों की प्रकृति या उनके स्वभाव का प्रश्न है इन दोनों पर सभी दर्शनों में बल दिया गया है। बौद्ध आचार्यों ने स्वभाववाद के सिद्धान्त को शून्यता या तथता के साथ जोड़ दिया। जैन आचार्यों की दृष्टि में उत्पत्ति, विपरिणाम एवं विनाश ही स्वभाव है। इस स्वभाववाद में पुरुषार्थ की निष्फलता की भावना महाभारत द्वारा जोड़ दी गई। परन्तु दार्शनिक मक्खलि गोसाल ने पुरुषार्थ की निष्फलता से प्रभावित होकर स्वभाव को नियति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



से जोड़ दिया तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में अन्य दर्शनों की भाँति स्वभाव को काल, नियति, यदृच्छा, भूत एवं पुरुष के साथ सृष्टि का का कारण मान लिया।

– तुलसीराम शर्मा

संस्कृत विभाग
श्री गुरु तेग बहादुर खालसा कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली– ११० ००७

## टिप्पणियाँ

१. (i) हेतुप्रत्ययसंभूतः स्वभावो कृतको भवेत्। मध्यमकशास्त्र १५.१।

(ii) अकृत्रिमः स्वभावो हि निरपेक्षः परत्र च ॥ वहीं १५.२।

२. स्वभावं परभावं च भावं चाभावमेव च।
ये पश्यन्ति न पश्यन्ति ते तत्त्वं बुद्धशासने ॥ वहीं १५.६।

३. इह यो धर्मो यं पदार्थं न व्यभिचरति, स तस्य स्वभाव इति व्यपदिष्यति, अपरिबद्धात्। प्रसन्नपदा, पृ. १०५।

४. स्वो भावः स्वभावः इत्यस्य पदार्थस्य यदात्मीयं रूपं तत् यस्य स्वभाव इति। प्रसन्नपदा। पृ. ११५।

५. कृत्रिमस्य परसापेक्षस्य च स्वभावत्वं नेष्टम्।

६. या सा धर्माणां धर्मता नाम, सैव तत्स्वरूपम्। अथ केयं धर्माणां धर्मता ? धर्माणां स्वभावः। कोऽयं स्वभावः ? प्रकृतिः। का चेयं प्रकृतिः ? येयं शून्यता। नैःस्वाभाव्यम्। किमिदं नैःस्वभाव्यम् ? तथता। केयं तथता ? तथाभावोऽविकारित्वं सदैव स्थापिता। सर्वथानुत्पाद एव ह्यन्यादीनां परनिरपेक्षत्वादकृत्रिमत्वात् स्वभाव इत्युच्यते। मध्यमकशास्त्र १५.२ पर चन्द्रकीर्ति।

७. यस्मादत्र स्वभावो नास्ति तस्मान्निस्वभावोऽङ्कुरः। यस्मान्निःस्वभावः तस्मात् शून्यः। यथा चायमङ्कुरो निःस्वभावो निःस्वभावाच्च शून्यः तथा सर्वभावा निःस्वभावा निस्वभावाच्छून्या इति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



८. अथ विद्यते स्वभावः स च धर्माणां न विद्यते तस्मात् ।
धर्मैर्विना स्वभावः स यस्यास्ति तत् युक्तमुपदेष्टुम् । विग्रहव्यावर्तनी १० ।

९. स्वभाव : स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः । न्यायबिन्दुः ।

१०. सर्वस्य भावतः स्वभावत्वानुपपत्तेः न ह्यैकम् अनेकस्वभाव नाम व्याघातः । न्यायकुसुमाञ्जली ।

११. एक नियतो धर्मो स्वभाव इत्युच्यते तद् यद् सर्वस्य संभवेत् तदा स्वभावत्वम् असाधारणत्वं नोपपद्यते । न्यायकुसुमाञ्जली, प्रकाश पृ. ५९ ।

१२. इदमेव हि कार्यस्य कारणापेक्षित्वं नाम यत् तस्मिन् सत्येव भवतीति नियमातिरिक्तौपकारो नाङ्गीक्रियते तर्हि स्वभावत्वात् एव सिद्धः स्यात् ..... दहनादिषु सत्स्वैव धूमादयो भवन्तीदृशः स्वभावश्चेत् स अस्माभिरेव इष्ट एव । बोधिनी, न्यायकुसुमाञ्जली पृ. ५७ ।

१३. स्वभावो दुरतिक्रमः । न्यायकुसुमांजली १.७ ।

१४. स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणप्रामाण्यम् । सांख्यसूत्र १.८ ।

१५. न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः । सांख्यसूत्र १.७ ।

१६. देवीप्रसाद चट्टोयाध्यायः लोकायत ए स्टडी इन् एनशीयण्ट इंडियन् मेटिरिलियज्म, पृ. ४५२, दिल्ली, १९६८

१७. यत्-पुरुषादयो भवन्ति स तेषां भावः तैर्भूयते यथा स्वम् । तथा च स्वभावे सर्वस्य भवनात्मनि भवति । द्वादशांग नयचक्रम् । पृ. २१९ भावनगर, १९६६ ।

१८. तेषामपि हि स्वत्वं स्वभावापादितमेव, अन्यथा च ते त एव न स्युरनात्मत्वात् घटपटवत् । द्वादशांग नयचक्रम्, पृ. २२० ।

१९. एवं च तत्रानादिप्रवृत्तस्वभावविपर्ययेण यद्युत्पत्तिर्विनाशो विपरिणामो वा ततोऽनादि प्रवृत्तस्वभावव्यत्यासे हिताहितप्राणिपरिहारार्थशास्त्रव्यर्थता पुरुषस्य क्रियायाः फलस्य च तथाऽस्वभावत्वात् । अन्यथोत्पादविनाशविपरिणामत्रयो घटार्थं प्रवृतेषु तत्पट उत्पद्यते तद्विनाशार्थे प्रवृतेष्वविनाशो विपरिणामार्थं प्रवृत्तेष्वापरिणामश्च । अतः शास्त्रार्थवत्वाय वरमिदं कारणं स्व एव भावः द्विधा प्रतिवस्तु जीवाजीववदवस्थितः, योऽस्ति स भावः य आत्मा स भाव स्वभावः । द्वादशांग नयचक्रम् । पृ. २२८ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



२०. अनिष्टस्य हि निर्वृत्तिरनिवृत्ति प्रियस्य च ।
लक्ष्यते यतमानानां पुरुषार्थः ततः कुतः ॥
अनिष्टस्याभिनिर्वृत्तिमिष्टसंवृत्तिमेव च ।
अप्रयत्नेन पश्यामः केषांचित् तत् स्वभावतः । शान्तिपर्व, महाभारत १२.२१५-१९-२०

२१. ए. एल्. बाशम; हिस्ट्री एण्ड डॉक्ट्रीन आफ् दी आजीवकाज्, पृ. २२६, लंदन, १९५१.

२२. नाऽत्थ अत्ताकारे, नाऽत्थ पराकारे, नाऽत्थ पुरिषकारे नाऽत्थ वलं... सवे सत्ता सवे प्राणा सवे भूता सवे जीवा अवसा अबला अविर्या नियति संगति भाव परिणताच्छ स एव अभिजातिषु सुखदुःखं परिसंवेदयन्ति ।

२३ ए. एल, बाशम; हिस्ट्री एण्ड ड्रॉक्ट्रीन आफ दी आजीवकाज्, पृ. २२६ ।

२४. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्णम् विचित्रभावं मृगयक्षिणां च ?
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम् न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? षड्दर्शन सम्मुच्चय (तर्करहस्यदीपिका) पृ. १३ ।

२५. स्वभावो नाम पदार्थानां प्रति नियता शान्तिः, अग्नेरौष्ण्यमिव ।

२६. स्वभावः स्वस्य तत्पदार्थस्य भावोऽसाधारणकार्यकारित्वं यथाऽग्नेर्दाहादित्वषां निम्नदेशगमनादि ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# सत्तामूलक तर्क :- एक अस्तित्वपरक मूल्यांकन

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी सत्तामूलक तर्क का अस्तित्ववादी संदर्भ में मूल्यांकन करना है। ईश्वरीय अस्तित्व संबंधी परम्परागत प्रमाणों में सत्तामूलक तर्क एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस तर्क को सर्वप्रथम मध्ययुगीन विचारक सन्त एन्सेल्म ने इसके शास्त्रीय रूप में प्रस्तुत किया। इसीलिए इस लेख का मुख्य प्रतिपाद्य विषय एन्सेल्म का सत्तामूलक तर्क ही है। सत्तामूलक तर्क के प्रतिपादन में एन्सेल्म अपने युग के विशेष धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित प्रतीत होते हैं। यहूदी–ईसाई धर्म को ही एन्सेल्म के युग की मुख्य धार्मिक विचारधारा माना गया है। एन्सेल्म की यह धार्मिक मनोवृत्ति सत्तामूलक तर्क के स्थापन के क्रम में स्पष्ट अभिव्यक्ति पाती है।

## सत्तामूलक तर्क का सामान्य रूप

सत्तामूलक तर्क ईश्वर-प्रत्यय के विश्लेषण के आधार पर ही ईश्वरीय अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करता है। दूसरे अर्थों में कहा जा सकता है कि सत्तामूलक तर्क में प्रत्यय से अस्तित्व की ओर अग्रसारण की क्रिया सन्निहित है। इस तर्क में अनुभवमूलक (इम्पेरिकल) तथ्यों की सहायता नहीं ली जाती है। इसीलिए इस तर्क को प्रागनुभविक (एप्राइरारी) तर्क का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस तर्क का मूल स्वरूप प्रत्ययात्मक (कनसेप्युअल) है। कान्ट जैसे आधुनिकयुगीन समालोचक ने इस तर्क की आलोचना करते हुए कहा है कि यह तर्क अधिक से अधिक ईश्वरीय अस्तित्व के प्रत्यय को सिद्ध करता है। प्रत्यय से अस्तित्व सिद्धि कभी संभव नहीं। यह प्रत्ययात्मकता ही इस तर्क के पूरे स्वरूप को अमूर्त चिन्तन का विषय बना देता है।

**आस्तित्वपरक व्याख्या की आवश्यकता**- सत्तामूलक तर्क एन्सेल्म की धार्मिक मनोवृत्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। एन्सेल्म अपने सत्तामूलक तर्क के माध्यम से यहूदी–ईसाई धर्म में चर्चित ईश्वरीय विचार को धार्मिक सामर्थ्य



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



(रिलीजियस पोटेन्सी) प्रदान करना चाहते हैं। धार्मिक मनोवृत्ति को उपास्य वस्तु (ईश्वर) के प्रति उपासक का आत्म-समर्पण की स्थिति माना जा सकता है। उपासक अपने दुःख, कष्ट, त्रास, निराशा और असम्बोधिता की स्थिति में अपने से महत्तर (ग्रेटर) उपास्यसत्ता (ईश्वर) की आवश्यकता महसूस करता है। उपासक यह मानता है कि उपास्य सत्ता उसे हर संकट से मुक्त करने में सक्षम है। उपासक उपास्य के प्रति अपनी स्तुति, प्रशंसा, प्रार्थना के द्वारा अपनी अनुक्रियाशीलता (रेसपौंसिवनेस) व्यक्त करता है लेकिन यह अनुक्रिया एकपक्षीय नहीं हो सकती। उपासक अपनी स्तुतियों, प्रशंसाओं, प्रार्थनाओं के प्रति ईश्वरीय अनुक्रिया (रेसपौंस) की भी अपेक्षा रखता है। तात्पर्य यह है कि उपासक का ईश्वर वैयक्तिक, करुणामय, पूर्ण, अनंत तथा अनश्वर (इटर्नल) होना चाहिए। ईश्वर पर अधिरोपित (एट्रीब्यूटेट) ये गुण यहूदी–ईसाई धर्म के ईश्वर प्रत्यय के प्रसंग में उपयुक्त लगते हैं। इसी स्थल पर यह प्रश्न उठता है कि क्या एन्सेल्म द्वारा चर्चित सत्तामूलक तर्क का प्रत्ययात्मक ईश्वर उपासक की आकांक्षाओं की पूर्ति करने में समर्थ है? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। एक ईश्वर जो अमूर्त चिन्तन का विषय है उपासक की आशाओं की पूर्ति नहीं कर पाता। उपासक उस ईश्वर से, जिसकी प्रत्ययगत अस्तित्वपूर्णता ही मात्र स्वीकार्य हो, संबंध स्थापित करने में कठिनाई महसूस करता है। प्रत्ययात्मक ईश्वर की अवधारणा एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क के धार्मिकता के परिप्रेक्ष्य में अपनी वैधता खो बैठती है। प्रश्न यह उठता है कि सत्तामूलक तर्क में चर्चित धार्मिक मनोवृत्ति की यह व्याख्या क्या युक्तिसंगत है? एन्सेल्म इस व्याख्या को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। वास्तव में, सत्तामूलक तर्क यह बाह्य व्याख्या है। इसी कारण यह व्याख्या सत्तामूलक तर्क में सन्निहित मुख्य प्रत्ययों का वास्तविक स्वरूप भी उद्घाटित नहीं कर पाती। यह दृष्टिकोण सत्तामूलक तर्क के प्रति संकीर्णता से प्रभावित है। इसलिए इस स्थल पर हमें एक ऐसे यौक्तिक विकल्प (रेशनल आल्टर्नेटिव) आवश्यकता महसूस होती है जो इस तर्क को इसकी आंतरिकता में संगति प्रदान कर सके।

**अस्तित्वपरक व्याख्या का स्वरूप**- सत्तामूलक तर्क की अस्तित्वपरक व्याख्या इसके आंतरिक (इंटरनल) स्वरूप को ही स्पष्ट करती है। अस्तित्वपरक व्याख्या को मूल रूप से ईश्वरीय अनुभूति की उपस्थिति की खोज माना जा सकता है। सत्तामूलक तर्क की यह व्याख्या इसके आकारिक प्रमाण (फार्मल प्रूफ) को तिरस्कृत नहीं करता बल्कि सम्वर्द्धित करता है। यह आकारिक प्रमाण में अन्तर्ग्रथित कुछ धारणाओं और विचारों को प्रकाश में लाकर इसे स्पष्टता और सरलता प्रदान करने का प्रयास करता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अस्तित्वपरक व्याख्या में स्वतंत्रता (फ्रीडम) तथा पूर्ण निर्भरता (कम्प्लिट डिपेन्डेन्सी) दो महत्त्वपूर्ण पद हैं जिनका प्रयोग निरंतर किया जाता है। स्वतंत्रता का अभिप्रेत अर्थ यहाँ अन्य व्यक्तियों के साथ सह-अस्तित्व का निश्चित रूप लिया गया है। दूसरे अर्थों में इसे अन्य व्यक्तियों के प्रति पारस्परिक (रेसीप्रोकल) अनुक्रिया माना जा सकता है। इस स्थल पर यह प्रश्न उठता है कि इस अनुक्रिया का स्त्रोत क्या है ? यदि विश्व को इसका कारण माना जाय तो स्वतंत्रता की अनुक्रिया भी इसके समान सीमित हो जायगी। इसलिए विश्व को स्वंतत्रता के कारण के रूप में स्वीकार करने का अर्थ होगा स्वतंत्रता की अस्वीकृति। स्वतंत्रता को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता है। स्वतंत्रता एक स्व-उद्भूत (सेल्फ-आरिजिनेटेड) क्रिया है। किन्तु स्वतंत्रता में स्व-उद्भव (सेल्फ-आरिजिनेशन) की शक्ति का अभाव है। मानवीय स्वतंत्रता का स्त्रोत मानव ही नहीं हो सकता। स्वतंत्रता तो निरपेक्ष होती है। फिर इसका कारण कोई क्षणिक (टेम्पोरल) प्राणी कैसे हो सकता है ? मानव स्वतंत्र है, परन्तु आत्म-विशिष्ट नहीं है। मानव की विशिष्टता विश्व द्वारा निरुपाधित एवं सीमित है। इसलिए मानव को स्वतंत्रता का स्त्रोत मानना उचित नहीं है। मानव के उद्भव स्त्रोत के रूप में विश्व को नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस अर्थ में स्वातंत्र्य मानव–अस्तित्व सापेक्षिक रूप में विश्व से परे है। लेकिन एक ऐसी महत्तम सत्ता भी है जो मानव का भी अधिक्रमण करती है। सम्पूर्ण मानवीय अस्तित्व इसी महत्तर सत्ता पर पूर्णरूपेण निर्भर है। इस पूर्ण निर्भरता की अनुभूति के कारण मानव अपने को इस विश्व का एक अंश मान लेता है, हालांकि सापेक्षिक रूप से मानव इस विश्व से परे है। मानव और विश्व दोनों से परे एक महत्तर सत्ता है जिस पर वे पूर्णरूपेण निर्भर हैं। उपर्युक्त चर्चा से यह बिल्कुल-स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ण निर्भरता का अर्थ है एक अनंत सत्ता पर मानवीय अस्तित्व का आश्रित होना।

## एन्सेल्म का सत्तामूलक तर्क और अस्तित्वपरक व्याख्या

पूर्ण निर्भरता की अनुभूति से निर्मित एवं अनुबंधित ईश्वर की स्पष्ट अभिव्यक्ति एन्सेल्म के इस अस्तित्वपरक सूत्र में पायी जा सकती है कि...ईश्वर-एक ऐसी सत्ता है– जिससे-महत्तर-अन्य-सत्ता कल्पनीय नहीं है।..' ऐन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में उपरिचर्चित सूत्र को केन्द्र बिन्दु माना गया है। यह यहूदी–ईसाई धर्म में निरूपित ईश्वर-प्रत्यय के प्रति असीम आस्था को प्रकट करता है। इस सूत्र के माध्यम से एन्सेल्म " ईश्वर " के संप्रत्ययात्मक सविन्यासन (कनसेप्चुअल फार्मुलेशन) को मूल रूप में अस्तित्वपरक व्याख्या के रूप में प्रस्तुत करने का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रयत्न करते हैं। एन्सेल्म सत्तामूलक तर्क का आश्रय लेकर ईश्वरीय अनस्तित्व-पूर्णता की अकल्पनीयता तथा असंभवता निर्दशित करना चाहते हैं। वास्तव में एन्सेल्म जैसे धर्म सापेक्ष विचारकों के लिए मानव को ईश्वर पर पूर्णरूपेण निर्भर मानना स्वाभाविक प्रतीत होता है। भक्ति की चरम अवस्था में उपासक अपना हित-अहित, सुख-दुःख, क्लेश, चिन्ता इत्यादि जैसी सांसारिक घटनाओं के प्रति आसक्ति महसूस नहीं करता। वह अपनी सम्पूर्ण नियति को ईश्वर पर ही छोड़ देता है। इसलिए इस बात को स्वीकार करने में कोई अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती कि "पूर्ण निर्भरता" की अनुभूति एन्सेल्म के इस सूत्र में अन्तर्लीन है। परन्तु एन्सेल्म के सूत्र की व्याख्या अभी तक इस दृष्टि से शायद नहीं हो पाई है। इस उपेक्षित पक्ष को अस्तित्वपरक अनुशीलन के द्वारा प्रकाश में लाकर सत्तामूलक तर्क को समकालीन विवाद के परिप्रेक्ष्य में संगति प्रदान की जा सकती है।

अस्तित्व का मूल स्त्रोत "पूर्ण निर्भरता" की अनुभूति ही है। इसी अनुभूति से ईश्वर-प्रत्यय उद्भूत है और अपने धार्मिक अर्थ में निर्मित है। इस प्रसंग में एन्सेल्म के इस उक्ति की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी।...मैं विश्वास करने के लिए समझना नहीं चाहता, बल्कि मैं विश्वास करता हूँ इसलिए समझना चाहता हूँ। जो विश्वास नहीं करते उन्हें अनुभूति नहीं होती और जिन्हें अनुभूति नहीं होती और वे समझते नहीं।[२] आस्था दैव-उपस्थिति की अनुभूति की सहवर्ती है। इस दैव-अनुभूति को ही ईश्वर प्रत्यय का स्त्रोत माना जा सकता है। ईश्वर प्रत्यय का, जिसे एन्सेलम ने 'ईश्वर-एक-ऐसी-सत्ता है– जिससे-महत्तर अन्य-सत्ता कल्पनीय नहीं है' के रूप में सूत्रित किया है, उद्भव दृश्यमूलक (फिनोमिनोलोजिकल) है। यह पूर्ण निर्भरता की अनुभूति से निर्मित है। क्योंकि यह ईश्वर की पूर्ववर्णित एवं पूर्ण निर्धारित अर्थ को व्यक्त करता है। 'पूर्ण निर्भरता' की अनुभूति दैव-उपस्थिति का पूर्व ज्ञान है जो कि ईश्वर प्रत्यय में अव्यक्त रूप से वर्तमान है। ईश्वर प्रत्यय हमारे लिए तब तक बोधगम्य नहीं माना जा सकता जब तक कि हमें उस वस्तु का ज्ञान नहीं जिसकी ओर वह संकेत करता है और जिसकी व्याख्या करना चाहता है। ईश्वर प्रत्यय का वह बोध जिसमें पूर्ण निर्भरता की अनुभूति का अभाव है, मात्र प्रत्ययात्मक बोध ही माना जायगा। उपर्युक्त विमर्श के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क में अन्तर्निहित इस अस्तित्वपरक अंतर्वस्तु (एक्झिस्टेन्शियल कण्टेण्ट) की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। इस तर्क की वास्तविक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



महत्ता को वे ही समझ सकते हैं जिन्होंने मानवीय जीवन के इस रूप को समझा है। इस तर्क की अर्थसत्ता का निर्धारण इसकी आंतरिकता में ही किया जाना चाहिए। यदि एन्सेल्म के विचारों में अन्तर्लीन इन तथ्यों की उपेक्षा की जाती है तो उनका सत्तामूलक तर्क मात्र प्रत्ययात्मक बोध ही रह जाता है। प्रत्यय से वास्तविकता की ओर अग्रसारण की क्रिया असंगत है। सत्तामूलक तर्क के प्रति यह दृष्टि संकीर्णता का परिचायक है। यह इस तर्क की संगति का निर्धारण बाह्यनिष्ठता में करता है।

सत्य तो यह है कि इस तर्क की आंतरिकता ईश्वर प्रत्यय के उद्भव-स्त्रोत के रूप में धार्मिक अनुभूति की स्वीकृति में ही अन्तर्निहित है। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि यह तर्क के मुख्य रूप से प्रत्ययात्मक स्तर ही कार्य करता है। परन्तु इस प्रत्ययात्मकता को भी समझने के लिए हमें इस तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि यह एक उदात्त, अस्तित्वपरक अर्थ को अपने गर्भ में छिपाये हुए है। पूर्ण निर्भरता की अनुभूति इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहायक होती है कि कैसे ईश्वर प्रत्यय चेतनता के बोध से संरचित है। यह हमें इस तर्क की महत्ता का निर्धारण मात्र प्रत्ययात्मक स्तर की कसौटी पर ही करने से रोकता है।

इस स्थल पर प्रायः वह आपत्ति की जाती है कि एन्सेल्म ईश्वर के प्रसंग में पूर्ण निर्भरता की अनुभूति को स्वीकार नहीं करते। आलोचकों ने इस मत के समर्थन में एन्सेल्म के इस उक्ति को उद्धृत किया है... यदि आपने अपने ईश्वर को जान नहीं लिया तो वह यह कैसे है जिसे आपने पाया और जिसे आपने इतनी निश्चित सत्यता और सत्य प्रामाणिकता के साथ समझा ? किन्तु अगर आपने उसे पाया है, तो यह कैसे है कि आपने जिसे पाया उसका अनुभव नहीं करते ? हे ईश्वर, मेरी आत्मा ने यदि तुम्हें पाया है तो अनुभव क्यों नहीं करती ?...[३]

अपने इस प्रश्न के उत्तर में एन्सेल्म ने कहा कि...वास्तव में यह अपने आप अंधकारमय है और आपकी चकाचौंध में भी है।[४] वस्तुतः यह अपनी लघुता के अंधकार से घिरा है और आपकी विराटता से अभिभूत है। यह सचमुच अपनी सीमितता से परिबद्ध है और आपकी पूर्णता से अतिक्रमित है। क्योंकि यह प्रकाश कितनी महत् है जिससे प्रत्येक सत्य प्रकाशमान है जिससे बोध को प्रकाश मिलता है। सत्य ही, किसी भी प्राणी द्वारा जितना समझा जा सकता है, उससे यह अधिक है।...[५] यह युक्ति में एन्सेल्म अस्तित्व संबंधी उसी उपमाषा (डायलेक्ट)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



का प्रयोग कर रहें है जिसे हमने पूर्ण निर्भरता की अनुभूति में देखा है। इस स्थल पर भी एन्सेल्म का मन्तव्य ईश्वर की अनिरुपाधित प्रभाविता (अनक्वालीफायड डोमिनेन्स) और अधिक्रमित (सरपासिव) शक्ति के समक्ष उपासक की पूर्ण अधीनता को व्यक्त करना है। इस प्रकार साधारण अर्थ में ईश्वर को अनुभूति का विषय नहीं माना जा सकता। इसके बावजूद भी एक अर्थ में ईश्वर को अनुभूति का विषय माना जा सकता है। जिस प्रकार प्रकाश हमारे बोध को प्रकाशित करता है उसी प्रकार ईश्वर हमारी सभी पूर्वकल्पित अनुभूतियों का परम आधार है। ईश्वर हमारी सभी अनुभूतियों के स्रष्टा के रूप में उपस्थित होते हुए भी अनुभूति का विषय नहीं है। स्पष्टतः ईश्वर को मात्र विचार का विषय नहीं माना जा सकता। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सेकता है कि एक महत्तर सत्ता के रूप में ईश्वर स्रष्ट प्राणियों को अधिक्रमित करता है। लेकिन इसके आधार पर यह मानना गलत होगा कि धार्मिक चेतनता का ईश्वर में पूर्ण अभाव है। 'ईश्वर से महत्तर विचरणीय सत्ता नहीं' का अर्थ मूल रूप से पूर्ण निर्भरता की अनुभूति ही लेना चाहिए। दैवी अनुभवातीतता (डिवाइन ट्रान्सेडेंस) और स्वतःस्फूर्त अवबोधन, दैवी अनधिक्रमणता (डिवाइन अनसर्पासेबिलीटी) का समेकित (इनटेग्रल) पक्ष है। दैवी अनुभवातीत ईश्वरीय अनुभूति के मौलिक रूप का अवियोज्य पक्ष है। इस रूप में इसे ईश्वर प्रत्यय का भी समेकित पक्ष कहा जा सकता है। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि चूंकि ईश्वर-एक-ऐसी सत्ता है—जिससे महत्तर अन्य सत्ता विचरणीय नहीं है।... अपने अस्तित्वपरक और दृश्य-मूलक उद्भव के लिए पूर्ण निर्भरता की अनुभूति पर आधारित है, इसलिए इस सूत्र को मात्र प्रत्यय समझना भ्रामक होगा। इसे वैसा प्रत्यय भी नहीं माना जा सकता है जो अपने द्वारा सांकेतिक वास्तविकता को भी विरमित करता है। यदि सत्तामूलक तर्क में अन्तर्ग्रसित सामाजिक आयाम (सोशल डायमेंशन) दमित कर दिया जाय तो धार्मिक सत्यता के रूप में दैवी अनुभातीतता भी अपनी अर्थवत्ता खो बैठती है।

## निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ईश्वरीय बोध धार्मिक चेतनता और इसके व्यक्त रूपों के माध्यम से होता है। मानव द्वारा प्राप्त ईश्वरीय बोध को पर्याप्त नहीं माना जा सकता। मानव की तरह उसका ईश्वर प्रत्यय संबंधी ज्ञान भी प्लोमित ही होगा। इस स्थिति में एन्सेल्म की ईश्वर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



परिभाषा का आंशिक ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। एन्सेल्म की ईश्वर परिभाषा में ईश्वर को एक ऐसी सत्ता माना गया है जिससे महत्तर अन्य का विचार संभव नहीं। लेकिन उनकी इस परिभाषा में यह बात भी आपादित है कि ईश्वर पूर्ण कल्पनीय सत्ता से भी महत्तर है। वास्तव में किसी वस्तु की अकल्पनीय का विचार असंगत नहीं होता। इसलिए यदि 'ईश्वर-एक-ऐसी-सत्ता है–जिससे महत्तर-अन्य-सत्ता का –विचार-कल्पनीय-नहीं है' की अकल्पनीयता स्वीकार भी कर ली जाय तो भी इस पद द्वारा व्यक्त भाव को बोधगम्य मानने में कोई असंगति नहीं। लेकिन ईश्वर का यह बोध भी आंशिक ही होगा। ईश्वर ऐसा है जिस पर सभी वस्तुएँ पूर्ण निर्भर हैं। इस रूप में ईश्वर मात्र वह सत्ता नहीं जिससे– महत्तर-अन्य-सत्ता-कल्पनीय-नहीं-है... बल्कि ईश्वर सभी कल्पनीय वस्तुओं से महत्तर है।...[६] ईश्वर के कुछ पक्ष ऐसे हैं जो हमारी अवबोधन को अतिक्रमित करते हैं। यह कथन सत्य प्रतीत होता है क्योंकि यह दैवी अधिक्रमण की व्याख्या करता है जो पूर्ण निर्भरता की अनुभूति में अन्तर्निहित हैं। लेकिन यह भी सत्य है कि ईश्वर के कुछ पक्ष हमारे लिए बोधगम्य हैं। उपर्युक्त प्रसंग में 'ईश्वर अनस्तित्वपूर्ण है' अकल्पनीय है।[७] क्योंकि यह पूर्ण निर्भरता की चेतनता पर प्रकाश नहीं डाल पाता। इस प्रकार एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क के परिप्रेक्ष्य में ईश्वर की अनस्तित्वपूर्णता कल्पनीय नहीं लगती। यह ठीक है कि ईश्वर का पूर्ण बोध संभव नहीं। लेकिन ईश्वर का बोध हमारे लिये इतना पर्याप्त तो अवश्य है कि हम यह कह सकें कि ईश्वरीय अनस्तित्व सत्तामूलक तर्क के प्रसंग में असंभव है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सत्तामूलक तर्क में प्रत्यय से वास्तविकता की ओर अग्रसारण की क्रिया ही मात्र सन्निहित नहीं बल्कि इसमें पूर्ण निर्भरता की अनुभूति भी अनिवार्य रूप से अन्तग्रसित है। यह पूर्ण निर्भरता की अनुभूति सत्तामूलक तर्क को मूर्त आधार प्रदान करता है।

द्वारा, डॉ. हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा
१४३, अनुग्रहपुरी कालोनी
गया (बिहार)

– विजयकुमार सिन्हा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## टिप्पणियाँ

१. एन्सेलम का प्रोसोलीजियम मेनी फेसेड आर्गुमेन्ट, सं. जान हीक और आर्थर मैकगिल। क्वायलर मैक्मीलन, न्यूआर्क, १६६७। पृष्ठ– १४।

२. एस. एफ. जे. काप्लस्टन द्वारा उद्धृत, ए हिस्ट्री आफ फिलासफी, (इमेज बुक्स) पृष्ठ– १७७

३. रिसेन्ट डिस्कशन आफ एन्सेल्म आर्गुमेन्ट, मेनी फेसेड आर्गुमेन्ट, में. सं. हीक–मैकगिल, पृष्ठ- ७८।

४. अनु. एम. जे. चार्ल्सवर्थ सन्त एन्मेलम का प्रोसोलीजियम, अध्याय १४। (आक्सफोर्ड, १६६५) पृष्ठ– १३५।

५. वहीं, पृष्ठ- १३२।

६. सं. रूडौल्फ आडरब्रीच, फ्रेड्रिक शिलियरमेकर का डायलेक्टिक, (लीपजीग, हीनरीच १६४२। पृष्ठ २७२।

७. लैंगडौन गिल्की, द रिन्यूअल आफ गाड लौंग्वेज। बाब्स-मिरिल; १६६६। पृष्ठ– २४२–२४६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# विशिष्टाद्वैत दर्शन में आराधना का स्वरूप

वैष्णव–धर्म वस्तुतः ईश्वर-संकीर्तन है उसमें सर्वत्र ईश्वर की सर्व-व्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता तथा उदारता की चर्चा की गयी है। वैष्णव धर्मों में ईश्वर को विश्व में व्याप्त तथा परे दोनों ही स्वीकार किया गया है। ईश्वर सर्वभूतों का पालक, सर्वभूताधिपति तथा अन्तर्यामी माना गया है। ईश्वर प्राणियों का नियामक है, जीवात्मा पूर्णतः परमात्मा के अधीन है तथा केवल परमात्मा ही उसे मुक्ति प्रदान कर सकते हैं।

धार्मिक चिन्तन एवं उपासना के उत्तरकालीन विकास में विशिष्टाद्वैत दर्शन–जिसे धर्म के क्षेत्र में श्री–सम्प्रदाय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है–का सक्रिय योगदान है। इस धार्मिक सम्प्रदाय के उपास्य भगवान् विष्णु है और इस सम्प्रदाय के अनुयायी भागवत कहे जाते हैं। इस धर्म में ईश्वर की भक्ति का अर्थ ईश्वर का सतत अनुचिन्तन है। रामानुज की तो मान्यता ही है कि भक्ति और और प्रपत्ति ही मोक्ष का अनन्य साधन है और इससे प्रसन्न हुए ईश्वर ही मुक्तिदायक हैं–

भक्तिः प्रपत्तिः सुप्रीतः ईश्वरो मुक्तिदायकः।
अतो भक्तिः प्रपत्तिः हि मुक्तोः परमकारणः॥

भक्ति और प्रपत्ति विशिष्टाद्वैत दर्शन में मुक्ति का मुख्य कारण है क्योंकि ये भगवत्-प्रसादन द्वारा मुक्ति का कारण बनती है। श्री–सम्प्रदाय में मुक्ति उपायजन्य स्वीकार की गयी है जो साध्योपाय और सिद्धोपाय के भेद से द्विविध है। भक्ति और प्रपत्ति साध्योपाय हैं क्योंकि उनका पर्यवसान भगवान् को प्रसन्न करने में होता है तथा भगवान् स्वयं सिद्धोपाय हैं क्योंकि वे ही प्रसन्न होकर साधक को मुक्ति प्रदान करते हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी भक्ति और प्रपत्ति को मुक्ति का मुख्य साधन माना गया है। रामानुजदर्शन में ज्ञानयोग तथा कर्मयोग भक्तियोग के अंगरूप हैं। अतः कर्मयोग तथा ज्ञानयोग साक्षात् रूप से नहीं अपितु



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



परम्परया अर्थात् भक्ति के अंगभूत होने से ही मोक्ष के साधन स्वीकार किये गये हैं। यामुनाचार्य ने अपने ग्रन्थ गीतार्थ-संग्रह में भक्तियोग को 'ज्ञानकर्मामिनिवर्त्य' कहा है। कर्मयोग के पालन से जीव के पाप दूर होते हैं तथा ज्ञान उत्पन्न होता है अथवा कभी साक्षात् रूप से भी भक्ति का उत्पाद्य बनता है। ज्ञानयोग तो साक्षात् रूप से भक्तियोग का साधन है ही।

भक्ति को प्रमुखता प्रदान करने से रामानुज के समक्ष ज्ञान के महत्त्व के प्रतिख्यापक शास्त्रीय वचनों के साथ सामंजस्य का महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व आ पड़ा। रामानुज ने अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण से इस समस्या का समाधान बड़ी सूझ-बूझ से किया है। उनका मत है कि धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित ज्ञान का तात्पर्य ध्यान, निदिध्यासन अर्थात् एकाग्र समाधि से है। भक्ति की यह साधना इस सत्य पर कि 'ईश्वर ही हमारा अन्तस्तम आत्मतत्त्व है तथा जीव उसी तत्त्व का प्रकार है– के एकाग्रचिन्तन पर निर्भर है। किन्तु जीव को इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं होती जब तक दुष्ट कर्मों का विनाश न हो जाय। इस दिशा में निष्काम कर्म ही हमारा सहायक होता है। निष्कामभाव से कर्म करने से पूर्व संचित दुष्ट कर्म समाप्त हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में रामानुज का मत है कि शास्त्रों में बताये विहित कर्मों का निःस्वार्थ प्रतिपादन उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होता है। यह तो ध्रुवसत्य है कि यज्ञ आदि कर्मकाण्डों का परिणाम अस्थायी है और ईश्वरज्ञान का फल अक्षय है किन्तु यदि हम ईश्वरार्पण भाव से शास्त्र-विहित कर्मों का सम्पादन करें तो इस प्रकार का कर्म मुक्ति का परम्परया साधन होता है। परम्परा के अनुसार शास्त्र-विहित कर्मों के पाँच प्रकार बताये गये हैं– १) स्वाध्याय २) ईश्वरोपासना ३) पूर्वजों के प्रति कर्तव्य ४) मनुष्य के प्रति कर्तव्य तथा ४) पशु-सृष्टि के प्रति कर्तव्य। इस प्रकार के किये गये कर्म सात्त्विक प्रकृति का विकास करते हैं तथा पदार्थों के विषय में सत्यज्ञान को ग्रहण करने में आत्मा के सहायक होते हैं। कर्मों से प्राप्त होनेवाले फलों के प्रति आसक्त हुए बिना समस्त कर्मों विधियों एवं संस्कारों को सम्पादित करना कर्मयोग है। रामानुज ने देवपूजन, तपश्चरण, तीर्थयात्रा दान एवं यज्ञ को विधि माना है। कर्मयोग आत्मा को पवित्र करता है तथा साधक को ज्ञानयोग की ओर उन्मुख करता है। वेदान्त-देशिक के अनुसार ईश्वर स्वयं अपने ही जीव द्वारा अपने ही उपकरणों से अपनी ही आराधना के लिए स्वयं कर्म करवाते हैं। कर्मयोग से जीव का क्लेष दूर होता है तथा ज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः कर्मयोग को विशिष्टाद्वैतदर्शन में परम्परया या कभी साक्षात् मोक्ष का साधन माना जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



पांचरात्रसम्प्रदाय में ईश्वरोपासना अधिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग के भेद से पंचविध स्वीकार की गयी है। देवमंदिर के मार्ग को स्वच्छ करना, लीपना आदि अधिगमन है, गन्ध, फूल आदि पूजा की सामग्रियों को एकत्र करना उपादान है, देवता की पूजा करना इज्या है, अर्थ पर ध्यान रखते हुए मन्त्रों का जप करना, वैष्णव सूक्तों तथा स्तोत्रों का पाठ करना, भगवन्नाम का कीर्तन करना तथा तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों का अभ्यास करना स्वाध्याय है, देवताओं का ध्यान करना योग है।

रामानुज के अनुसार कर्मयोग द्वारा निर्मल अन्तःकरण पुरुष के आत्मतत्त्व (जीव) को ईश्वर द्वारा नियंत्रित, शासित और प्रकृति से वियुक्त जानकर उसका चिन्तन करना ज्ञानयोग है। यामुनाचार्य के अनुसार परिशुद्ध जीवात्मा की उपासना ही ज्ञानयोग है। यह ज्ञानयोग ही भक्ति की ओर ले जाता है। यम, नियम आदि अष्टांग योग के आचरण द्वारा भगवान् का सतत ध्यान भक्तियोग है। लिंगपुराण में– 'स्नेहपूर्वकमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' भक्ति का लक्षण किया गया है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में स्नेहपूर्वक भगवान् का तैलधारावत् अविच्छिन्न ध्यान ही भक्ति है। यतीन्द्रमतदीपिका का भी मत है कि भक्तियोग भगवान् की यम, नियम आदि अष्टांगयुक्त तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृति है।

रामानुज के दर्शन में भक्ति मनुष्य ईश्वर के पूर्णतम ज्ञान तक मौन रूप से एकाग्र समाधिपूर्वक पहुँचाने का नाम है उन्होंने भक्ति की पूर्ण। साधनयुक्त तैयारी पर बल दिया है। उनके अनुसार भक्तियोग की प्राप्ति साधनों से होती है अतः इसे साधनसप्तकजन्य कहा गया है। ये सात साधन क्रमशः विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुघर्ष हैं। विवेक से तात्पर्य पवित्र अन्न द्वारा शरीर का शोधन या रक्षण है। आहार तीन कारणों से दुष्ट होता है– जातिदुष्ट, आश्रयदुष्ट तथा निमित्तदुष्ट। माँस, लहसुन, प्याज आदि जातिदुष्ट हैं। वेश्या का अन्न खाना, पतित स्वामी से अन्नग्रहण करना आश्रय दुष्ट है। किसी कारण से दुष्ट होना जैसे कुत्ते द्वारा जूठा होना निमित्त दुष्ट है। विमोक का तात्पर्य कामनाओं में अनासक्ति है अर्थात् वासनाओं, काम क्रोध आदि का त्याग। जब तक चित्त पापरहित नहीं होगा तब तक उसमें भक्ति का उदय नहीं हो सकता। अभ्यास ईश्वर का ध्यान करना, बार-बार चित्त को उसमें लीन करना है। क्रिया का अर्थ है अपने साधनों के अनुसार पंचमहायज्ञों एवं संस्कारों का सम्पादन। पाठ, होम, अतिथि-पूजन, तर्पण तथा बलि ये पाँच महायज्ञ हैं। सत्य, अहिंसा, ऋजुता, दया, दान, सच्चरित्रता, दाक्षिण्य आदि सद्गुणों का अर्जन करना कल्याण है। इसके अन्तर्गत गीता के सोलहवें अध्याय में प्रतिपादित छब्बीस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



गुण– जिन्हें दैवी सम्पद् कहा जाता है– का अर्जन करना चाहिए। अनवसाद अर्थात् सदा प्रसन्न रहना, खेद और निराशा के उपस्थित होने पर भी दुःखी न होना है। अनुघर्ष का तात्पर्य अतिसन्तोष का अभाव है। सुख का हेतु उपस्थित होने पर भी उससे अत्यधिक हर्षातिरेक का न होना अनुघर्ष है। रामानुजीय दर्शन में इस भक्तियोग की साधना का विधान जीवन-पर्यन्त करने का आदेश दिया गया है। भक्ति ईश्वर का ज्ञान तो है ही उसकी इच्छा के प्रति वंशवदता भी है। भक्ति अपनी समस्त मानसिक शक्ति तथा हृदय के द्वारा ईश्वर से प्रेम करने का नाम है। इस भक्ति का पर्यवसान अन्तर्दृष्टि से ईश्वर के साक्षात्कार में होता है।

यतीन्द्रमतदीपिका के लेखक श्री निवासदास के अनुसार वेदन, ध्यान, उपासना आदि शब्द भक्ति के ही पर्याय हैं। वेदार्थसंग्रह में रामानुज ने साधन-भक्ति तथा पराभक्ति के भेद से भक्ति को द्विविध माना है। साधनभक्ति में शरीर, मन और वाणी का नियंत्रण, अपने कर्तव्य कर्मों का पालन, स्वाध्याय तथा अनासक्ति आदि का समावेश होता है। यह साधनभक्ति विवेक, विमोक आदि सप्तसाधनजन्य होती है तथा पराभक्ति ईश्वरजन्य होती है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में भक्ति और मुक्ति अंगांगि भाव से परस्पर सम्बद्ध हैं। यहाँ तक कि भक्ति की प्रत्येक अवस्था में हम अपने को पूर्णता प्राप्त करा रहे होते हैं। रामानुजीय दर्शन में भक्ति परिणमनरूप में मुक्ति ही तथा अन्य उपायों से सर्वोत्तम स्वीकार की गयी है क्योंकि यह स्वयं अपना पुरस्कार है (फलरूपत्वात्)। भक्ति के द्वारा आत्मा ईश्वर के साथ अपने सम्बन्ध के प्रति अधिक अभिज्ञा प्राप्त कर लेती है। मुक्ति के साधनरूप भक्ति के दो रूप स्वीकार किये जाते हैं– वैधी (औपचारिक) तथा मुख्या (श्रेष्ठ)। वैधी भक्ति का स्तर निम्न माना गया है जिसमें साधक प्रार्थना, कर्मकाण्ड तथा मूर्तिपूजा में संलग्न रहता है। भक्ति का यह रूप आत्म-शुद्धि में सहायक होता है किन्तु स्वयं मुक्ति का कारण नहीं होता। रामानुज का मत है कि मुक्ति के लिए सर्वोपरि प्रभु की ही पूजा करनी चाहिए क्योंकि भक्ति की परमावस्था में अन्य कोई ध्यान का विषय नहीं बन सकता।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में मोक्ष-प्राप्ति में प्रपत्ति का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है। प्रपत्ति ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण है[१] तथा भागवत मत में इसे मुक्ति का सबसे उपयुक्त साधन माना गया है। श्रीनिवासदास प्रपत्ति को भक्ति का ही अंग मानते हैं किन्तु लोकाचार्य तथा शठकोप भक्तियोग और प्रपत्तियोग को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं। श्रीनिवासदास के अनुसार भक्ति में त्रैवर्णिकों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



और देवताओं का ही अधिकार है शूद्रों का नहीं। किन्तु प्रपत्ति का मार्ग सभी के लिए खुला है। कोई भी साधक गुरु से दीक्षा ग्रहण कर अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर सकता है और उनका आश्रय प्राप्त कर सकता है। रामानुज का दृढ़ मत है कि ईश्वर जाति, आकार, स्वभाव, ज्ञान आदि पर ध्यान न देकर प्रपन्न मात्र को शरण देते हैं। विशिष्टाद्वैत का दक्षिणी सम्प्रदाय टेंगलाई– जो आल्वारों की परम्परा का पूर्ण निर्वाह करता है– के अनुसार प्रपत्ति ही मोक्ष का एकमात्र साधन है और भक्त को मुक्ति प्राप्ति हेतु और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर उस साधक का तो अवश्य उद्धार करते है जो उनके प्रति स्वयं को समर्पित कर देता है। उत्तरी सम्प्रदाय वाड़ागलाई के अनुसार प्रपत्ति लक्ष्य की प्राप्ति का अन्यतम उपाय तो है किन्तु एकमात्र उपाय नहीं। इस मत में मोक्ष-प्राप्ति हेतु मानवीय पुरुषार्थ की आवश्यकता स्वीकार की गयी है। ऐसा साधक जिसने अपने को कर्म, ज्ञान, तथा भक्ति तथा प्रपत्ति से योग्य बना लिया है, प्रभु की दया प्राप्त करता है। उत्तरी सम्प्रदाय मुक्ति की धारणा स्पष्ट करने के लिए मर्कटन्याय का उदाहरण देता है। इस धारणा के अनुसार जिस प्रकार बन्दर का बच्चा इधर-उधर जाने में अपनी माँ के पेट को पकड़े रहता है अर्थात् उसे कुछ पुरुषार्थ भी करना होता है, उसी प्रकार साधक को भी ईश्वर-कृपा के अतिरिक्त स्वयं भी पुरुषार्थ-साधन करना होगा। दक्षिणी सम्प्रदाय मार्जर न्याय का उदाहरण देता है। उनका मत है कि जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चों को मुंह में दबाकर इधर-उधर ले जाती है बच्चों को कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता उसी प्रकार साधक को भी मोक्ष-प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ-साधन की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर स्वयं ही मोक्ष-प्राप्ति हेतु योग्य व्यक्ति का चुनाव करते हैं।

रामानुज का मत है कि इन उपायों से संवर्धित भक्ति से ईश्वर के दर्शनों की प्राप्ति होती है। जब तक ईश्वर की कृपा न हो तब तक व्यक्ति का प्रपन्न होना भी सम्भव नहीं। भक्ति यों तो पुरुष– प्रयत्न साध्य है किन्तु प्रपत्तियोग में ईश्वर के अनुग्रह रूप सहायता की महती अपेक्षा है। इसलिए प्रपत्तियोग में साक्षात् ईश्वर को सिद्धोपाय माना गया है। प्रपत्तियोग की प्राप्ति तो केवल उन्हींको होती है जिन पर ईश्वर स्वयं कृपा करते हैं। इसीलिए रामानुज ने अपने शरणागति पथ में ईश्वर से बार-बार यह प्रार्थना की है कि वे उन्हें परभक्ति, परज्ञान तथा परभक्ति से युक्त करें। ईश्वर में अनुराग परमभक्ति है और तदनन्तर प्राप्त किया जानेवाला ईश्वर के स्वरूप और ऐश्वर्य का विशेष ज्ञान कि 'ईश्वर उपास्य है तथा जीव उपासक या सेवक मात्र है', परज्ञान कहलाता है। इसी ज्ञान के पश्चात् भगवान में होने वाली दृढ़ आस्था परमभक्ति है। इस स्थिति में जीव कैंकर्यभाव से निरन्तर भगवत्-आराधन में लीन रहता है। यह साध्य-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



भक्ति या प्रपत्ति साधनभक्ति या भक्तियोग से श्रेयस्कर है क्योंकि जहाँ भक्तियोग से केवल प्रारब्धकर्मों का नाश होता है वहाँ प्रपत्तियोग से संचित, प्रारब्ध तथा संचीयमान सभी कर्मों का नाश हो जाता है। प्रपन्न यदि भगवद् भक्तों के साथ दुर्व्यवहार न करे तो उसकी मुक्ति में तो कोई सन्देह है ही नहीं अर्थात् उसकी मुक्ति तो निश्चित है। लक्ष्मीतन्त्र में प्रपत्ति को न्यास कहा गया है और उसे पंचांगयोगयुक्त बताया गया है—

आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

आनुकूलस्य संकल्प, प्रातिकूलस्य वर्जन, महाविश्वास, गोप्तृत्ववरण तथा कार्पण्य को अंग तथा आत्मनिक्षेप को अंगीमान कर प्रपत्ति के छः अंग भी बताये गये हैं। अहिर्बध्न्यसंहिता में शरणागति उपर्युक्त छः प्रकार की ही बतायी गयी है। श्रीनिवासदास ने आत्मनिक्षेप और कार्पण्य का एक में समावेश करके पंचांग-युक्त प्रपत्ति स्वीकार की है। इन षडंगों का अर्थ भगवान् के अनुकुल रहने का संकल्प, भगवान् के प्रतिकूल न जाना, भगवान् हमारी रक्षा करेंगे यह विश्वास जिससे रक्षक के रूप में उनका वरण करना, गोप्तृत्ववेवरणं अर्थात् अपने को भगवान् के ऊपर स्वयं को डाल देना, कार्पण्य अर्थात् हीनता का भाव या अपनी कमियों का अनुभव तथा आत्मनिक्षेप अर्थात् आत्मसमर्पण है। शरणागति गद्य में रामानुज ने इस प्रपत्ति को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अर्थपंचक में आचार्याभिमानयोग नामक एक अन्य मार्ग का भी उल्लेख किया गया है। यह मार्ग उन व्यक्तियों के लिए है जो अन्य मार्गों का अनुगमन नहीं कर सकते। इस मार्ग में आचार्य के समक्ष आत्मनिक्षेप एवं प्रत्येक विषय में उनके द्वारा संचालित होने का विधान है। जिस प्रकार माता शिशु की चिकित्सा करने के लिए औषध-ग्रहण करती है, उसी प्रकार आचार्य वह सब करता है जो उसके शिष्य के लिए मुक्ति के हेतु आवश्यक हैं।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में आराध्य देव विष्णु को स्वीकार किया गया है, तथा जिनकी उपासना के लिए षोडशोपचार का विधान है। इनमें आठ उपचार तो भागवतपुराण में वर्णित नवधाभक्ति [२] के अर्चना, वन्दना, दासता, सेवन, स्मरण, कीर्तन, श्रवण तथा आत्मनिवेदन हैं केवल सख्यभाव को छोड़ दिया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य आठ उपाय ये हैं– शरीर पर शंख, चक्र एवं हरि के अन्य आयुधों के लाञ्छन अंकित करना, ललाट पर लम्बी रेखा अंकित करना, समय पर मन्त्रों का जप करना, हरि के चरणामृत का पान करना, हरि को सर्मर्पित किया हुआ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



नैवेद्य ग्रहण करना, भगवत्-भक्तों की सेवा करना, प्रत्येक मास की कृष्ण एवं शुक्ल पक्षों की एकादशी को व्रत रखना तथा हरि की प्रतिमा पर तुलसी-पत्र चढ़ाना ।

रामानुजीय दर्शन की धार्मिक परम्परा में भक्ति का स्वरूप ईश्वर का निरन्तर चिन्तन है । इस प्रकार रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप बादरायण द्वारा वर्णित उपासना के तुल्य है । उन्होंने अपने दर्शन में पारम्परिक भक्ति को पूर्ण ब्राह्मणपरक बनाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है । निश्चय ही रामानुज दार्शनिक होने के साथ ही साथ धार्मिक क्षेत्र की महान् प्रतिमा थे जिसमें दार्शनिक भाव के साथ-साथ धार्मिक आकांक्षाएँ भी उतनी ही प्रबल थीं । इसीलिए वे अपने आप में पूर्ण तथा सुसंगत धार्मिक दर्शन की प्रतिष्ठा का कार्य अत्यंत सफलतापूर्वक कर सके तथा अपनी इस महत्त्वपूर्ण देन के कारण उन्होंने दर्शन और धर्म दोनों ही क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है । वैष्णव-दर्शन एवं धार्मिक परम्परा में रामानुज तथा उनके द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदाय का विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व है ।

के. ३७ / ५५ जी. डी. लेन
बुलानाला, वाराणसी २२१ ००१

— उर्मिला चतुर्वेदी

## टिप्पणियाँ

१. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तरव्यवस्थिताः ।
प्राणिनः कर्मजनित संसारवशवर्तिनः ॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः ।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः ॥

२. अर्चनं वन्दनं दास्यं सेवनं स्मरणं तथा ।
कीर्तन श्रवणं सख्यं तथैवात्मनिवेदनम् ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# क्या संवेदनों का अस्तित्व है ?

मेरे इस छोटे से पर्चे की चर्चा का विषय एकदम सीमित है। मेरा उदेश्य श्री. डी. वाय. देशपांडे जी के लेख 'आर देयर सेन्सेशन्स ?'[1] में रह गई एक महत्त्वपूर्ण त्रुटि की ओर ध्यान दिलाना और थोड़ा संशोधन करना मात्र है। देशपांडे जी ने संवेदन– भाषा का विश्लेषण और संवेदन-घटना का फिनॉमिनॉलॉजीकीय वर्णन कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों द्वारा जिन 'विशेष विशेष इन्द्रियों के संवेदनों' (सेन्सेशन्स ऑफ स्पेशल सेन्सेस) का प्रतिपादन किया जाता है, वैसे संवेदनों का कोई अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः देशपांडेजी का उपरोक्त लेख साधारण–भाषा–दर्शन प्रवृत्ति के एक प्रमुख प्रतिनिधि दार्शनिक गिलबर्ट राईल की भूमिका, युक्तियों और निष्कर्ष का ही पिष्टपेषण है।

मुझे यह दर्शाना है कि जिन युक्तियों के आधार पर उन्होंने दृश्य संवेदन के होने का खंडन किया है, वही युक्तियाँ अन्य ऐन्द्रिय-संवेदनों पर लागु नहीं होती, जब कि उन्होंने, दृश्य संवेदन के खंडन में दी गई युक्तियाँ, अन्य ऐन्द्रिय-सवेदनों के खंडन में लागू हो सकती हैं, ऐसा मान लिया है।

देशपांडेजी के अनुसार, मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि थकान, ऐठन, दाँत का दर्द और ऊबकाई की संवेदनाओं तथा 'विशेष-विशेष इन्द्रियों के संवेदन' एक ही जाति की दो उपजातियाँ हैं। दूसरे शब्दों में, जैसे थकान, ऐंठन, दाँत का दर्द, ऊबकाई आदि अनुभव हैं अथवा उनकी अनुभूति होती है वैसे ही 'विशेष विशेष इन्द्रियों के संवेदन' भी अनुभव हैं अथवा उनके घटने की अनुभूति होती है। सुविधा के लिए पहले प्रकार की संवेदनाओं को $स_1$ कह लेते हैं। और दूर से प्रकार की संवेदनाओं यथा 'विशेष विशेष इन्द्रियों के संवेदन' को $स_2$ कहलेते हैं। वस्तुतः $स_1$ और $स_2$ को एक ही कोटि के नहीं माना जा सकता अर्थात् जैसे $स_1$ अनुभव है या कि उसकी अनुभूति होती है वैसे $स_2$ अनुभव नहीं है या कि उसके घटने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



की अनुभूति नहीं होती। जब हम कोई नीली वस्तु देखते हैं तो, मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, हमें नीले या नीलेपन की संवेदना अनुभूत होती है, और फिर 'नीले की संवेदना' को 'थकान की संवेदना' के समानान्तर मान लिया जाता है। लेकिन वास्तव में देखा जाय तो, देशपांडेजी के अनुसार, दोंनों अभिव्यक्तियों में 'की' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। 'थकान की संवेदना' अभिव्यक्ति में 'की' शब्द का व्यापार 'ब्राऊन नाम का व्यक्ति' (बाय दी नेम ऑफ ब्राऊन) अभिव्यक्ति में 'का' शब्द के व्यापार के समान है। 'ब्राऊन नाम का व्यक्ति' अभिव्यक्ति में ब्राऊन नाम ही है। वैसे ही 'थकान की संवेदना' में थकान स्वयं संवेदना है। उसी तरह 'थकान की संवेदना' की अभिव्यक्ति 'थकान की अनुभूति' की पर्यायवाची है। लेकिन 'नीले की संवेदना' में 'की' शब्दप्रयोग उपरोक्त अर्थ में नहीं है। 'नीले की संवेदना' में नीला स्वयं संवेदना या अनुभूति नहीं है। 'नीले की संवेदना' अभिव्यक्ति 'नीली वस्तु के प्रति सजगता' या 'नीली वस्तु का ज्ञान' अभिव्यक्ति के समान है, जहाँ 'की' अव्यय वस्तु और उसके ज्ञान के संबंध को व्यक्त करता है।

भाषा विश्लेषण से प्राप्त नतीजे को, देशपांडे जी के अनुसार, अन्तर्निरीक्षण द्वारा भी जाँचा जा सकता है (यहाँ यह कहना आप्रासंगिक नहीं होगा कि राईल ने अन्तर्निरीक्षण की अवधारणा का सशक्त खंडन दी कॉनसेप्ट ऑफ माँईंड में किया है। अतः जिसे देशपांडे जी अन्तर्निरीक्षणात्मक जाँच कह रहे हैं, उसे फिनॉमिनॉलॉजीकीय वर्णन कहना अधिक उपयुक्त होगा। हमें कोई चीज देखने या सुनने पर कोई अनुभूति नहीं होती। हाँ, तेज रोशनी में आँखें चुधिया जा सकती हों, लेकिन आँखों में चौंध की संवेदना या अनुभूति देखने की सहायक घटक नहीं होती। वैसे ही धमाके की आवाज से कान के पर्दे फटने की संवेदना या अनुभूति होती है, लेकिन ऐसी संवेदना या अनुभूति सुनने की सहायक घटक नहीं होती। वस्तुतः सामान्य अवस्था में हमें देखने या सुनने पर किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती। और यही बात, देशपांडे जी के अनुसार अन्य ऐन्द्रिय संवेदनाओं पर लागू होती है। आगे, उन्हीं के अनुसार अन्य विशषताओं से भी सब का वर्णन किया जा सकता है लेकिन $स_२$ का नहीं। थकान, मामूली या अधिक हो सकती है। दर्द, शूल की चुभन सा अथवा ऐंठन सा हो सकता है। लेकिन $स_२$ का ऐसा कोई वर्णन करने का प्रयत्न करने पर उक्त वर्णन संवेदन-विशेष का न होकर उसके विषय (ऑबजेक्ट) का हो हो जाता है। इस तरह रंग-संवेदन या ध्वनि संवेदन के वर्णन रंगों और ध्वनियों के वर्णनों के बिना संभव नहीं होते अतः देशपांडे जी के अनुसार, 'ऐसे संवेदनों को उनके आंतरिक गुणों के संदर्भ में अभिव्यक्त करने के प्रयत्न की पूर्ण असफलता इस संदेह का समर्थन करती है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



मनोवैज्ञानिक जिन्हें 'विशेष विशेष इन्द्रियों की संवेदनाएँ' कहते हैं, ऐसी किन्हीं संवेदनाओं का अस्तित्व नहीं होता' ('आर देयर सेन्सेशन्स ?' पृष्ठ ४८)

इस तरह देशपांडे जी के साथ यहाँ सहमत हुआ जा सकता है कि प्रत्यक्ष के घटक के रूप में दृश्य संवेदन और श्रव्य संवेदन का उनके अपने गुणों के संदर्भ में वर्णन नहीं किया जा सकता और इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऐसे 'संवेदन' होते ही नहीं। लेकिन दृश्य संवेदन और श्रव्य संवेदन के विश्लेषण के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य ऐन्द्रिय संवेदन प्रत्यक्ष के घटक के रूप में अनुभूत नहीं होते या कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। स्पर्श संवेदन का उदाहरण लें। ठंडे की संवेदना या 'नरमी की संवेदना' का विश्लेषण 'थकान की संवेदना' के समानान्तर किया जा सकता है। ठंड़क या नरमाहट को सवेदनाओं को अन्य विशेषताओं से भी अभिव्यक्त किया जा सकता है यथा ठंड़क या नरमाहट कम या अधिक हो सकती है। ठंड़क सहय या असहय हो सकती है। नरमाहट तटस्थ या सुखद हो सकती है।

इस तरह अनुभूति के स्वाभाविक अर्थ में संवेदना न केवल शारीरिक संवेदनों यथा थकान, ऊबकाई आदि से संबंधित होती है बल्कि ऐन्द्रिय संवेदनों में दृश्य और श्रव्य संवेदनों को छोड़कर स्पर्श संवेदना से भी संबंधित होती है, यह स्वयं राईल भी उसी लेख में प्रतिपादित करते हैं जिस लेख[२] के आधार पर देशपांडे जी ने संवेदनों की अवधारणा पर चर्चा की है।

अब यहाँ राईल के उक्त लेख की एक महत्त्वपूर्ण त्रुटि की ओर ध्यान दिलाना शायद अप्रासंगिक नहीं होगा। ऐन्द्रिय संवेदनों के विषय में राईल ने भी एक विचित्र बात कही है कि दृश्य संवेदन, श्रव्य संवेदन के साथ-साथ रस संवेदन और गंध संवेदन भी संवेदन नहीं होते, केवल स्पर्श संवेदन ही संवेदन या अनुभूति होते हैं।

वास्तव में स्पर्श संवेदन के साथ-साथ रस संवेदन या गंध संवेदन भी संवेदन या अनुभूति होते हैं। रसानुभूति के खंडन में राईल कहते हैं कि 'मेरी जीभ, कहा जाय तो, दोहरा (डबल) ऐन्द्रिय अवयव है। मैं उससे वस्तुओं को अनुभूत करने (फील) और वस्तुओं का स्वाद लेने के दोनों काम ले सकता हूँ।' स्पष्ट है राईल अनुभूति को स्पर्श से ही संबंधित मानते हैं और स्वाद लेने को अनुभूति नहीं मानते। राईल आगे कहते हैं, 'मैं चम्मच जैसी वस्तुओं के आकार और सतह को बिना स्वाद लिये अनुभूत कर सकता हूँ और मैं प्याज या गोलीमर्च का स्वाद कुछ भी अनुभूत किये बिना ले सकता हूँ।' (वहीं, पृ. ३४१)

यह सही है कि जैसे त्वचा से ठंड़क, गरमाहट, चिकनाहट अनुभूत की जाती है वैसे ही जीभ से ठंड़क, गरमाहट, चिकनाहट अनुभूत की जा सकती है। लेकिन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्याज या गोलमिर्च का भिन्न-भिन्न तीतापन जीभ से ही अनुभूत किया जा सकता है अन्य ऐन्द्रिय अवयवों से नहीं। उसी तरह स्वाद का गुण और मात्रा के संदर्भ में भी भेद किया जा सकता है। तीतापन या मिठास या कड़ुवाहट भी कम या अधिक, सुखद या दुःखद हो सकती है। इसलिये स्वाद को भी संवेदना या अनुभूति कहना उचित है। अतः राईल का यह कथन गलत है कि मैं प्याज या गोलमिर्च का स्वाद बिना कुछ अनुभूत किये ही ले सकता हूँ। वस्तुतः स्वाद स्वयं अनुभूति है।

अब यहाँ एक मुद्दा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। 'थकान की संवेदना' तथा 'ठंडक की संवेदना' या 'मिठास की संवेदना' का तार्किक व्यापार एक स्तर पर समान (Parallel) है अर्थात् थकान, ठंड़क, मिठास अनुभूतियाँ ही हैं। लेकिन अन्य स्तर पर 'थकान की सवेदना' तथा 'ठंडक की संवेदना' का तार्किक व्यापार असमान (unparallel) है। थकान की संवेदना प्रत्यक्षगत संवेदना नहीं है जबकि मिठास की संवेदना या ठंड़ा की संवेदना प्रत्यक्षगत संवेदनाएँ हैं। अर्थात् ये संवेदनाएँ बाह्य विषयोंपर निर्भर होती हैं। उसी तरह थकान मालूम करने के लिये चाहे कम हो या अधिक सावधानी या लापरवाही नहीं बरती जाती। लेकिन अपेक्षाकृत मिलती जुलती वस्तुओं के स्पर्शों और स्वादों की भिन्नता मालूम करने के लिये सावधानी बरती जा सकती है।

अतः अनुभूति के स्वाभाविक अर्थ में दृश्य संवेदन और श्रव्य संवेदन नहीं होते लेकिन स्पर्श और रस संवेदन होते हैं। लेकिन ऐसे संवेदनों के होने का अर्थ संवेदनों का शुद्ध मानसिक होना नहीं है। संवेदनों की कोई शुद्ध (neat) भाषा नहीं होती। अपनी अभिव्यक्ति के लिये वे साधारण वस्तुओं और घटनाओं पर निर्भर होते हैं।

दर्शन विभाग — सुरेशकुमार थोरात
नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर

## टिप्पणियाँ

१, मार्गरिट चटर्जी : **कण्टेम्पररी इंडियन फिलॉसफी** : द्वितीय मालिका
२. 'सेन्शेशन्स' : राईल, गिल्बर्ट : **कलेक्टेड पेपर्स**, भाग २, पृ. ३४१
३. वहीं, पृ. ३४१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# भाव और उद्वेग

इस लेख का उद्देश्य भाव और उद्वेग के बारे में पाश्चात्य तत्त्वज्ञ स्पिनोजा तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं उनका तुलनात्मक अध्ययन करना है।

— १ —

शुक्लजी ने निम्नलिखित वाक्य में उद्वेग शब्द का प्रयोग किया है—

"उद्वेगशील जातियों में भाव-शबलता की संभावना अधिक होती है।" [१] दो से अधिक भावों के संघात को भाव-शबलता कहते हैं। इस नाते उद्वेगशील जाति का अर्थ हुआ, ऐसी जाति जिनके भावों में संघात होता रहता है। धीर और संयत वृत्ति के पात्र में भाव-शबलता के उदाहरण बहुत कम मिलेंगे और जहाँ मिलेंगे, वह प्रसंग ऐसा होगा, जिसमें एक ही प्रसंग के सचमुच ऐसे अनेक पक्ष होंगे जो भिन्न-भिन्न भावों के विषय हो सकें। स्पष्ट है कि उद्वेग का अर्थ यहाँ भाव न होकर 'भाव से युक्त' या 'जाग्रत भाव' से है। इसे हम इमोशन (Emotion) कह सकते हैं। उद्वेगशील का अर्थ हुआ 'भावना-प्रधान' या 'भावुक'।

**रस-मीमांसा** में, परिशिष्ट के अंतर्गत कुछ टिप्पणियाँ दी गई हैं। इन टिप्पणियों में भाव से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली के कुछ शब्द दिये हैं। ये अँग्रेजी और हिन्दी दोनों साथ-साथ में हैं। इससे हमें शुक्लजी के अभिप्रायों को समझने में सहायता मिलती है और विषय के बोध में सुविधा भी होती है। ऐसे शब्द नीचे दिये जा रहे हैं [२]—

"इंपल्सेज (Impulses) जीवन-योग, ऐपिटाइट्स (Appetites) इंद्रिय-वेग, इमोशंस (Emotions) मनोवेग या भाव, सेंटिमेंटस् (Sentiments) स्थायीभाव, इंस्टिंक्ट (Instincts) संस्कार, टेंडेंसी (Tendency) प्रवृत्ति।"



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



ध्यान देने की बात है कि भाव के साथ शुक्लजी ने मनोवेग शब्द रखा है और अँग्रेजी में इमोशंस् (Emotions) का वाचक माना है। डॉ. दीवानचन्द्र ने अपनी पुस्तक के अन्त में (स्पिनोजा : नीति पुस्तक के अन्त में) पारिभाषिक शब्दावली दी है। उसमें इमोशन्स (Emotions) के लिये उद्वेग शब्द ही उन्होंने दिया है। हमारे सामने प्रश्न यह है कि हम 'भाव' और 'उद्वेग' दोनों में भेद कैसे करें? कारण यह है कि अँग्रेजी में भाव के लिए इमोशन शब्द है और उद्वेग के लिए भी। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए हमें इन शब्दों के प्रयोग पर विचार करना होगा। सच तो यह है कि भाव और उद्वेग दोनों ही पर्यायवाची प्रतीत होने पर भी पर्यायवाची नहीं हैं। यह अन्तर वैचारिक है और सिद्धान्त रूप में में भी है।

— २ —

स्पिनोजा ने उद्वेग की परिभाषा इस प्रकार की है—

"उद्वेग से मेरा अभिप्राय शरीर के ऐसे रूपभेदों से है जिनसे शरीर की क्रिया शक्ति बढ़ती या घटती, सहायता पाती या रुकती है और इसके साथ इन रूप भेदों के प्रत्यय भी अभिप्रेत हैं।" [३]

यह परिभाषा इतनी सटीक, स्पष्ट और वैज्ञानिक है कि इसमें कुछ कहने के लिए अवसर नहीं रह जाता।

स्पिनोजा की नीति पुस्तक ज्ञान की परिपूर्ण शाखा 'गणित' की पद्धति से लिखी गई है। और गणित में भी 'रेखागणित' या 'ज्यामितीय' पद्धति से लिखी गई है। स्पिनोजा लिखते हैं—

"जहाँ तक मुझे मालूम है, अभी तक किसी ने उद्वेगों की प्रकृति और शक्ति को निश्चित नहीं किया, न यह बताया कि मन उन्हें शासन में रखने के लिए उनके विरोध में क्या कर सकता है? मैं जानता हूँ कि परम प्रतिष्ठित डेकार्ट ने, यह मानते हुए भी कि मनुष्य का मन अपने कर्मों में निरपेक्ष शक्ति रखता है, यत्न किया कि मानव उद्वेगों का समाधान उनके प्रथम कारणों द्वारा करे, और साथ ही यह बताया कि किस तरह मन उद्वेगों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर सकता है। परन्तु मेरे विचार में वे अपनी बुद्धि की महानता और चतुराई ही दिखा सके, जैसा मैं उचित स्थान में प्रकट करूँगा। क्योंकि अभी मैं उन लोगों की ओर फिरना चाहता हूँ जो उद्वेगों और क्रियाओं को समझने की अपेक्षा उन्हें निन्दा और हँसी का विषय बनाना अधिक पसन्द करते हैं। इन लोगों के लिए यह बहुत अजीब बात होगी कि मैं मनुष्यता की बुराई और त्रुटियों का रेखागणित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



की विधि के अनुसार वर्णन करने का यत्न करने लगा हूँ, और उन चीजों को यथार्थ युक्ति से सिद्ध करना चाहता हूँ जिन्हें वे बुद्धि के प्रतिकूल असार, अर्थहीन और घृणित समझकर फटकारते हैं, इस पर भी यह मेरा आयोजन है।" ४

स्पिनोजा की इन पंक्तियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे उद्वेगों का विवेचन 'रेखागणित' की विधि के अनुसार कर रहे हैं। इस पद्धति को अपनाने के कारण स्पिनोजा का लेखन वैज्ञानिक हो गया है।

स्पिनोजा उद्वेगों के अध्ययन को निन्दनीय विषय नहीं मानते और न इस विषय को वे हेय मानते हैं। इस तरह से कहते समय उनके मन में धर्मगुरू रहे हैं, जो उद्वेगों को निन्दनीय रूप में अनुभव करते हैं। प्रश्न है क्या ऐसा कहते समय उद्वेगों को क्या माया समझ लिया गया? हमारे यहाँ माया का विवेचन कुछ-कुछ इसी अर्थ में हुआ है। स्पिनोजा ने उद्वेगों को उक्त जाल से मुक्त किया है और अस्पष्ट को स्पष्ट तथा वैज्ञानिक ढंग से व्यक्त किया।

स्पिनोजा ने उद्वेग की जो परिभाषा दी है, उसके साथ उन्होंने और दो परिभाषाएँ अलग से दी हैं। इसी तरह उक्त परिभाषा के बाद अलग से टीका रूप में दो पंक्तियाँ लिखी हैं। टीका के बाद स्वीकृत पक्ष है। यह सब स्पिनोजा के अनुसार नीचे उद्धृत है ५ –

**परिभाषाएँ**

१. मैं उसे पर्याप्त कारण कहता हुँ, जिसका परिणाम उसके द्वारा विमल और स्पष्ट रूप में ज्ञात हो सकता है। मैं उसे अपर्याप्त या आंशिक कारण कहता हूँ जिसका परिणाम उसके द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता।

२. मैं कहता हूँ कि हम कुछ करते हैं या सकर्मक हैं, जब हमारे अन्दर या बाहर कोई ऐसी घटना घटती है जिसके हम पर्याप्त कारण हैं, अर्थात् (पूर्व परिभाषा) हमारी प्रकृति से कोई ऐसी वस्तु हमारे अन्दर या बाहर उद्भूत होती है जो केवल उसी के द्वारा विमल और स्पष्ट रूप में समझी जा सकती है। दूसरी ओर मैं कहता हूँ कि हम सहते या प्रहारित होते हैं, जब हमारी प्रकृति से कोई घटना हमारे अन्दर या बाहर घटती है, जिसका हम आंशिक कारण ही होते हैं।

३. उद्वेग से मेरा अभिप्राय शरीर के ऐसे रूपभेदों से है जिनसे शरीर की क्रिया-शक्ति बढ़ती या सहायता पाती या रुकती है और इसके साथ ही इन रूप-भेदों के प्रत्यय भी अभिप्रेत हैं।

**टीका**

इस तरह यदि हम इन रूपभेदों के कारण हो सकें, तो मैं उद्वेग को कर्म के अर्थ में लेता हूँ, विपरीत अवस्था में बहिर्जात उद्वेग के अर्थ में।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## स्वीकृत पक्ष

१. यह स्वीकृत पक्ष या स्वयंतथ्य स्वीकृत पक्ष १ पर और प्रमेयिका ५ और ७ पर आधारित हैं, जिन्हें देखिए भाग २, साध्य १३ के अन्त में।

२. मनुष्य के शरीर में बहुतेरे परिवर्तन हो सकते हैं और इस पर भी यह पदार्थों के प्रभावों या चिन्हों को सुरक्षित रख सकता है (भाग २ साध्य ५) और इसके परिणामस्वरूप पदार्थों के उन्हीं प्रतिबिम्बों को (भाग २, साध्य १७, टिप्पणि)..... "

ऊपर स्पिनोजा के जो अंश उद्धृत हैं, उनमें उद्वेग की परिभाषा तीसरी है। किन्तु यह परिभाषा यदि हम ऊपर-नीचे के संदर्भों को ध्यान में रखकर नहीं देखेंगे, तो परिभाषा स्पष्ट नहीं होगी। स्वीकृत पक्ष के अंतर्गत दूसरे भाग के संदर्भ दिए हुए हैं। उन सब को ध्यान में रखकर जब हम उक्त परिभाषा पर विचार करेंगे, उस समय उक्त परिभाषा ठीक से समझ में आयेगी।

प्रथम परिभाषा– **पर्याप्त कारण** की है। कारण के साथ परिणाम जुड़ा रहता है। परिणाम यदि विमल और स्पष्ट रूप में ज्ञात है, तो फिर उक्त परिणाम के कारण को **पर्याप्त कारण** कहना चाहिए। यदि परिणाम स्पष्ट और विमल रूप में (ठीक ठीक कह लीजिए) ज्ञात नहीं है, तो उक्त परिणाम के कारण को **अपर्याप्त या आंशिक कारण** कहना चाहिए।

**पर्याप्त कारण** की इस परिभाषा पर दूसरी परिभाषा आधारित है।

दूसरी परिभाषा '**हमारे सकर्मक होने**' की है। स्पिनोजा मानते हैं कि हम कुछ करते हैं। इस तरह कुछ करते समय या सकर्मक रहते समय हमारे अन्दर या बाहर कोई ऐसी घटना घटती है जिसके हम पर्याप्त कारण हैं। इस पर्याप्त कारण की परिभाषा ऊपर दे दी गई है। पर्याप्त कारण कहने के बाद यह स्पष्ट है कि उसका परिणाम विमल और स्पष्ट है। हम कुछ करते हैं या सकर्मक हैं, उस समय हमारे अन्दर या बाहर कोई ऐसी घटना घटती है– इस घटना को हम विमल और स्पष्ट रूप में जाने तो यह परिणाम और हम उक्त परिणाम के पर्याप्त कारण हैं, ऐसा मानना चाहिए। ठीक इसी तरह स्पिनोजा का कहना है कि '**हम सहते या प्रहारित होते हैं**' – इस स्थिति में हम पर्याप्त कारण नहीं होते। इस स्थिति में हमारी प्रकृति में कोई घटना अन्दर या बाहर घटती है, उसका हम आंशिक कारण ही होते हैं।

पर्याप्त कारण को हमारे सकर्मक होने से जोड़ा गया है और अपर्याप्त कारण को हमारे सहने या प्रहारित होने से।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



उद्वेग का सम्बन्ध शरीर के रूप भेदों से बतलाया गया है। स्पिनोजा ने शरीर की परिभाषा अलग से दी है। शरीर के सम्बन्ध में लिखा है–

"शरीर से मेरा अभिप्राय ऐसे आकार से है जो एक विशेष निर्णीत रूप में ईश्वर के सार को प्रकट करता है; उस हद तक जहाँ तक ईश्वर का एक विस्तृत अभिव्यक्ति की स्थिति में चिन्तन किया जाता है।"[६]

यह तो शरीर की परिभाषा हुई। शरीर के सम्बन्ध में और भी ठीक निश्चित विधान भाग २, साध्य १३ में दिया है। वह इस प्रकार है–

"जिस प्रत्यय से मनुष्य का मन बना है, उसका विषय शरीर है, या विस्तार का एक विशेष आकार जिसका वास्तविक अस्तित्व है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।"[७]

इस परिभाषा में (यह साध्य है) प्रत्यय शब्द है। प्रत्यय की परिभाषा इस प्रकार की गई है–

"प्रत्यय से मेरा अभिप्राय मन के ऐसे विचार से है, जो मन चिन्तक होने के कारण करता है।"[८]

इस तरह हम देखते हैं कि स्पिनोजा की परिभाषाएँ तथा साध्य आपस में एक-दूसरे से इस तरह आबद्ध हैं कि एक के अभाव में दूसरे को स्पष्ट करना कठिन प्रतीत होता है। स्पिनोजा का चिन्तन अद्वैतवादी चिन्तन है। वे शरीर के रूपभेदों में ईश्वर के विद्यमान होने को स्वीकार करते हैं। ऊपर भाग २, साध्य १३ लिखा गया है। उसीको सिद्ध करने के लिए उन्होंने उपपत्ति दी है। उपपत्ति इस प्रकार है–

"उपपत्ति : अब यदि शरीर मानुषी मन का विषय नहीं है, तो शरीर के रूपभेदों के प्रत्यय ईश्वर में विद्यमान नहीं होंगे (भाग २, साध्य ९, उपप्रमेय) इस अंश में कि ईश्वर हमारे मन या किसी अन्य वस्तु के मन का उपादान है, अर्थात् (भाग २, साध्य ११, उपप्रमेय) शरीर के रूपभेदों के प्रत्यय हमारे मन में नहीं होंगे, परन्तु (भाग २, स्वयं ४) शरीर के रूप भेदों के प्रत्यय हमारे मन में हैं। इसलिए जिस प्रत्यय से मनुष्य का मन बना है, उसका विषय शरीर है, और वह (भाग २, साध्य ११) वास्तविक अस्तित्व रखने वाला। इसके अतिरिक्त यदि मन का कोई अन्य विषय भी होता, तो, चूँकि (भाग १, साध्य ३६) प्रत्येक विद्यमान वस्तु का कुछ परिणाम होता है, इसलिए (भाग २, साध्य ११) अनिवार्य रूप में हमारे मन में ऐसा प्रत्यय होना चाहिए, जो उस विषय का परिणाम है। परन्तु (भाग २, स्वयं ५) इसका कोई प्रत्यय मिलता नहीं। इसलिए हमारे मन का विषय विद्यमान शरीर है, और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इति सिद्धम।"[९]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



स्पिनोजा की पुस्तक में से सम्बन्धित भाग तीसरा भाग है और इस भाग में इससे पूर्व दोनों भागों के सन्दर्भ जगह-जगह पर हैं। इसलिए यदि हम तीसरे भाग मात्र को पढ़ने लगेंगे तो कठिनाई होगी। उद्वेग को शरीर का रूपभेद माना गया है। शरीर को मन का विषय कहा गया है। भाग २, साध्य १३ के अन्तर्गत ही उपप्रमेय में कहा है कि मनुष्य, मन और शरीर दोनों से बना हुआ है। मनुष्य का शरीर उसी स्थिति में विद्यमान है, जिसमें हम इसे अनुभव करते हैं। इस बात को उक्त उपप्रमेय की टिप्पणि में विस्तार के साथ समझाया गया है। मुख्य बात यह है कि उद्वेग का सम्बन्ध शरीर के रूपभेदों से है। ऐसे रूपभेद जिनसे शरीर की क्रियाशक्ति बढ़ती या घटती या सहायता पाती या रुकती है और इसके साथ इन रूपभेदों के प्रत्यय भी अभिप्रेत हैं। उद्वेग को स्पिनोजा कर्म के अर्थ में भी लेते हैं। परिभाषा की टीका में ही लिखा है कि यदि हम रूपभेदों के कारण हो सकें तो मैं उद्वेग को कर्म के अर्थ में भी लेता हूँ। स्पष्ट है कि यहाँ स्पिनोजा ने पर्याप्त कारण तथा अपर्याप्त कारण के आधार पर उद्वेगों के भेद किये हैं। यदि शरीर के रूपभेदों के हम पर्याप्त कारण हैं, तो उद्वेग को कर्म के अर्थ में लिया जाएगा और अपर्याप्त कारण हैं तो उसे बहिर्जात उद्वेग कहा जाएगा।

शरीर के रूपभेदों पर विचार करते समय हमें प्राकृतिक रूपभेदों पर विचार करना चाहिए। इस तरह का विचार स्पिनोजा ने किया है। प्राकृतिक पदार्थों के विषय में उनका कहना है कि– (१) सभी भौतिक पदार्थ या तो गति में हैं या अचल हैं और (२) प्रत्येक भौतिक पदार्थ कभी मंद गति से और कभी तेज गति से क्रियाशील किया जाता है।"[१०] भौतिक पदार्थ की क्रियाशीलता से मनुष्य के शरीर की क्रियाशीलता को अलग से समझाने के लिए स्पिनोजा ने भौतिक पदार्थों की क्रियाशीलता पर विचार किया है। भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में स्पिनोजा ने भाग २, साध्य १३ के अन्त में सात प्रमेयिकाएँ दी हैं। वे इस प्रकार हैं–[११]

प्रमेयिका १– भौतिक पदार्थों में एक दूसरे से भेद चल या अचल होने में, तीव्रता या मंदता में होता है, द्रव्य के सम्बन्ध में नहीं होता।

प्रमेयिका २– सभी भौतिक पदार्थ कुछ बातों में एक-दूसरे से मिलते हैं।

प्रमेयिका ३– जो भौतिक पदार्थ गति में या अचल है, वह अपनी गति या अचलता के लिए अवश्य किसी दूसरे पदार्थ से निर्णित हुआ होगा, जो पदार्थ भी गति वा अचलता के लिए किसी दूसरे पदार्थ से निर्णित हुआ होगा, और यह किसी तीसरे पदार्थ से, और इसी तरह अनन्तता तक।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रमेयिका ४– यदि किसी ऐसी वस्तु में से जो कई वस्तुओं की बनी है, कुछ भाग अलग कर दिये जाए, और उसी समम उसी प्रकृति के उतने ही भाग उनका स्थान ले लें, तो वह वस्तु पहले की तरह अपनी प्रकृति को, अपनी आकृति में किसी परिवर्तन के बिना कायम रहेगी।

प्रमेयिका ५– यदि किसी व्यक्ति के भाग मात्रा में अधिक या कम हो जाएँ, परन्तु ऐसे समानुपात में कि वे गति और अचलता के सम्बन्ध में अपने दरमियान पहले अनुपात कायम रखते हैं, तो व्यक्ति, आकृति के किसी परिवर्तन के बिना, पहले की तरह अपनी प्रकृति कायम रखेगा।

प्रमेयिका ६– यदि कुछ वस्तुएँ जो किसी व्यक्ति का भाग हैं, अपनी गति को जो वे एक दिशा में रखती थीं, भिन्न दिशा में करने पर बाधित हो, परन्तु इस रीति में कि वे अपनी गति को जारी रख सकें और एक दूसरी के सम्बन्ध में गति और अचलता का पहला अनुपात बनाये रखें, तो व्यक्ति आकार में किसी परिवर्तन के बिना अपनी प्रकृति कायम रखेगा।.

प्रमेयिका ७– इसके अतिरिक्त, व्यक्ति जो इस तरह मिश्रित हुआ है, अपनी प्रकृति को कायम रखता है, चाहे समग्र स्थिति में इसे गतिमान् किया जाए या यह अचल रहे, चाहे इस दिशा में या उस दिशा में गतिमान् किया जाए, इस शर्त पर कि प्रत्येक भाग पहले की तरह अपनी गति को कायम रखे और प्रदान करे।"

इन प्रमेयिकाओं को ध्यान में रखकर शरीर के रूपभेदों पर विचार करना चाहिए। इस तरह से विचार करने पर ही 'उद्वेग' का स्वरूप ठीक से स्पष्ट हो सकेगा।

## – ३ –

नीति पुस्तक के तीसरे भाग में उद्वेगों के स्रोत और उनकी प्रकृति से सम्बन्धित ५९ साध्य हैं। ये सभी साध्य ऐसे हैं, जिनके आधार पर मन और शरीर का सम्बन्ध स्पष्ट होता है और इन सम्बन्धों के आधार पर उद्वेगों की स्थिति स्पष्ट होती है। मन शरीर से नियंत्रित होता है या शरीर मन से नियंत्रित होता है और दोनों का आपस से नियंत्रण का अनुपात किस रूप में पहचाना जाए? इस बात को स्पिनोजा ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया है। उद्वेग के साथ कर्म जुड़ा हुआ है। शुक्लजी ने उद्वेग के लिए मनोवेग शब्द का प्रयोग किया है, जो उचित लगता है। शुक्लजी ने भाव को स्पष्ट करने के लिए मनोवेग तथा मनोविकार के स्तर पर भाव को परखा। शुक्लजी भाव को (चिन्तामणि भाग १

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



में) मनोविकार के पर्याय के रूप में बतलाते हैं। उनके अनुसार भाव—"प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेश का नाम भाव है।"[१२] शुक्लजी की इस परिभाषा से स्पिनोजा की उद्वेग की परिभाषा एकदम भिन्न है। सब से बड़ा अन्तर दृष्टिकोण का है। प्रथम अन्तर तो यह है कि स्पिनोजा ने साहित्य पर विचार नहीं किया। शुक्लजी साहित्य को आधार मान कर भाव पर विचार करते हैं। ठीक इसके विपरीत कहिए या दृष्टिकोण में भेद मान लीजिए– स्पिनोजा उद्वेगों पर विचार करते समय ईश्वर को भूलते नहीं हैं। उद्वेगों को स्पष्ट करते समय मन और शरीर का जो सम्बन्ध बतलाया गया है, उसमें ईश्वर आ गया है। शुक्लजी ने ईश्वर की कोई चर्चा ही नहीं की। न ही भावों के स्पष्टीकरण में उन्होंने इस चर्चा को आवश्यक माना। स्थूल अन्तर स्पष्ट करना हो तो हम यों कह सकते हैं कि शुक्लजी के भावों के विवेचन के केन्द्र में साहित्य है और स्पिनोजा के उद्वेगों के केन्द्र में अध्यात्म है। साहित्यिक विवेचन और आध्यात्मिक विवेचन दोनों में जो भेद हो सकता है, वह भेद यहाँ दिखलाई देगा।

शुक्लजी भाव के विवेचन में प्रत्यय-बोध को प्रधानता देते हैं। सुख और दुःख तो इन्द्रियज वेदना है और इसका अनुभव तो प्राणी वर्ग करता ही है। ये पहले या आदिम अवस्था में वासना रूप में स्थित रहते हैं। वासना के स्तर पर प्राणी-वर्ग और मनुष्य में राग और द्वेष की दृष्टि से विशेष भेद नहीं मानना चाहिए। शुक्लजी मानते हैं कि उन्नत योनियों में वासनाओं की नींव पर भावों की प्रतिष्ठा होती गई। इन्द्रियज सुख दुःख में प्रत्यय-बोध आवश्यक नहीं माना गया। किन्तु भाव के लिए प्रत्यय-बोध आवश्यक है। सुख दुःख इन्द्रियज है– वासना है, जबकि हर्ष-शोक प्रत्यय-बोध पर आधारित है। शुक्लजी लिखते हैं–

"इन्द्रियज संवेदन वेदना-प्रधान होता है, वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है और भाव वेद्य-प्रधान (आलम्बन-प्रधान) होता है। वासनात्मक-प्रवृत्ति में लक्ष्य और आलम्बन भावना या प्रत्यय रूप में निर्दिष्ट नहीं होते। बहुत से कोई भारी शब्द या खटका सुनते ही भाग खड़े होते हैं। मनुष्य भी कभी-कभी ऐसा करता है। इस प्रकार की चेष्टा केवल इन्द्रियज संवेदन पर निर्भर रहती है। प्रत्येक भाव का आदिम वासनात्मक रूप प्रायः इसी प्रकार का होता है और उसका विधान शरीर की भीतरी और बाहरी बनावट के अनुसार होता है।"[१३]

और तो और शुक्लजी ने साफ लिख दिया कि प्रत्यय-बोध की प्रधानता के कारण साहित्यिकों ने भाव शब्द का प्रयोग किया है। लिखा है–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



"प्रत्यय-बोध की ओर लक्ष्य करके ही साहित्यिकों ने भाव शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है चित्त की चेतन दशा विशेष। रति, क्रोध, भय आदि वासनात्मक अवस्था में किसी चेतन दशा की अपेक्षा नहीं। वासना या संस्कार प्राणी में केवल क्रिया के समय में ही नहीं और काल में भी बराबर निहित रहता है, पर भाव का विधान केवल उद्दीपन और क्रिया के समय होता है, उसके उपरान्त नहीं रह जाता।"[१४]

स्पष्ट है कि भाव के विवेचन में साहित्य केन्द्र में है।

भाव वेद्य-प्रधान है, आलम्बन-प्रधान है और उसका अर्थ चित्त की चेतन दशा है। भाव को शुक्लजी ने कर्म से भी जोड़ा है। वासना के आधार पर जो क्रिया होती है, उसमें और भाव के आधार पर जो क्रिया होती है, उसमें शुक्लजी ने स्पष्ट भेद किया है। वे मानते हैं कि भाव के आधार पर जो क्रिया होती है, वह बहुरूपिणी होती है। वासना में प्रवृत्ति की झलक रहेगी जब कि भाव में प्रत्यय-बोध का प्रभाव रहेगा। स्पिनोजा के प्रत्यय में और शुक्लजी के प्रत्यय-बोध में अन्तर है। स्पिनोजा के अनुसार प्रत्यय मन का ऐसा विचार है जो मन चिन्तक होने के कारण करता है। इसमें उनका कहना है कि- "मैं प्रत्यक्ष के स्थान पर विचार का प्रयोग करता हूँ, क्योंकि प्रत्यक्ष शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि मन विषय से आकान्त है, जहाँ कि क्रिया मन की क्रिया का सूचक प्रतीत होता है।"[१५] स्पिनोजा के प्रत्यय में आलम्बन पर विचार ही नहीं किया गया है। वे तो प्रत्यय को मन का विचार मानते हैं और मन को चिन्तक माना गया है। भाग २, साध्य १ के अन्तर्गत स्पिनोजा ने कहा है कि चिन्तन ईश्वर का एक गुण है। इस नाते जब मन को चिन्तक कह दिया जाता है तो मन को ईश्वर से जोड़ा गया है। इस तरह स्पिनोजा के प्रत्यय में अध्यात्म है। स्पिनोजा वासना तथा भाव इस तरह का कोई अन्तर बतलाते ही नहीं। मुख्य बात यह है कि स्पिनोजा मन को विषय से आक्रान्त न कहकर (ऐसा कहने पर मन का प्रत्यक्ष कहा जाता) मन की क्रिया का सूचक (विचार को) कहा है। शुक्लजी के प्रत्यय-बोध में मन विषय से आक्रान्त है। यह विषय आलम्बन है। स्पिनोजा ने आलम्बन आदि का उल्लेख ही नहीं किया। स्पिनोजा के उद्वेग को हम न वासना कह सकते हैं और न भाव। वासना में सहजात प्रवृत्ति है और भाव में चित्त की चेतन दशा है। भाव के आधार पर जो क्रिया होती है, वह बहुरूपिणी होती है, ऐसा शुक्लजी का विचार है। स्पिनोजा तो उद्वेग को सीधे कर्म से जोड़ते हैं। अतः भाव और उद्वेग दोनों में भेद बतलाते समय हमें कर्म को प्रधान रूप से आधार मान कर चलना होगा क्योंकि जिस तरह भाव का सम्बन्ध कर्म से दिखलाया गया है, उसी तरह उद्वेगों का सम्बन्ध भी कर्म से दिखलाया गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



भाव को स्पष्ट करने के लिए शुक्लजी मनोविकारों का विवेचन करते हैं। मनोविकारों को उद्वेगों के निकट मानना चाहिए। इस निकटता की पहचान कर्म के या क्रिया-शक्ति के आधार पर संभव है। स्पिनोजा मानते हैं कि हम कुछ करते हैं अर्थात् सकर्मक हैं। जिस तरह हम सकर्मक हैं, उस तरह और मनुष्य भी सकर्मक हैं। सकर्मक होने में हमारे अन्दर या बाहर कुछ घटना घटित होती रहती है और इस घटना के हम पर्याप्त कारण रहते हैं; ठीक इसी तरह हम सहते या प्रहारित होते हैं– इस स्थिति में दूसरों के सकर्मक होने का हम पर प्रभाव पड़ता है और इस स्थिति में हमारे अन्दर या बाहर जो घटना घटित होती है उसके हम अपर्याप्त कारण होते है। दोनों ही स्थितियों में हमारे शरीर में रूपभेद होता है। इस रूपभेद के कारण हमारी क्रिया-शक्ति बढ़ती है, घटती है, सहायता पाती है या रुकती है— इस तरह के रूपभेद को–शरीर के रूप-भेद को– हम उद्वेग कहते हैं। पर्याप्त कारण की स्थिति में जो रूपभेद होगा वह कर्म होगा और अपर्याप्त कारण की स्थिति में जो रूपभेद होगा, उसे हम बहिर्जात उद्वेग कहेंगे।

शुक्लजी भी भाव का विवेचन करते समय भाव को कर्म से सीधे जोड़ते हैं। वे रूपभेद की चर्चा भी करते हैं। उनके अनुसार भाव ही कर्म के मूल प्रवर्तक हैं और शील के संस्थापक। शुक्लजी मानते हैं कि भाव के अनुसार जो क्रिया होती है, वह बहुरूपिणी होती है। शुक्लजी भाव से कर्म की ओर जाते हैं, जब कि स्पिनोजा कर्म से उद्वेग की ओर जाते हैं। वे उद्वेगों का सीधा सम्बन्ध क्रिया-शक्ति से ही जोड़ते हैं। इस शक्ति के कारण ही शरीर के रूपभेद होते हैं। शरीर के रूपभेद दिखलाने में और क्रिया को बहुरूपिणी दिखलाने में क्रम बदला हुआ है। शुक्लजी मानते हैं कि भाव को प्रतिष्ठा से क्रिया केवल विषय के सम्पर्क काल में ही नहीं होती बल्कि आगे-पीछे भी होती है। वे लिखते हैं –

"भाव की प्रतिष्ठा से प्राणियों के कर्मक्षेत्र का विस्तार बढ़ गया। भाव मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है, वह क्षुत्पिपासा, कामवेग आदि शरीरवेगों से भिन्न है।" १६

शुक्लजी ने वैसे शरीर-वेग और मनोवेग दोनों में भेद किया है। वे क्षुत्पिपासा तथा कामपिपासा को शरीर-वेग कहते हैं। भाव को वे मन की वेग-युक्त अवस्था कहते हैं। वैसे डॉ. दीवानचन्द्र ने उद्वेग–शब्द का प्रयोग इमोशन (Emotion) शब्द के लिए किया है। इस उद्वेग के अन्तर्गत शरीर-वेग और मन के वेग दोनों का समाहार हो जाता है। शरीर तथा मन के भेद मानकर रूपभेदों पर स्पिनोजा विचार ही नहीं करते। मन तो मूर्त नहीं है किन्तु शरीर तो मूर्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



हैं। उद्वेग शरीर में ही मूर्त होते हैं, इसलिए शरीर के रूपभेद को उद्वेग कहना उचित प्रतीत होता है।

भाव और उद्वेग-दोनों के अन्तर को समझने के लिए हम चाहें तो शुक्लजी और स्पिनोजा की कुछ परिभाषाओं को देख सकते हैं। चिन्तामणि भाग १, में शुक्लजी ने भावों का विवेचन मनोविकारों के रूप में किया है। वहाँ जो परिभाषाएँ (निबन्धों में) दी गई हैं, वे मनोविकारों की हैं। स्पिनोजा ने भी अपने ग्रन्थ के तीसरे भाग के अन्त में उद्वेगों की परिभाषाएँ दी हैं। शुक्लजी तो निबन्ध लिखते हैं और उनके पास इतनी सुविधा है कि वे सम्बन्धित मनोविकार पर (सम्बन्धित विषय पर) विस्तार के साथ सोदाहरण जानकारी दें। इस तुलना में स्पिनोजा तो निबन्ध लिखते नहीं हैं, उन्हें तो सूत्र रूप में उद्वेग को भाषिक मर्यादा में स्पष्ट करना है। स्पिनोजा का कार्य अधिक कठिन है। शुक्लजी ने जो परिभाषाएँ दी हैं, वे परिभाषाएँ कहकर नहीं दी हैं। निबन्ध पढ़ते समय हमें लगता है कि यह करुणा की परिभाषा है, यह प्रेम की परिभाषा है। अतः हम निबन्ध की कुछ विशेष पंक्तियों को परिभाषा मान लेते है। उक्त परिभाषा में कुछ भाग छूट सकता है जिसे शुक्लजी अगले अनुच्छेद में स्पष्ट करते हैं। फिर वे उक्त मनोविकार का भेद भी करते चलते हैं और समझाने के लिए उदाहरण भी देते हैं। स्पिनोजा तो यह सब करते ही नहीं। इन स्थितियों को ध्यान में रखकर ो दोनों की परिभाषाओं पर विचार करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर केवल प्रेम की परिभाओं की तुलना की जा रही है।

— ४ —

## स्पिनोजा के अनुसार प्रेम की परिभाषा

"प्रेम वह सुख है जिसके साथ किसी बाहरी कारण का प्रत्यय मिला हो।" १७

स्पिनोजा प्रेम को उद्वेग मानते हैं और प्रेम की यह परिभाषा उद्वेग के रूप में है। इस परिभाषा में सुख शब्द महत्त्वपूर्ण है। सुख की परिभाषा स्पिनोजा ने अलग से दी है। वह इस प्रकार है–

"सुख मनुष्य का वह स्थिति-परिवर्तन है जिसमें वह पूर्णता की अधम स्थिति से उत्तम स्थिति को जाता है।" १८

सुख को स्पष्ट करते हुए टीका के अन्तर्गत लिखा है–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



"मैं स्थिति-परिवर्तन कहता हूँ, क्योंकि सुख स्वयं पूर्णता नहीं, क्योंकि यदि वह पूर्णता जिसे मनुष्य प्राप्त करता है, जन्मजात होती, तो उसकी प्रकृति में सुख का उद्वेग न होता।" १९

अपनी परिभाषा को ठीक मानते हुए स्पिनोजा ने परिभाषा के बाद तुरंत टीका लिखी है। वह इस प्रकार है–

"यह परिभाषा पर्याप्त रूप में प्रेम के सार को प्रकट करती है। जो लेखक इसकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि प्रेम प्रेमी के प्रिय से युक्त होने की अभिलाषा है, वे प्रेम की परिभाषा नहीं करते, अपितु इसके एक गुण का वर्णन करते हैं, और चूंकि इन लेखकों ने प्रेम के सार को पर्याप्त रूप में नहीं देखा, इसलिए उन्हें इसके गुण का भी स्पष्ट ज्ञान नहीं, और इसलिए उनकी परिभाषा सबको अति अस्पष्ट दीखती है। परन्तु यह कह दूं कि जब मैं कहता हूँ कि प्रेम के सार का यह एक गुण है कि प्रेमी अपने प्रेम विषय से संयुक्त होने की इच्छा करता है, तो संकल्प या इच्छा से मेरा अभिप्राय स्वीकृति, निश्चय या स्वाधीन निर्णय नहीं (क्योंकि हम भाग २, साध्य ४८ में दिखा चुके हैं कि यह कल्पना मात्र है), न प्रिय की अनुपस्थिति में प्रेमी की उससे मिलने की अभिलाषा, न ही उसकी उपस्थिति में उसके साथ टिके रहने की अभिलाषा (क्योंकि इन दोनों अभिलाषाओं में प्रेम की कल्पना ही रुकती है)। अभिलाषा से मेरा अभिप्राय वह तुष्टि है जो प्रिय वस्तु की उपस्थिति के कारण प्रेम में विद्यमान होती है, जिससे प्रेमी की प्रसन्नता कायम रहती है, कम-से-कम अभीष्ट होती है।" २०

## शुक्लजी द्वारा प्रेम की दी गई परिभाषा

"विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं।" २१

इस परिभाषा में लोभ शब्द महत्त्वपूर्ण है। शुक्लजी ने लोभ की अलग से परिभाषा दी है–

"किसी प्रकार का सुख या आनन्द देनेवाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को, जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं।" २२

प्रेम के सम्बन्ध में दोनों के विधानों को देखें तो स्पिनोजा अधिक परिपूर्ण हैं। इतने संक्षेप में और इतने स्पष्ट रूप में प्रेम की दूसरी परिभाषा नहीं दी जा सकती। शुक्लजी की तरह लोभ और प्रीति ऐसा भेद स्पिनोजा ने नहीं माना।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



'बाहरी कारण का प्रत्यय' कहते समय यह भेद करने की आवश्यकता ही नहीं रही कि वह कारण वस्तु है या व्यक्ति है। वस्तु या व्यक्ति विशेष सामान्य है; इसकी भी आवश्यकता नहीं है। बाहरी कारण के अन्तर्गत सभी का समावेश है। फिर सात्त्विक रूप प्राप्त होगा तभी लोभ प्रेम में परिणत होगा, ऐसा कहने की जरूरत नहीं रही। बात यह है कि स्पिनोजा प्रेम को सुख मानते हैं और सुख के सम्बन्ध में स्पिनोजा का निश्चित विधान है। अतः वे प्रेम को सुख मानते 'बाहरी कारण के प्रत्यय' के मिले होने को स्वीकार करते हैं। प्रत्यय के सम्बन्ध में पीछे लिखा गया है। प्रत्यय मन का विचार है। यहाँ फिर दोहरा दूँ कि स्पिनोजा जानते हैं कि वे परिभाषा लिख रहे हैं। उनके लेखन में सजगता और पूर्वापर सम्बन्ध के प्रति वे सतर्क हैं। शुक्लजी ने परिभाषाएँ लिखी हैं किन्तु उन्होंने परिभाषा को भी परिभाषा कहाँ कहा है? वे तो निबन्ध लिख रहे हैं और निबन्ध में विषय का विश्लेषण और विवेचन दोनों हैं। पहले वे कुछ विधान करते हैं– (किसी विषय के सम्बन्ध में) – और बाद में वे उसे समझाते हैं। समझाने में उन्हें भेद करके चलना पड़ता है। इसलिए वे विषय को खण्ड-खण्ड रूप में बाँटकर सोदाहरण अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। ऊपर जो परिभाषाएँ दी गई हैं, वे बीच में से ही हैं। केवल इन परिभाषाओं के आधार पर बात पूरी नहीं होती। शुक्लजी का पूरा निबन्ध और स्पिनोजा की परिभाषा देखने से ही ठीक तुलना हो सकती है। संक्षेप में यह मान लें कि भाव को मनोविकार के रूप में स्पष्ट करते समय शुक्लजी साहित्य को केन्द्र में रखना नहीं भूलते। इसी तरह उद्वेग की परिभाषा (चाहे प्रेम हो या और कोई) देते समय स्पिनोजा ईश्वर को भूलते नहीं हैं। इस विषय पर आगे विस्तार से विचार किया जायगा। यहाँ पर उद्वेग के सम्बन्ध में स्पिनोजा की सामान्य धारणा को स्पष्ट किया जा रहा है। तीसरे भाग में उद्वेगों की परिभाषाएँ देने के बाद अन्त में वे उद्वेगों के सम्बन्ध में अपनी सामान्य अवधारणा को फिर स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उसके अनुसार उद्वेग की सामान्य परिभाषा इस प्रकार है–

"उद्वेग, जिसे आत्मा की प्रहारितता कहते हैं, एक अस्पष्ट प्रत्यय है, जिससे मन अपने शरीर या इसके किसी भाग की बाबत प्रतिज्ञा करता है कि पहले की अपेक्षा इसके अस्तित्व की शक्ति बढ़ गई है या घट गई है, और इसकी स्वीकृति पर मन उसके कारण किसी विशेष पदार्थ का चिन्तन करने पर निर्णीत होता है।" [२३]

उद्वेगों की सामान्य परिभाषा लिखने के बाद तुरंत टीका लिखी है, जिसमें स्पिनोजा ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



"प्रथम तो मैं कहता हूँ कि उद्वेग या आत्मा का बहिर्जात वेग एक अस्पष्ट प्रत्यय है। क्योंकि हम दिखा चुके हैं कि जिस हद तक मन के प्रत्यय अपर्याप्त या अस्पष्ट होते हैं, उसी हद तक यह आक्रान्त या निर्धारित होता है। फिर मैं कहता हूँ कि इसके साथ मन अपने शरीर या इसके किसी भाग की बाबत पहले की अपेक्षा अधिक या न्यून अस्तित्व की शक्ति की प्रतिज्ञा करता है। क्योंकि पदार्थों के जितने भी प्रत्यय हम में होते है, वे बाहरी पदार्थ की प्रकृति की अपेक्षा हमारे शरीर की वास्तविक परिस्थिति की बाबत सूचना देते हैं (भाग ३, साध्य १६, उपप्रमेय २)। परन्तु यह आवश्यक है कि यह प्रत्यय; जो उद्वेग की आकृति है, शरीर या उसके किसी भाग की परिस्थिति को प्रकट या सूचित करे, जो परिस्थिति शरीर या इसके भाग ने इस तथ्य के परिणास्वरूप प्राप्त की है कि इसकी क्रिया-शक्ति या अस्तित्व-शक्ति बढ़ी या घटी है, पुष्ट हुई या रूकी है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब मैं पहले की अपेक्षा अधिक या न्यून अस्तित्व-शक्ति कहता हूँ, तो मेरा अभिप्राय यह नहीं कि मन शरीर की वर्तमान स्थिति की तुलना भूतकाल की स्थिति से करता है, अपितु यह कि जो प्रत्यय उद्वेग की आकृति है, शरीर की बाबत ऐसी प्रतिज्ञा करता है, जिससे पहले की अपेक्षा अधिक या न्यून अस्तित्व वास्तव में निर्दिष्ट है।" २४

भाव के विवेचन में शुक्लजी साहित्य की ओर से मनोविज्ञान की ओर आए और भाव का विवेचन उन्होंने मनोविकार के रूप में विस्तार से किया। यद्यपि ऐसा करते समय साहित्य उनके केन्द्र में रहा है तथापि वे मनोविकारों का विवेचन तथा विश्लेषण विषयपरक करते हैं और इसमें मनोविज्ञान से सहायता लेते हैं। इस नाते भाव का यह स्वतंत्र विवेचन उद्वेग के निकट है, ऐसा मानना चाहिए। इस विवेचन में उन्होंने भाव के स्थान पर मनोविकार शब्द रखना ठीक माना है। भाव शब्द में मनोविकार की व्याप्ति है। भाव को ठीक रूप में जानने के लिए मनोविकार से परिचित होना आवश्यक है क्योंकि हम जिसकी व्याप्ति देखना या या अनुभव करना चाहते हैं प्रथमतः उसे तो समझ लें। जब हम मनोविकार से परिचित हो जाएँगे तो भाव से परिचित होना सरल हो जायगा। इसलिए भाव की मूलदशा, जिसे वे भावदशा कहते हैं, उस पर विस्तार से विचार करते हैं। रसदशा तथा शीलदशा में भाव की व्याप्ति है। इन तीनों दशाओं में उद्वेग का सम्बन्ध विषय की दृष्टि से भावदशा से मानना चाहिए।

भाव और उद्वेग दोनों के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि दृष्टिकोण में भेद होने के कारण तथा लेखन-पद्धति में (गठन में या तकनीक में) भेद होने के कारण ऐसा हुआ है। जहाँ तक उद्वेग की बात है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



इस लेख में उद्वेग को ही स्पष्ट करना मुख्य प्रयोजन है, वहाँ तक हम यह कह सकते हैं कि उद्वेग को स्पिनोजा ने मनुष्य की क्रिया-शक्ति या अस्तित्व-शक्ति के साथ जोड़ा है। उसे आत्मा की प्रहारितता कहा है। और इस तरह कहते समय मनुष्य में ईश्वर के अंश को पहचानने का प्रयत्न किया है। स्पिनोजा के विचारों के केन्द्र में ईश्वर रहा है। इस नाते उद्वेग को स्वयं मानवीय शक्ति के स्त्रोत के रूप में पहचानने का प्रयत्न किया गया है। एक वैज्ञानिक के रूप में उद्वेगों के स्त्रोत और उसकी प्रकृति को स्पिनोजा ने स्पष्ट किया है। यह बात अलग है कि ये उद्वेग भावदशा के निकट हैं। भावदशा से निकट होने पर भी ये अपने आप में भाव की सभी स्थितियों को आत्मसात् किए हुए हैं। शुक्लजी भाव को स्पष्ट करने के लिए मनोविकार या भावदशा की प्रकृति का विवेचन करते हैं जब कि स्पिनोजा मानवीय लक्षण ( क्रिया-शक्ति या अस्तित्व-शक्ति ) के रूप में उद्वेगों का विवेचन करते हैं।

हिन्दी विभाग — राजमल बोरा
मराठवाडा विश्वविद्यालय
औरंगाबाद

## टिप्पणियाँ

१. **रस-मीमाँसा**, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक : आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, संवत् २०११, पृ. २४४.
२. **रस-मीमाँसा**, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. ४२६–४२७.
३. **स्पिनोजा : नीति**, अनुवादक– डॉ. दीवानचन्द्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९६२ ई. पृ. १०६.
४. वहीं– पृ. १०४–१०५.
५. वहीं– पृ. १०५–१०६.
६. वहीं– पृ. ५५
७. वहीं– पृ. ६६
८. वहीं– पृ. ५५
९. वहीं– पृ. ६६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



१०. वहीं– पृ. ६७.
११. वहीं– पृ. ६७ से ७०.
१२. **रस-मीमाँसा,** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. १६९.
१३. वहीं– पृ. १६२.
१४. वहीं– पृ. १६२–१६३.
१५. स्पिनोजा : **नीति,** अनुवादक : डॉ. दीवानचन्द्र, पृ. ५५
१६. **रस-मीमाँसा,** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. १६४.
१७. स्पिनोजा : **नीति,** अनुवादक– डॉ. दीवानचन्द्र, पृ. १५७.
१८. वहीं– पृ. १५५.
१९. वहीं– पृ. १५५.
२०. वहीं पृ. १५७.
२१. **चिन्तामणि भाग १,** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९६२ ई. संस्करण, पृ. ६९.
२२. वहीं– पृ. ६९.
२३. स्पिनोजा : **नीति,** अनुवादक– डॉ. दीवानचन्द्र, पृ १६७.
२४. वहीं– पृ. १६७–१६८.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# ग्रन्थ-समीक्षाएँ

## ( १ )

पवनकुमारी (डॉ.); **पातंजल योगसूत्र : एक समालोचनात्मक अध्ययन**, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९७९; मूल्य : रु. ६०।– सजिल्द

पातञ्जल योगसूत्र के अनेक अध्ययन हुए हैं, किन्तु डॉ. पवन कुमारी का प्रस्तुत समालोचनात्मक अध्ययन वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी तथा विज्ञान-भिक्षु की योगवार्त्तिक नामक टीकाओं के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। हिन्दी में उपलब्ध योग सम्बन्धी दार्शनिक साहित्य में इस पुस्तक का विशेष स्थान है।

समूची पुस्तक ९ अध्यायों में विभाजित है। साथ ही भूमिका तथा उपसंहार भी दे दिए गए हैं। पहले अध्याय में योग का स्वरूप तथा दूसरे में चित्त के स्वरूप का विवेचन है। तीसरे में क्लेशों का वर्णन है। चौथे अध्याय में द्रष्टा तथा दृश्य में विवेक किया गया है जो दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पाँचवें अध्याय में ईश्वर की स्वरूप विषयक धारणा स्पष्ट की गयी है। छठे और सातवें अध्यायों में योग-साधना के सोपानों तथा विभूतियों का वर्णन है। आठवे अध्याय में कैवल्य के स्वरूप का विश्लेषण है। अन्तिम अध्याय में (१) कर्मवाद, (२) परिणामवाद, एवं (३) स्फोटवाद के विषय में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु के मतों का संक्षिप्त किन्तु सुलझा हुआ अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

डॉ. पवन कुमारी की प्रस्तुत कृति शोध-ग्रन्थों के अन्तर्गत आती है। ध्यान से पढ़ने पर पता चलता है कि लेखिका ने बहुत ही परिश्रम तथा उत्तरदायित्व के साथ अपने कार्य को निभाया है, और उसमें सफलता भी प्राप्त की है। उन्होंने



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



अपने लगभग प्रत्येक कथन को योगदर्शन वाङमय में जहाँ-कहाँ उपलब्ध सन्दर्भों से मौलिक संस्कृत उक्तियों के आधार पर सम्पुष्टित किया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ दार्शनिक गवेषणा के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता है। हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थों की कमी रही है। डॉ. पवनकुमारी की प्रस्तुत कृति इस दिशा में सराहनीय योगदान है। सामान्य पाठक, विशेषज्ञ तथा विद्यार्थी सभी इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे ऐसा मेरा विश्वास है।

दर्शन विभाग, — विजयकुमार भारद्वाज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## ( २ )

Mishra, (Dr.) G N ; ONTOLOGY; : Rekha Mishra Mun. Block A–2–1, Tonca, Caranzalem, GOA– 403 002 (1985) Price Rs. 40/–

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने दार्शनिक समस्याओं के समाधानहेतु अपनाये गये विभिन्न दृष्टिकोणों का तार्किक परीक्षण करने का श्लाघ्य प्रयास किया है। लेखक के अनुसार दार्शनिक समस्याओं का समाधान ज्ञानमीमांसा, मूल्यमीमांसा और सत्तामीमांसा के माध्यम से प्राय. किया जाता है। प्रथम दो उद्देश्य–विधेय के द्वन्द्व पर आधृत तार्किक मार्ग हैं। ये उद्देश्य और विधेय की तार्किक कोटियों के माध्यम से विचारों में स्पष्टता और सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इनकी यही उपादेयता है।

किन्तु प्रायः देखा गया है कि ज्ञानमीमांसक और मूल्यमीमांसक, उदेश्य–विधेय को ज्ञाता और क्षेत्र बनाकर उनमें सत्ता का निवेश कर देते हैं। यह प्रयास दार्शनिक यथार्थवाद और विज्ञानवाद (Idealism) को पैदा करता है। जब विधेय को ज्ञेय बनाकर उसे सत्तात्मक मान लिया जाता है तो यथार्थवाद और जब उदेश्य को ज्ञाता बनाकर उसे सत्तात्मक मान लिया जाता है तब विज्ञानवाद का जन्म होता है। इस तरह लेखक के अनुसार यथार्थवाद और विज्ञानवाद सत्ता शास्त्र को ज्ञानमीसांसा या मूल्यमीमांसा के अन्दर लाने के प्रयास की दो अवैध जुड़वा सन्तानें हैं।

यथार्थवाद और विज्ञानवाद सत्ताशास्त्र न होकर उसके अभासमात्र हैं। ये सम्पूर्णसत्ता की पकड़ नहीं कर पाते। इनकी प्रथम भूल यह है कि ये उद्देश्य–विधेय की तार्किक या शुद्ध वैचारिक कोटियों को सत्ता की कोटियाँ मान लेते हैं। दूसरी भूल यह है कि ये सत्ता के दो विभिन्न पक्षों को सम्पूर्ण सत्ता मान लेते हैं। अतः ज्ञानमीमांसा और मूल्यमीमांसा के माध्यम से दार्शनिक समस्याओं का समाधान नहीं होता। दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिए ऐसा सत्ताशास्त्र चाहिए जो सम्पूर्ण सत्ता की पकड़ कर सके।

लेखक ने इस पुस्तक में ऐसे ही सत्ताशास्त्र की संरचना करने का प्रयास किया है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ४, अङ्क १, दिसम्बर, १९८२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



प्रथम अध्याय में सत्ताशास्त्र के प्रादुर्भाव और द्वितीय अध्याय में उसके विकास पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। सत्ताशास्त्र से च्युत होकर किस प्रकार दार्शनिक चिन्तन पथभ्रष्ट होकर यथार्थवाद और विज्ञानवाद के दलदल में फँस गया इसका लेखक ने तर्कसम्मत विवेचन किया है। तीसरे और चौथे अध्यायों में यथार्थवाद और विज्ञानवाद के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की गयी है। इन्हें तार्किक कसौटी पर कस कर अवैध सिद्ध किया गया है। पाँचवे अध्याय में उन हेगलोत्तर दर्शन-प्रणालियों का मूल्यांकन किया गया है जो यथार्थवाद और विज्ञानवाद का निरास या निलम्बन करके उनके परे जाने का प्रयास करती हैं। इनमें फ्रांसीसी मूल्यदर्शन, रोमैण्टिसिज्म, प्रैगमेटिज्म, बर्गसाँ और संघटनावाद का विशद विवेचन है। छठें अध्याय में यह दिखाया गया है कि अस्तित्ववाद ने यथार्थवाद और विज्ञानवाद से ऊपर उठकर शुद्ध सत्ताशास्त्र की संरचना करने का सशक्त प्रयास किया किन्तु सफल न हो सका। अस्तित्ववाद पर लेखक की अच्छी पकड़ दीख पड़ती है। अच्छा होता कि वे थोड़ा और गहराई में उतर गये होते। किन्तु शायद अन्य अस्तित्ववादियों की चर्चा यहाँ संगत व आवश्यक नहीं थी। सातवे अध्याय में लेखक ने सत्ताशास्त्र पर किये जाने वाले प्रहारों व आक्षेपों का क्रमवद्ध जबाब दिया है। अन्तिम दो अध्यायों में सत्ताशास्त्रीय अनेक समस्याओं का तर्क-सम्मत विश्लेषण किया गया है।

लेखक ने विवेच्य विषय को अत्यन्त परिमार्जित भाषा और सुव्यवस्थित शैली में प्रस्तुत किया है। सत्ताशास्त्र की वैधता, अनिवार्यता तथा उपादेयता की प्रतिष्ठापना के लिए दिये गये तर्क बड़े सशक्त और सुसंगत हैं। विभिन्न दार्शनिक समस्याओं के लिये सुझाये गये समाधान दार्शनिक चिन्तन को नई दिशा देते हैं।

दर्शन विभाग
सेण्ट झैवियर्स कोलेज
मापसा, गोआ

— सुधा नारवेकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



## (३)

डा. योहन फ़ाइस, एस. जे.; **ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धान्त;** राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, ए–२६–२ विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर–३०२००४, पृष्ठ २+५+२६४, मूल्य : २५ रुपये

**ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धान्त** इस विषय पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में संभवतः प्रथम अधिकारिक प्रयास है। लेखक ने एक ईसाई होते हुए भी विषय प्रतिपादन में जिस दार्शनिक वस्तुनिष्ठता का परिचय दिया है, वह दर्शन के अध्येताओं के लिए वंदनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है। यों तो लेखक ने पुस्तक को नौ अध्यायों में विभाजित किया है, लेकिन वस्तुतः पुस्तक के दो खंड हैं– १ से ५ अध्याय तक में ईसाई धर्म और दर्शन का प्रामाणिक इतिहास है, एवं ६ से ९ अध्याय में दर्शन के चार केन्द्रीय विषयों– 'मानव', 'ईश' और 'नैतिकता' एवं 'धर्मदर्शन' की व्याख्या की गयी है। इसलिये यह पुस्तक न तो विशुद्धतः 'ईसाई दर्शन का इतिहास' रह सका, न 'ईसाई दर्शन', या यों कहें कि सामान्य अध्ययन के लिये इसमें उन्होंने मणि-कांचन का संयोग बिठाया है। भारत में जहां ईसाई धर्म विश्व के अनेक ईसाई देशों की अपेक्षा अधिक व्यापक है और उसके अनुयायियों की संख्या १ करोड़ से भी अधिक है, वहीं के शिक्षित समुदाय के लिये आवश्यक है कि वे ईसाई-दर्शन के इतिहास के साथ-साथ उसकी दार्शनिक परंपरा का भी ज्ञान प्राप्त करें। इस दृष्टि से इस ग्रंथ की विशेष उपयोगिता है। इतिहास और परम्परा के अभाव में दर्शन को सम्यक रूप से समझा भी नहीं जा सकता, क्योंकि दर्शन शून्य से तो उद्भूत नहीं होता है।

पुस्तक के 'इतिहास खंड' में प्रथम बाइबिल पूर्वार्द्ध की मुख्य धारणाओं का प्रतिपादन दार्शनिक रीति से किया है, जिसमें (१) मूल तत्व : परमेश्वर, मानव और जगत्, (२) परमेश्वर की ओर से प्रकटन, (३) मुक्तिकार्य की व्याख्या है। ईश्वर के सम्बन्ध में लेखक का यह निष्कर्ष कि "व्यावहारिक एकेश्वरवाद से क्रमशः सैद्धान्तिक एकेश्वरवाद उत्पन्न हुआ" (पृ–४) उपयुक्त है। ईश्वर "मुक्तिकार्य एवं सृष्टिकार्य दोनों में प्रभावशील है" (पृ–५), इसी तरह मानव की ईश्वर से अनुरूपता के भी लेखक ने दो अच्छे कारण बताये हैं (पृ–८) तथा 'लिंगप्रभेद सृष्टिकार्य का परिणाम मात्र है, उसका कारण नहीं' (पृ–६) कहकर मौलिकता का परिचय दिया है। जगत् के विषय में बाइबिल की धारणा को लेखक 'वैज्ञानिक नहीं, धार्मिक' बताकर एक सम्प्रदाय– निरपेक्ष चिंतक का



RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



परिचय देते हैं (पृ-११)। 'प्रकाशना' के विषय में 'मानव की ईश्वर से एकता' (पृ–१३) बताकर सचमुच लेखक ईसाई-दर्शन को भारतीय भक्ति के सायुज्य, सामीप्य आदि सिद्धान्तों के पास लाता है। इसी संदर्भ में 'लोकातीतत्व अन्तर्यामिता का अपवर्जन नहीं करता है, उसी प्रकार शाश्वतत्व कालक्रम से असम्बद्ध नहीं है' (पृ. १९) कहकर वह एक बड़ी दार्शनिक गुत्थी को सुझलाता है। 'मुक्तिकार्य को एक सामाजिक कार्य मानना' (पृ. २०) यही एक नयी उद्भावना है। अभी तक लोगों का ख्याल था कि भक्ति एवं मुक्ति व्यक्तिगत होती है। प्रल्हाद, श्री अरविन्द आदि भी सामूहिक–मुक्ति की बात करते हैं। 'बाइबिल के अनुसार अशुभ का मूलस्रोत पाप है' (पृ. २२) और 'परमेश्वर से अभिन्न हो जाने का अभिमान ही पाप की जड़ है' (पृ. २३)। बाइबिल का नवविधान पूर्वविधान का संपूरक है और तदनुसार पूर्वार्द्ध उत्तरार्ध के अभाव में अपूर्ण होता है (पृ. १७)। पूर्वविधान के उपसंहार में लेखक ने मुक्तिकार्य को संकट से उत्पन्न (पृ. २९) मानकर इब्रानी धर्म के सामाजिक एवं अनुभवात्मक पहलू पर जोर दिया है। (पृ. ३०)।

दूसरे अध्याय में उत्तरार्ध की मुख्य धारणाओं (पृ ३१-६१) की व्याख्या करते हुए 'ईसाई धर्म में विश्वास या आस्था के विशेष महत्व' को लेखक ने स्वीकार किया है। इसके अन्दर 'त्रियेक ईश्वर', 'मुक्तिकार्य' एवं 'ईसाई धर्म' पर प्रकाश डाला गया। "जिस प्रकार इब्रानी धर्म का मूल सिद्धान्त एकेश्वरवाद माना जा सकता है, उसी प्रकार ईसाई धर्म का आधारभूत विश्वास है ईसा मसीह का ईश्वरत्व" (पृ. ५६)। इसके लिये लेखक ने कुछ सुंदर उक्तियां भी दी हैं। (पृ ६०)।

'पूर्वाचार्यों के युग' (पृ. ६२-८५) के उपसंहार में लेखक ने यह स्वीकार किया है कि 'बाइबिल में दर्शनशास्त्र का अभाव है' (पृ, ८४), 'यद्यपि दार्शनिक निहितार्थ उसमें अनुपलब्ध नहीं हैं, तथापि अव्यक्त रूप से ही मिलते हैं' (पृ. ८४)। ईसाई दर्शन शामी और यूनानी विचारधाराओं का संगम है और ईसाई दर्शन का धार्मिक पहलू उसे एक अदार्शनिक परम्परा यानी बाइबिल संस्कृति से मिला है। इस अध्याय में बहुत से संक्षेप में लेखक ने संत युस्तीन, तेरतुल्यन, ओरिजेन, संत ग्रेगरी, अगस्तीन, छद्म-दियोनिसियुस, अरेओपागीता, आदि के विचारों का उल्लेख करते हुए त्रियेक ईश्वर एवं ईश-मानव की व्याख्या की है।

चतुर्थ अध्याय में मध्यकालीन ईसाई दर्शन-शास्त्र (८६-१३) में जान स्कोतुस सरिउजेना (८१०-८७०), संत अंसेल्म (१०३३-११०६), संत बोनावेंतूरा (१२२१-१२७८), संत थोमस अक्वीनो (१२२४-१२७४), जान उंस स्कोतुस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



(१२८५-१३०८), औखैम (१२६०-१३४६) और फ्रान्सिस सुआरेस (१५४८-१६१७) के दर्शन की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत करते हुए लेखक ने यह स्वीकार किया है कि 'ईसाई दर्शन के निर्माण में यूनानी दर्शन का बहुत योगदान रहा है' (पृ ११२)। मध्यकाल के ईसाई दर्शन का आधार यूनानी दर्शन एवं बाइबिल परम्परा है। "ईसाई धर्म यूनानी दर्शन को अपनाने में समर्थ सिद्ध हुआ है" लेखक का यह निष्कर्ष बहुत अंश में सही ही है, लेकिन पूर्णतः नहीं।

इतिहास खंड के पंचम एवं अंतिम अध्याय 'आधुनिक और समकालीन ईसाई दर्शन-शास्त्र" (पृ. ११४-१३६) में लेखक ने विश्लेषणात्मक ढंग से एक ओर आधुनिक दार्शनिकों जैसे देकार्त (१५६६-१६५०), बर्कले (१६८५-१७५३), कांट (१७२४-१८०४) एवं हीगेल (१७७१से-१८३१) का प्रभाव दिखाया है; दूसरी ओर ईसाई दर्शन के प्रतिनिधि : बुद्धिवादी युग के दो धार्मिक विचारकों अर्थात् पास्कल (१६२३-१६६२) एवं मलब्रांच (१६३८-१७१५), न्यूमैन (१८९१-१८६०), किर्कगार्ड (१८१३-१८५५) तथा ब्लांदेल (१८६१-१९४९), लाबेरथोन्येर (१८६०-१९३२), मून्येर (१९०५-१९५०), मारितें (१८८२-१९७३), जीलसों (१८८४-१९७८), मारेशल (१८७८-१९४४), मार्सेल (१८८४-१९७३), एवं तैयार दि शार्दे (१८८१-.९५५) के दर्शन का दिग्दर्शन कराया है। अच्छा होता यदि लेखक दो पुस्तकें लिखते ..एक इतिहास के लिए, दूसरी दर्शन के लिये। असल में लेखक का मानना है कि 'संस्कृति एवं धर्म भी दर्शन पर अपना प्रभाव डालते हैं' (पृ. १३७)। मध्यकाल में सामान्य संस्कृति ईसाई ही थी, लेकिन पुनर्जागरण से संस्कृति में विविधता होने लगी। आधुनिक दर्शन की विशेषता– दृष्टिकोण, शैली या प्रणाली की विविधता से ईसाई दर्शन भी प्रभावित हुआ (पृ. १३८)। वर्तमान युग की धर्मनिरपेक्षता के अलावा धर्म और दर्शन-शास्त्र के प्रभेद को लेखक ईसाई दर्शन की आभासी कमी का एक कारण कहते हैं और यह मानते हैं कि वे विचारक धर्मशास्त्री और दार्शनिक दोनों ही थे।

पुस्तक का दूसरा खंड विशुद्ध दर्शन से सम्बन्धित है जिसमें धर्म-दर्शन के अतिरिक्त मानव, ईश एवं नीतिशास्त्र, ये तीन ही अध्याय हैं। मेरी समझ से, ईश जगत् एवं मानव, ये तीन अध्याय जरूरी हैं, फिर नीतिशास्त्र को भी शामिल कर लिया जा सकता था। मानव-दर्शन का सारांश व्यक्ति-प्रत्यय में निहित है (पृ. १६४)। इसमें मानव की व्यक्तित्व की दृष्टि से (पृ. १४१-१४५), मानव की विशिष्ट क्रियाओं (१४५-१५४), अर्थात् ज्ञान एवं संकल्प की और अंत में मानव : स्वभाव, उत्पत्ति और अमरता (१५४-१६४) की व्याख्या हुई है। ईसाई दर्शन के अनुसार मानव का सम्बध परम तत्त्व से है। ससीम ज्ञान असीम का बोध करना चाहता है; संकल्प भी सापेक्ष शुभ से निरपेक्ष शुभ की ओर बढ़ना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2



चाहता है। मानव की मूलभूत प्रवृत्ति परम तत्त्व की ओर संकेत करती है (पृ. १६५)।

ईश-दर्शन (सप्तम अध्याय, १६६-१९१) में परम तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान, सृष्टिवाद, एवं ईश्वरवाद के प्रतिपादन की सामग्री प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने सृष्टिवाद को ईश्वर-टर्शन का मूलाधार माना है। लेकिन लेखक ने 'शून्य से सृष्टि' के भ्रामक सिद्धान्त की बड़ी ही मनोरम दार्शनिक व्याख्या की है–'सृष्टि के सम्पूर्ण प्रागभाव की स्थिती में सृष्टिकर्ता ने उसकी संपूर्णता की सृष्टि की है' (पृ. १९०)। लेखक के अनुसार 'ईश-दर्शन' 'ईसाई-दर्शन' कहा जा सकता है (पृ. १९१)।

"नीतिशास्त्र" शीर्षक अष्टम अध्याय में सामान्य नीतिशास्त्र, (१९३-२०३) विशेष नीतिशास्त्र (२०३-२०६) एवं ईसाई नीतिशास्त्र की विशेषता (२०६-२१६), का वर्णन किया गया है। लेखक के अनुसार हमारा धर्म मानव केन्द्रित ही है, जिसे उन्होंने 'स्वभावगत धर्म' माना है (पृ. २१६)। मानवकेन्द्रित होते हुए भो ईसाई नीतिशास्त्र निरीश्वरवादी नहीं है। इस आपत्ति का कि 'दार्शनिक नीतिशास्त्र ईसाई नीतिशास्त्र कैसे हो सकता है?' लेखक ने बड़ा ही अच्छा उत्तर दिया है– 'बौद्धिक अनुसंधान का परिणाम होकर दर्शन पर आश्रित नीति किसी एक धर्म की विशेषता नहीं है" (पृ. २१७)। ईसाई नोतिशास्त्र का सब से बड़ा मूल्य लेखक ने 'प्रेम' को माना है, जो ईसाई धर्म के अनुकूल है। (पृ. २१७)।

अंतिम अध्याय में **धर्म-दर्शन** (२१८-२४४) में लेखक ने कलीसिया तथा उसका अन्य धर्मों से सम्बन्ध बताते हुए 'साधना और सिद्धि' में आध्यात्मिक जीवन, समाधि एवं सिद्धि की चर्चा की है। 'धर्म-प्रचार और मुक्ति को परस्पर घनिष्ठ' (पृ. २३३) बताया गया है, जो मुझे आत्मविरोधी लगता है। सत्य का दर्शन सब अपने पुरुषार्थ से करें, फिर सत्य पर पहुंचने के अनेक रास्ते हैं, अतः धर्म-प्रचार का आग्रह साम्प्रदायिक साम्राज्यवाद को जन्म दे सकता है। 'सत्य' से तात्पर्य धर्म विशेष के अनुयायियों द्वारा स्वीकृत धर्म-सिद्धान्तों का सही अर्थ ही है (पृ. २४४), लेखक की यह उक्ति हमारे विचार को समर्थन ही देती है।

जो भी हो, लेखक का परिश्रम और उसकी दार्शनिक तटस्थवृत्ति अपूर्व हैं। 'ग्रंथ-सूची' और 'अनुक्रमणिका' (२५७-२६८) देकर तो लेखक ने इसे शोधकार्य के लिये उपयोगी बना दिया है।

दर्शन विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय
भागलपुर

– रामजी सिंह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

## साभार अभिस्वीकृति

Mishra, G. N.; ONTOLOGY; 1985, Rekha Mishra, Karangalem, Goa; pp 165 Rs. 40/–

फाइस, योहन; ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धान्त; १९८२, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर; पृ. ५+३+२६८ मूल्य रु. २७-७५

आचार्य, नन्दकिशोर; जल है जहाँ; १९८०, सूर्यप्रकाश मन्दिर, बीकानेर; पृ. ९०. मूल्य रुपये : २०–००

योगमुद्रानन्द सरस्वती; दमा और मधुमेह में योग का अभ्यास; १९८०, बिहार योगविद्यालय, मुंगेर; पृ. १९७; मूल्य रु. २०–००

श्रीवास्तव, प्रकाश (संपा.); दो कदम और; १९८२, सन्तुलन साहित्य संस्थान, वाराणसी; पृ. ३२ मूल्य रु. २–००

वर्मा, रवीन्द्र; नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियाँ; १९८१, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल; पृ. २६३, मूल्य रु. १५–००

स्मेकल, ओदोलन; मेरी प्रीत तेरे गीत; १९८२, श्री शान्तिकुंज प्रकाशन, दिल्ली; पृ. १४८, मूल्य रु. ५०–००

सत्यानन्द परमहंस; योग तरी तीरे-तीरे; १९७६, बिहार योगविद्यालय, मुंगेर; पृ. १८५, मूल्य रु. ३०–००

दिगे अ बं.; जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन; १९८१, सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति, अमृतसर; पृ. २+१४+४+४+२५६+१६; सजिल्द' मूल्य रु. ३०–००

## आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

३२. श्रीमती सुमन गुप्ता
१३५।४, आई. ए. टी.
गिरीनगर, पुणे– ४११ ०२५

३३. प्रा. श्रीमती मीनाक्षी देसाई
५, जोग महाल
ठाकुरद्वार, बम्बई– ४०० ००२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

---

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

---

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

---

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगेजी ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

# परामर्श ( हिन्दी )


| | |
|---|---|
| पृथ्वीनाथ शास्त्री | समूह और शक्ति |
| मो. प्र. मराठे | दर्शन : एक दृष्टिकोण |
| कैलासपति मिश्र | व ीर शैव दर्शन में अशुभ की समस्या |
| सुरेन्द्र वर्मा | मिथक का अर्थ |
| तुलसीराम शर्मा | स्वभाववाद एवं उसका विश्लेषण |
| विजयकुमार सिन्हा | सत्तामूलक तर्क : एक अस्तित्वपरक मूल्यांकन |
| उर्मिला चतुर्वेदी | विशिष्टाद्वैत दर्शन में आराधना का स्वरूप |
| सुरेशकुमार थोरात | क्या संवेदनों का अस्तित्व है ? |
| राजमल बोरा | भाव और उद्वेग |
| | ग्रन्थ-समीक्षाएँ |


RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: IKS-MoE Grant

Digitized by Siddhanta eGangotri Gyaan Kosh. Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon